प्रकाशक :
भारती भवन, पटना-४

मुद्रक :
भुवनेश्वरी प्रसाद सिन्हा
रतन प्रिंटिंग प्रेस, पटना-४

मूल्य : ६·००

काव्यशास्त्र

के

मर्मज्ञ

श्रद्धेय डॉ० नगेन्द्र

को

सादर

परिचय

भारतीय काव्यशास्त्र में अलंकार केवल सौन्दर्य-विधायक सामान्य उपकरण न होकर स्वतंत्र काव्य-सम्प्रदाय के रूप में स्वीकृत रहा है। अलंकार-विधान कवि की परम सिद्धि माना जाता रहा है। संस्कृत तथा हिन्दी के काव्य-शास्त्रियों द्वारा अलंकार-निरूपण के लिए अनेक ग्रंथों का प्रणयन इस तथ्य का प्रमाण है कि अलंकार काव्य का मूलभूत तत्त्व होने के कारण जटिल एवं दुर्बोध विषय है। आधुनिक काल के लेखकों ने अलंकार को केवल परिभाषित करके सन्तोष नहीं किया वरन् उसे विशद रूप से विवृत करने के लिए आलोचक दृष्टि से भी निरूपित किया है। श्री कन्हैयालाल पोद्दार तथा श्री रामदहिन मिश्र के ग्रंथ इस दिशा में स्तुत्य प्रयास हैं। उसी परम्परा में श्री मुरली मनोहर प्रसाद सिंह का 'अलंकार-मीमांसा' वैज्ञानिक एवं शोध-दृष्टि से लिखा गया एक सर्वांगपूर्ण विवेचन प्रस्तुत करने वाला ग्रंथ है।

अलंकार के उत्कर्ष और महत्त्व का विधान तो संस्कृत तथा हिन्दी के आचार्य कवियों ने भी किया था किन्तु अलंकार का अन्य काव्योपकरणों से पार्थक्य एवं साम्य आदि का निरूपण पूर्णरूपेण प्रस्तुत नहीं कर सके थे। इस ग्रंथ में लेखक ने उन सभी विषयों का समाहार किया है जो अलंकार के परिवेश में महत्त्व रखते हैं। अलंकार संप्रदाय-प्रवर्त्तन, अलंकारों की संख्या तथा वर्गीकरण, रस और अलंकार, सादृश्य-विधान और अलंकार आदि विषयों की मीमांसा विवेचनीय एवं पठनीय है। अलंकार-निरूपण में वैज्ञानिक प्रक्रिया से उनके स्वरूप-विधान के लिए यथार्थ परिभाषा, उदाहरण तथा अन्य समान अलंकारों से व्यावर्त्तन आदि का यथास्थान उल्लेख कर ग्रंथ को उपादेय बना दिया गया है। मुझे विश्वास है कि इस ग्रंथ के माध्यम से अलंकारशास्त्र के अध्ययन-अध्यापन में बहुत सहायता प्राप्त होगी।

राणा प्रताप बाग,
दिल्ली–६
१७-७-'६४

—डॉ० विजयेन्द्र स्नातक,
रीडर, हिन्दी-विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय

भूमिका

हिन्दी में अलंकार-सम्बन्धी पुस्तकों की कमी नहीं है, किन्तु ऐसी पुस्तकों का नितान्त अभाव है जिनमें अलंकार, गुण, रीति, वक्रोक्ति, शब्द-शक्ति, प्रतीक आदि के पारस्परिक योगायोग का विश्लेषण किया गया हो। इस दृष्टि से यह पहली पुस्तक है।

बँगला में ऐसी कई पुस्तकें हैं। बँगला पुस्तकों की सहायता से मेरे विवेचन में शायद पूर्णता आयी है।

'५९ में आचार्य नलिन विलोचन शर्मा के व्याख्यानों से अलंकार पर पुस्तक लिखने की प्रेरणा मिली थी। तब से ही मैं तरह-तरह की योजनाएँ बनाता रहा और अंत में मोहित बाबू की सहृदयता के कारण ही यह पुस्तक लिखी जा सकी।

इस पुस्तक के कुछ अंश श्री राम खेलावन राय, अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग, साइंस कॉलेज, पटना विश्वविद्यालय ने देखे और उन्होंने मेरा उत्साह बढ़ाया। उनके बाद पुस्तक की योजना के सम्बन्ध में डॉ० वासुदेव नन्दन प्रसाद से भी बातचीत हुई। वासुदेव बाबू ने अपना अमूल्य समय देकर पुस्तक की रूपरेखा बनाने में मेरी सहायता की, इसके लिए मैं उन्हें धन्यवाद देकर भी उऋण नहीं हो सकता। मैं अपने मित्र श्री विजेन्द्र नारायण सिंह, श्री खगेन्द्र प्रसाद ठाकुर और श्री केदार नाथ कलाधर को भी धन्यवाद देता हूँ, जिनके सहयोग से ही पुस्तक तैयार हो सकी।

श्री कान्ति मोहन शर्मा को कभी नहीं भूल सकता, जिन्होंने मेरे आलस्य पर क्रूर प्रहार किये हैं।

दिल्ली–६
१५-७-६४

मुरली मनोहर प्रसाद सिंह

विषय-सूची

पृष्ठ-संख्या

अलंकार-युग्मों का तुलनात्मक विवेचन

अलंकार : लक्षण-निरूपण

भारतीय काव्यशास्त्र में अलंकारों का अपना विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण स्थान है। साहित्य में अभिव्यक्ति के अलंकरण की मूल शक्ति के रूप में अलंकारों की महत्ता तो बहुत प्राचीन काल से मानी जाती रही है। पर कुछ आचार्यों ने अलंकारों के वैशिष्ट्य को ध्यान में रखकर अलंकार-संप्रदाय की ही स्थापना कर दी थी।

'अलंकार' शब्द की व्युत्पत्ति पर जरा ध्यान देने की आवश्यकता है। 'अलम्' शब्द का अर्थ है—भूषण। जिसके द्वारा अलंकरण होता है, वही अलंकार है।

जिस प्रकार हारादि भूषण नायिका के प्रकृत कमनीय रूप और सौन्दर्य की शोभावृद्धि के उपकारक होते हैं, उसी प्रकार उपमादि अलंकार काव्य की रसात्मकता के उत्कर्ष-विधायक होते हैं।

वास्तविकता तो यही है कि अलंकार हमारी भाषा में जीवन भरते हैं; एक प्रकार के ताप का संचार करते हैं; हमारे मंतव्य को प्रभविष्णु तथा प्रभावोत्पादक बनाते हैं। हमारे कथ्य को ज्यादा स्पष्टता, बारीकी और शक्ति के साथ संप्रेषित करने की क्षमता, हमारी भाषा में भरने वाले, ये अलंकार ही हैं। "काव्य में रमणीयता और चमत्कार का उद्रेक करने के हेतु अलंकारों की स्थिति आवश्यक है, अनिवार्य है।"

अलंकार के सम्बन्ध में विभिन्न आचार्यों और समालोचकों ने जो लक्षण-निरूपण किया है, उसे ध्यान से देखने की तथा उस पर पुनर्विचार करने की आवश्यकता है।

यूनानी काव्यशास्त्र के अनुसार अलंकार उन अभिव्यक्ति-शैलियों का नाम है, जिनके द्वारा वक्ता अपनी इच्छा के अनुसार, श्रोता के मन में अनुकूल प्रतिक्रिया जगा देता है तथा अपने विचारों का समर्थन प्राप्त करता है। भारतीय काव्यशास्त्र में अलंकार-संप्रदाय के आदि आचार्य भामह (७वीं शताब्दी) ने सारे अलंकारों में वक्रोक्ति की ही व्याप्ति बतलायी और वक्रोक्ति को सभी अलंकारों का आश्रय सिद्ध किया। वक्रोक्ति का कठोर पक्ष उन्होंने इसलिए ग्रहण किया चूंकि वह स्वीकार करते थे कि वक्रोक्ति कोई अलंकार-विशेष नहीं है, कि व्यापक रूप से सारे-के-सारे अलंकारों की प्राणभूत अतिशयोक्ति है, कि अलंकार ऐसी शब्दोक्ति है जो वक्रार्थ का विधायक हो, कि अर्थ को विभामय करने की सारी विधाएं वक्रोक्ति में ही अवस्थित होती हैं।

भामह के पश्चात् काव्यादर्श के रचयिता आचार्य दण्डी आते हैं। उनके अनुसार जो सकल धर्म काव्य की शोभा के जनक हैं, उन्हें अलंकार कहते हैं— "काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते।"—(काव्यादर्श)

दण्डी के मंतव्य में अलंकार काव्य के शोभाकर धर्म हैं। दण्डी के समर्थक टीकाकारों ने गुणादि को भी अलंकार के ही अन्तर्गत परिगणित कर लिया। कारण

देते हुए उनलोगों ने बतलाया कि गुणादि भी आखिर स्वरूपतः काव्यसौन्दर्य का ही तो संपादन करते हैं।

इस विवादपूर्ण और आलोच्य विषय पर उज्ज्वल आलोकपात किया है वामनाचार्य ने। अलंकार की संज्ञा के सम्बन्ध में उन्होंने बतलाया—"काव्य सौन्दर्य ही अलंकार है।"—"सौन्दर्यमलंकारः।"—(काव्यालंकार)

उनके अनुसार अलंकृति मात्र अलंकार है। करणवाच्य में व्युत्पत्ति करने से इस अलंकार शब्द से ही उपमादि का ज्ञान होता है। यद्यपि दण्डी ने अलंकार को ही काव्य के शोभाकर धर्म के रूप में दिखलाया था, किन्तु आचार्य वामन उनके मत का विरोध करते हुए कहते हैं कि गुण ही काव्य के शोभाकर धर्म हैं; अलंकार काव्य की शोभा के कर्त्ता नहीं हो सकते, अतिशयता भले ही हो सकते हैं।

डॉ० सुधीर कुमार दासगुप्त ने अपनी बँगला पुस्तक 'काव्यालोक' में यह स्पष्ट किया है कि वामन अपनी वृत्ति में अलंकार शब्द के द्विविध अर्थ की ओर इंगित करते हैं। इसका सामान्य या साधारण अर्थ है—काव्य में चाहे जिस किसी भी प्रकार का सौन्दर्य हो, तथा विशेषार्थ है उपमा प्रभृति विशेष प्रकार का सौंदर्य। दण्डी ने भी अपने सूत्र में शोभाकर धर्म को सौंदर्यवाचक के रूप में ही प्रस्तुत किया है। दण्डी भी वहाँ साधारण और विशेष— दोनों प्रकार की शोभा की बात करते हैं। निःसन्देह, साधारण सौन्दर्य का अर्थ है, काव्य का आत्मभूत सौन्दर्य तथा विशेष प्रकार का सौन्दर्य आत्मभूत भी हो सकता है तथा बहिरंगभूत भी हो सकता है। वामन के प्रथम सूत्र से यह स्पष्ट होता है कि वह काव्य के आत्मभूत सौन्दर्य की ही बात करते हैं—"काव्य तो सबके लिए ग्राह्य या उपादेय है, क्यों नहीं, चूँकि वहाँ अलंकार है।" ("काव्यं ग्राह्यमलंकारात्।") वामन के प्रथम और द्वितीय सूत्र के गुंफन-मिश्रण से हम यह अर्थ निकाल सकते हैं— "सौन्दर्य है, इसलिए काव्य सबके लिए उपादेय है।" दूसरे ढंग से भी इसे कह सकते हैं— "काव्य का उपादेय स्वरूप है सौन्दर्य।" बात स्पष्ट है कि **वामन के अनुसार गुण काव्य में काव्यत्व लाने वाला धर्म है; अलंकार काव्य में उत्कृष्टता लाने वाला धर्म।**

टीकाकार श्री गोपेन्द्र तिप्प भूपाल ने कामधेनु टीका में कहा है कि गुण-समूह काव्य की आत्मभूत रीति में समवायवृत्ति से स्थित है एवं अलंकार-समूह शरीर-भूत शब्दार्थ में संयोग-वृत्ति से अवस्थित है। समवाय-वृत्ति नित्य है, अविच्छेद्य है; संयोग-वृत्ति अनित्य है, छेदन-योग्य है। इसलिए अनुप्रास-उपमा-प्रभृति अलंकार कटक-कुंडलादिवत् देह के अस्थिर, अनित्य एवं आरोप्य धर्म हैं।

रुद्रट के अनुसार "अभिधान के—कथन के प्रकार-विशेष अथवा कवि-प्रतिभा से प्रादुर्भूत कथन-विशेष ही अलंकार हैं।" रुद्रट के मत को ही अन्य ढंग से उपस्थित करते हुए वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक ने कहा—"विदग्धों की कथनभंगी ही वक्रोक्ति है और वही अलंकार है।"

ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने कुन्तक के मत का पूर्व-रूप दसवीं सदी में ही

उपस्थित कर दिया था—

"वाग्विकल्प अनन्त प्रकार के होते हैं—और अलंकार उन्हीं में से एक प्रकार है।"

वामन के मत का आश्रय ग्रहण करते हुए ११वीं सदी के आचार्य मम्मट ने गुण को काव्य का नित्य धर्म माना है और अलंकार को काव्य का अनित्य धर्म।

यह कुछ आश्चर्य का विषय है कि ध्वनिकार आनन्दवर्धनकृत अलंकारों की चामत्कारिक व्याख्या के बाद भी दसवीं सदी में राजशेखर और चौदहवीं सदी में विश्वनाथ ने अलंकार को शब्दार्थ का बहिर्भूषण कहकर वर्णित करने में रंचमात्र द्विधा का अनुभव नहीं किया।

पश्चात् जयदेव ने मम्मट के मत का प्रत्याख्यान किया है और कहा है कि अलंकार के बिना कविता वैसी ही है, जैसे उष्णता के बिना अग्नि—"असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती।" —(चन्द्रालोक)। विश्वनाथ ने तो स्पष्ट होकर कहा था—

"शब्द और अर्थ के शोभातिशायी अर्थात् सौन्दर्य की विभूति के बढ़ाने वाले धर्म ही अलंकार हैं।"

अब प्रश्न उठता है कि अगर अलंकार देह का बहिःप्रसाधन है, ऊपरी सज्जा और अलंकरण है, तो उसे खोलकर बाहर हटा देने के बाद क्या काव्य का काव्यत्व अक्षुण्ण रहता है? काव्य का प्राणभूत और स्वरूपभूत सौन्दर्य क्षुण्ण होता है कि नहीं?

विश्वनाथ ने जिस समय कहा— 'रसादीन उपकुर्वन्तः' यानी रसों का उपकार करने के लिए ही अलंकार अवस्थित रहते हैं, वहाँ यह समझना आसान है कि अलंकार जहाँ रसादि की पुष्टि के लिए ही रहता है, तो वहाँ अलंकार केवल बाहर का आरोपित सौन्दर्य ही नहीं होता।

बँगला पुस्तक 'काव्यालोक' के रचयिता डॉ० सुधीर कुमार दासगुप्त ने यहाँ अच्छी टिप्पणी दी है। उनके अनुसार असल भ्रम उत्पन्न होता है, अलंकार को शब्दार्थ से एकदम पृथक् करके विचार करने के कारण। अलंकारों का अलंकारत्व है शब्दार्थ के साधन से बने हुए शब्दार्थ के ही उपादान द्वारा। वस्तुतः अलंकार जहाँ काव्य के सुष्ठु, सुन्दर और कमनीय रूप का जनक है, वहाँ वह काव्य के शरीर में शब्दार्थ का ही अभिन्न रूप है। उस रूप का परित्याग करने से रस अभिव्यक्त नहीं हो सकता। जहाँ अलंकार की स्थिति है और काव्य भी विभूति-संपन्न होकर रस-निष्पत्ति में पूर्णता प्राप्त करता है, वहाँ अलंकार काव्य के आस्वाद में काव्य की ही अभिन्न सत्ता है; अन्ततः, उत्तम काव्य से अलंकार को विच्छिन्न करने पर काव्य की सजीवता भी छिन्नमूल हो जाती है; काव्य का काव्यत्व अक्षुण्ण नहीं रह पाता। अलंकार के रहने से काव्य का रूप ही होता है रूपमय; उसे हटा लेने पर रूप ही अंतर्हित हो जायगा, उस समय काव्य हो उठेगा रूपहीन रसहीन तत्त्व या तथ्य-मात्र। इसलिए श्रेष्ठ काव्य में वाच्य और अलंकारों में कोई भेद नहीं होता; कवि की रसाभिव्यक्ति

की भाषा अर्थात् भावों के रूपों का अंगलाभ करना ही प्रकृत अलंकार है। इसी बात का स्पष्टीकरण ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने अपने ढंग से किया है—

"रस-कर्तृक-आक्षिप्त या आकृष्ट होने से जो रचना संभव होती है, रसों के साथ एक ही बार के प्रयत्न में जो सम्पन्न या सिद्ध होता है, वही ध्वनिशास्त्र में अलंकार के रूप में स्वीकृत होता है।"

"रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियोभवेत्।
अपृथग्-यत्न-निर्वत्यः सोऽलंकारो ध्वनौ मतः॥" —(ध्वन्यालोक)

ऊपर के उद्धरण में ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने अलंकार के दो लक्षणों का संकेत किया है। पहला लक्षण है—रसाक्षिप्तता और दूसरा लक्षण है—अपृथग्यत्न-सम्पाद्यता।

आनन्दवर्धन की वैज्ञानिक अंतर्दृष्टि का विश्वास है कि अलंकार रसों के द्वारा आकृष्ट होते हैं, आक्षिप्त होते हैं। रस स्वयं को मूर्त्त करने के प्रयत्न में, रूप-सृष्टि के क्रम-पथ पर अलंकार को आकर्षित कर लेता है, अथवा रस जब रूप-परिणति प्राप्त कर रहा होता है तो अलंकार स्वतः स्फूर्त्त हो उठता है। अतएव महाकवि के लिए रस और अलंकार पृथक्-पृथक् प्रयत्न से अर्जित नहीं होते, बल्कि दोनों की प्राप्ति के लिए अपृथक् प्रयत्न करना होता है, एक ही प्रयत्न से दोनों की सिद्धि स्वतः हो जाती है। इसलिए श्रेष्ठ काव्य में वाच्य और अलंकार अभिन्न होते हैं, उपमादि अलंकार वाच्य-स्वरूप होकर रसमय रूप की सृष्टि करते हैं। इसीलिए आनन्दवर्धन कहते हैं—

"रसाभिव्यक्ति-व्यापार के क्रम में अलंकार-समूह काव्य का बहिरंग व्यापार नहीं होता।"

"न तेषां बहिरंगत्वं रसाभिव्यक्तौ।" —(ध्वन्यालोक)

भरत मुनि के अनुसरण-क्रम में अभिनवगुप्त ने बड़ी प्रामाणिक बात कही है। उनके अनुसार कविगत रस मूल बीज है; काव्य उसी बीज का महत्तर वृक्ष है। अतएव बीज जिस प्रकार स्वयं को प्रस्फुटित तथा परिस्फूर्त्त करने के आवेग में शाखा-पल्लव-पुष्प-फल-समन्वित वृक्ष की सृष्टि करता है, कविगत रस भी ठीक उसी प्रकार अपनी अभिव्यक्ति तथा सम्मूर्त्तन के आवेग में वाच्य-रीति-छन्द-अलंकारमय काव्य की रचना करता है। हिन्दी में रीतिकाल के आचार्यों ने अलंकार के लक्षण-निरूपण में मौलिक सूझ-बूझ का परिचय नहीं दिया। भामह के कथ्य का समर्थन करते हुए आचार्य केशवदास ने कहा—

"जदपि सुजाति सुलच्छनी, सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषण बिनु न राजई, कविता बनिता मित्त॥"

हिन्दी के आधुनिक समालोचकों में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अलंकार का

लक्षण-निरूपण करते हुए कहा है—

"वस्तु या व्यापार की भावना चटकीली करने और भाव को अधिक उत्कर्ष पर पहुँचाने के लिए कभी किसी वस्तु का आकार या गुण बहुत बढ़ाकर दिखाना पड़ता है, कभी उसके रूपरंग या गुण की भावना को उस प्रकार के और रूपरंग मिलाकर तीव्र करने के लिए समान रूप और धर्म वाली और-और वस्तुओं को सामने लाकर रखना पड़ता है। कभी-कभी बात को घुमा-फिरा कर भी कहना पड़ता है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न विधान और कथन के ढंग को अलंकार कहते हैं।"

फिर इसी मंतव्य को आचार्य शुक्ल पारिभाषिक शैली में प्रस्तुत करते हैं—"भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी-कभी सहायक होने वाली युक्ति अलंकार है।"

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भी अलंकारों को काव्य का अस्थायी धर्म ही मानते हैं, चूंकि ससंज्ञ भाव से उन्होंने 'कभी-कभी' शब्द का व्यवहार किया है। लेकिन कवि की सृजन-प्रक्रिया में अलंकार किस प्रकार अनिवार्य हो जाते हैं, स्वतःस्फूर्त्त हो उठते हैं, इस सम्बन्ध में सुमित्रा नन्दन पंत ने 'पल्लव' की भूमिका में कहा है—

"अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिए नहीं, वे भाव की अभिव्यक्ति के विशेष द्वार हैं। भाषा की पुष्टि के लिए, राग की परिपूर्णता के लिए आवश्यक उपादान हैं, वे वाणी के आचार, व्यवहार, रीति-नीति हैं; पृथक् स्थितियों के पृथक् स्वरूप, भिन्न अवस्थाओं के भिन्न चित्र हैं। वे वाणी के हास, अश्रु, स्वप्न, पुलक, हाव-भाव हैं।"

महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भी अलंकारों के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए कहा है—

"कथा के द्वारा जिसका वर्णन नहीं हो पाता, छवि के द्वारा उसे कहना पड़ता है। उपमा-रूपक आदि के द्वारा भाव-समूह प्रत्यक्ष होकर उठना चाहता है। चित्र एवं संगीत ही साहित्य के प्रधान उपकरण हैं। चित्र भाव को आकार देता है एवं संगीत भाव को गति प्रदान करता है। चित्र देह है एवं संगीत प्राण।"

शब्दालंकारों के द्वारा काव्य के प्राण-स्वरूप संगीत-धर्म की अभिव्यक्ति होती है और अर्थालंकारों के द्वारा काव्य के अंगभूत चित्र-धर्म की अभिव्यक्ति होती है। अलंकार काव्य के नित्य धर्म हैं, शर्त्त यह कि महाकवियों की अभिव्यक्ति में संयम हो। डा० राघवन के शब्दों में— "ऐसे अलंकार काव्य में बहिरंग नहीं समझे जा सकते और केवल कटक-केयूर की तरह पृथक् होने वाले आभूषणों से उनकी तुलना नहीं हो सकती। उनकी तुलना तो कामिनियों के उन अलंकारों से की जानी चाहिए, जिन्हें भरत ने सामान्याभिनय-प्रकरण में हाव-भाव आदि कहा है, कटक और केयूर नहीं।" (Some Concepts of Alankar Shastra, Page 51.)

काव्य में अलंकारों का स्थान और महत्त्व

काव्य में अलंकारों का महत्त्व प्रतिष्ठित करने के लिए अलंकार-संप्रदाय के आचार्यों ने काव्य की आत्मा के रूप में अलंकारों को ही स्वीकार किया था। इस संप्रदाय के प्रवर्त्तक, समर्थक और अनुवर्त्ती आचार्यों द्वारा जो अलंकार-विवेचन किया गया, वह विवादपूर्ण होते हुए भी रोचक है। अलंकार-संप्रदाय के आदि-प्रवर्त्तक भामह ने अलंकारों को ही काव्य का सर्वस्व माना। रस का उद्भव भी वह रसवत् नामक अलंकार से ही मानते हैं।

इन अलंकारवादी आचार्यों को जब रस और ध्वनि के प्रवर्त्तक आचार्यों ने पराभूत कर दिया, तो बहुत बाद में इनके नये समर्थकों का उद्भव हुआ। इनके नये समर्थक थे—जयदेव, विद्याधर, अप्पयदीक्षित और हिन्दी के आचार्य केशवदास। इन सब ने ध्वनि-सिद्धान्त के विरोध में एक बार फिर आन्दोलन खड़ा किया और काव्य में अलंकार की महत्ता स्थापित करने के लिए सबल प्रयत्न किया।

तीव्र जीवनानुभूति और निविड़ भावदशा के विशेष कोण को जब तक पाठकों की आँखों के आगे उपस्थित नहीं किया जाता, कविता का काम पूरा नहीं होता। इसलिए कविता में इन्द्रिय-संवेदनों, भावों और विचारों को रूपमय किया जाता है। अलंकार तो इन भावदशाओं के मुँहफट दृश्य की तरह होते हैं। अभिव्यक्ति की शक्ति से सर्वथा मुखर बने रहने में ही अलंकारों की सार्थकता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने बार-बार इस बात पर बल दिया था कि कविता में मात्र अर्थ-ग्रहण से काम नहीं चलता, बिम्ब-ग्रहण भी अपेक्षित होता है। ये अलंकार प्रकारान्तर से बिम्ब ही हैं। काव्य में अलंकारों की स्थिति वाच्य-रूप में भी हो सकती है और व्यंग्य-रूप में भी। प्रबुद्ध राग-संवेदना के पाठकों के लिए अलंकार तभी सार्थक होते हैं, जब वे व्यंग्य-रूप में आते हैं। कविता में, सादृश्य-कल्पना को अभिव्यक्त करने के लिए पहले के कवि उपमान और उपमेय दोनों को सामने प्रस्तुत कर देते थे, किन्तु आधुनिक संवेदना से संवलित कवि सादृश्य-कल्पना को व्यंग्य करके ही रखना चाहते हैं, जिससे भावना की निविड़ता खंडित न हो—

"इस युग की नवीनता संस्कृत के प्राचीन उपमान-उपमेय के बंधनों से अलग हो गई। उसे अब उस तरह की वर्णना पसंद नहीं।"

—निराला, रवीन्द्र-कविता-कानन, पृ० ९१

डॉ० सुधीर कुमार दासगुप्त ने अलंकारों की महत्ता और शक्ति का निरूपण

करते हुए एक अमर सत्य को प्रस्फुटित किया है—

"दार्शनिक जहाँ सीमा को असीम के भीतर ले जाकर वस्तु को तत्त्व में परिणत कर देता है, वहीं कवि असीम को सीमा-बंधन में लाकर तत्त्व को रूप में मुक्ति दे देता है। यह रूप मुख्यतः अलंकार की ही सृष्टि है।"

काव्य में अलंकार, सौंदर्य और शक्ति का धर्म बनकर आते हैं, यह तो प्रायः सभी स्वीकार करते हैं। किन्तु अलंकार नित्य हैं या अनित्य, स्थायी हैं या अस्थायी, प्राणभूत हैं, या अंगभूत, या वहिर्भूषण—इसके संबंध में बड़ा विवाद है। यह तो प्रायः सब लोगों ने पीछे चलकर प्रमाणित कर दिया कि काव्य की आत्मा रस है, किन्तु अलंकार अंगभूत है या वहिर्भूषण—इसके संबंध में निर्णय देना कठिन है। यहाँ हम पहले अध्याय के विवादों को दुहराना ठीक नहीं समझते, लेकिन डॉ० सुधीर कुमार दासगुप्त के उस मंतव्य पर हम फिर प्रकाश डालना चाहते हैं कि यह सारा झमेला केवल इसीलिए है, चूँकि लोग अलंकार को शब्दार्थ से पृथक् करके देखते हैं। अलंकार और शब्दार्थ का पारस्परिक संबंध बड़ा घनिष्ठ है, इन दोनों का रासायनिक अंतर्गठन जबर्दस्त है। यहाँ आनन्दवर्धन की उक्ति फिर द्रष्टव्य है।

"अलंकार-समूह अन्वेषणकारियों के लिए दुर्लभ होने पर भी प्रतिभाशाली कवि के रस-समाहित चित्त में से 'यह मेरा स्थान है', 'यह मेरा स्थान है' कहते हुए दौड़कर अपना-अपना स्थान स्वयमेव प्राप्त कर लेते हैं—

"अहमहमिकया वृत्त्याः अलंकाराः प्रधावन्ति"

ध्वनिकार के इस कथन से साफ स्पष्ट है कि रस के उदय के साथ ही साथ उसकी अलंकार-देह का भी उद्भव हो उठता है एवं अलंकारात्मक शब्द जैसे स्वतःस्फूर्त्त वेग से अपना प्रकाश विकीर्ण करने लगते हैं।

जब ऐसी स्थिति अनिवार्य हो उठती है तो अलंकार वहिर्भूषण कैसे हो सकते हैं ? इसलिए अलंकारों को काव्य का अंगभूत कहना ही तर्क-संगत होगा। काव्य में अलंकार साध्य नहीं होते, साधन होते हैं, उपकरण होते हैं।

काव्यगत अलंकारों के इसीलिए दो भेद किये जाते हैं। शब्दालंकार और अर्थालंकार। शब्दालंकार से कवि के शब्दशिल्प, वाक्यगठन और मनोरम ध्वनि-सौंदर्य का अंदाज होता है और अर्थालंकार से आन्तरिक विभूति, रूप-सृष्टि और अनुभूति को रंग तथा आकार देने की शक्ति का।

अलंकार काव्य के अंगभूत लालित्य का परिचायक होता है। लेकिन काव्य में अलंकारों का महत्त्व और स्थान रस, ध्वनि, रीति और गुण के बाद ही है। इतना नीचे होने पर भी अलंकार और काव्य का सम्बंध अविच्छिन्न है। क्रोचे ने भी यही कहा है—

"But a constituent element of expression, indistinguishable from the whole."

"किन्तु यह समग्र के साथ अविशेष अभिव्यक्ति का एक मौलिक उपादान है।"

आधुनिक काल के श्रेष्ठ कवियों ने सादृश्य-कल्पना को प्रतीयमान करके अभिव्यक्त किया है; विम्ब-रचना के इस युग में काव्य का अंगभूत अलंकार व्यंग्य होकर प्रस्फुटित होता है। संश्लिष्ट जटिलता के जीवन में क्षण की अनायास अनुभूति का मर्म विम्ब ही प्रस्तुत करता है, जो अपनी व्याप्ति में एक अलंकार ही है।

अलंकारशास्त्र का इतिहास

काव्य के शिल्प तथा रूप-विन्यास की समालोचना जिस शास्त्र में की गई, वह अलंकारशास्त्र कहलाया। कविता भी तो एक प्रकार की कला ही है। इस कला के 'शिल्पचातुर्य' (Craftsmanship) का विवेचन भारतवर्ष में भामह के साथ बहुत प्रबल रूप में शुरू हुआ। यद्यपि अलंकारशास्त्र को भ्रम से लोग अलंकारों के विवेचन का ही शास्त्र मानते आये हैं किन्तु अलंकारशास्त्र के अंतर्गत वक्रोक्ति, रीति, गुण, वृत्ति और शब्दशक्ति का भी विवेचन वांछनीय माना जाना चाहिए। अलंकार शब्द काव्य के शिल्प-पक्ष के लिए रूढ़-सा हो गया है, इसलिए अलंकारशास्त्र काव्य के शिल्पशास्त्र का ही पर्याय है।

सौंदर्यशास्त्र, काव्यशास्त्र और साहित्यशास्त्र आदि इसी अलंकारशास्त्र के समानार्थक हैं। यूरोप में सौंदर्यशास्त्र के अंतर्गत चित्र, संगीत, स्थापत्य इत्यादि विभिन्न कलाओं के शिल्प-पक्ष का अध्ययन आवश्यक माना जाता है।

अलंकारशास्त्र भी काव्य के स्थापत्य का ही वैज्ञानिक विवेचन है।

अलंकारशास्त्र को अलंकार-सम्प्रदाय द्वारा प्रस्तुत शास्त्र मानना एकदम गलत है।

संस्कृत में अलंकारशास्त्र का प्रणयन निरुक्तकार यास्क से ही मानना चाहिए, चूँकि यास्क ने 'उपमा' का लक्षण-निरूपण किया है तथा ऋग्वेद के अनेक मंत्रों में उसकी व्याप्ति दिखलाई है। अलंकार के एकाधिक शास्त्रीय शब्दों की व्याख्या पाणिनि के सूत्रों, वात्स्यायन के वार्त्तिक तथा पतंजलि के भाष्य में मिल जाती है। भरत के नाट्यशास्त्र में सोलहवाँ अध्याय तो 'अलंकार-लक्षण' ही है। इस अध्याय में अलंकार शब्द काव्य की रूप-विभूति के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और ३६ काव्य-विभूषण, ४ अलंकार, १० काव्यदोष और १० काव्यार्थगुण का विवेचन-विश्लेषण है।

अलंकारशास्त्र के आदि-आचार्य भामह हैं। उनके बाद तो अलंकारशास्त्र के ग्रंथों की सुदीर्घ परम्परा चल निकली है। उल्लेखनीय ये हैं—

१. भामह—'काव्यालंकार' (७वीं श० ई०)
२. दण्डी—'काव्यादर्श' (७वीं श० ई०)
३. उद्भट—'काव्यालंकारसारसंग्रह' (८वीं श० ई०)
४. वामन—'काव्यालंकार सूत्र' (९वीं शती का पूर्वार्द्ध)

५. आनन्दवर्धन—'ध्वन्यालोक' (९वीं शती का उत्तरार्द्ध)
६. कुन्तक—'वक्रोक्तिजीवित' (१०वीं शती का पूर्वार्द्ध)
७. भोजराज—'सरस्वती कंठाभरण' (११वीं शती का पूर्वार्द्ध)
८. मम्मट—'काव्यप्रकाश' (११वीं शती)
९. रुय्यक—'अलंकारसर्वस्व' (१२वीं शती का पूर्वार्द्ध)
१०. जयदेव—'चन्द्रालोक' (१३वीं शती)
११. विद्याधर—'एकावली' (१४वीं शती का पूर्वार्द्ध)
१२. विश्वनाथ—'साहित्यदर्पण' (१४वीं शती)
१३. केशवमिश्र—'अलंकारशेखर' (१६वीं शती का उत्तरार्द्ध)
१४. अप्पयदीक्षित—'कुवलयानन्द' (१७वीं शती का पूर्वार्द्ध)
१५. पंडितराज जगन्नाथ—'रसगंगाधर' (१७वीं शती)

डॉ० विजयेन्द्र स्नातक ने संस्कृत के अलंकारशास्त्र को तीन युगों में विभाजित किया है— ध्वनि-पूर्वकाल, ध्वनिकाल तथा ध्वन्युत्तर काल।

ध्वनि-पूर्वकाल के आचार्य भामह, दण्डी, उद्भट, वामन तथा रुद्रट हैं। इस काल में अलंकार को ही काव्य का सर्वोपरि धर्म माना गया। काव्य के शेष धर्म या तो गौण पड़ गए या अलंकारों के अंतर्गत ही रूपान्तरित हो गये। भामह इस काल के आदि-आचार्य और रुद्रट इस काल के मूल विवेचनों के समापवर्त्तक हैं।

ध्वनिकाल पूर्ववर्त्ती आचार्यों के भ्रामक मतों के खंडन तथा ध्वनि के महत्त्व का मंडन-काल है। आनन्दवर्धन, कुन्तक तथा महिमभट्ट प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में ध्वनि से ही सम्बद्ध तथा प्रभावित हैं। इस युग में अलंकार की अतिरेकपूर्ण महिमा का खंडन किया गया तथा काव्य में अलंकारों के उचित स्थान का सम्यक् निर्देश हुआ।

ध्वन्युत्तर काल के प्रमुख आचार्य हैं—मम्मट, रुय्यक, विद्याधर, विश्वनाथ तथा पंडितराज जगन्नाथ। यद्यपि काल की दृष्टि से जयदेव, केशव मिश्र तथा अप्पयदीक्षित इसी काल के अंतर्गत आयेंगे किन्तु मत-पोषण की दृष्टि से ये ध्वनि-पूर्वकाल के अनुयायी हैं; चूँकि इन तीनों का प्रतिपाद्य है अलंकारों की सर्वोपरि महिमा।

संस्कृत अलंकारशास्त्र की इन तीन युग-प्रवृत्तियों में से ध्वनि-पूर्वकाल के मतवाद का ही प्रभाव हिन्दी के आचार्यों पर पड़ा है।

हिन्दी में अलंकारशास्त्र का विकास केशव से समझना चाहिए। हिन्दी के अलंकारशास्त्र की तालिका निम्नांकित है—

१. केशवदास—'कविप्रिया' (सन् १६०१)
२. जसवन्त सिंह—'भाषाभूषण' (सन् १६४३)
३. चिन्तामणि—'कविकुलकल्पतरु' (सन् १६५०)
४. मतिराम—'ललित ललाम' (सन् १६६१-६२)
५. भूषण—'शिवराजभूषण' (सन् १६७३)

६. कुलपतिमिश्र—'रसरहस्य' (सन् १६७०)
७. देव—(१) 'भावविलास' (सन् १६८९)
(२) 'काव्यरसायन' (सन् १७०३)
८. श्रीधर—'भाषाभूषण' (सन् १७१०)
९. रसिक सुमति—'अलंकार चन्द्रोदय' (सन् १७
१०. रघुनाथ—'रसिक मोहन' (सन् १७३९)
११. गोविन्द—'कर्णाभरण' (सन् १७५०)
१२. दूलह—'कविकुल कण्ठाभरण' (सन् १७४३)
१३. भिखारी दास—'काव्यनिर्णय' (सन् १७४६)
१४. ऋषिनाथ—'अलंकारमणिमंजरी' (सन् १७७४)
१५. रामसिंह—'अलंकार दर्पण' (सन् १७७८)
१६. सेवादास—'रघुनाथ अलंकार' (सन् १७८३)
१७. पद्माकर—'पद्माभरण' (सन् १८१०)
१८. काशिराज—'चित्र-चन्द्रिका' (सन् १८३२)
१९. गिरधर दास—'भारती भूषण' (सन् १८३३)
२०. लेखराज—'गंगाभरण' (सन् १८७८)
२१. लछिराम—'रामचन्द्र भूषण' (सन् १८९०)
२२. गुलाब सिंह—'वनिता भूषण' (सन् १८९२)
२३. गंगाधर—'महेश्वर भूषण' (सन् १८९५)

मध्यकालीन हिन्दी अलंकारशास्त्र के विकास का सम्यक् अनुशीलन करने पर पता चलता है कि कुछ आचार्यों ने तो अलंकार प्रकरण पर स्वतंत्र ग्रंथ ही लिखें हैं और कुछ ने विविधांगनिरूपक ग्रंथों में अलंकारों के सम्बन्ध में एक-दो स्वतंत्र अध्यायों में विचार किया है।

स्वतंत्र ग्रंथ लिखने वालों में हैं—मतिराम, भूषण, श्रीधर कवि, रसिक, सुमति, रघुनाथ, गोविन्द, दूलह, पद्माकर तथा प्रताप साहि।

इन सब अलंकार-निरूपक आचार्यों पर अप्पयदीक्षित की प्रभूत छाया विद्यमान है। विविधांगनिरूपक ग्रंथों में अलंकार पर विचार करने वाले आचार्यों में हैं—चिंतामणि, जसवंत सिंह, कुलपति, देव, सुरति मिश्र, श्रीपति, सोमनाथ, भिखारी दास तथा रणधीर सिंह।

ये सभी आचार्य अलंकारों को रस का सहयोगी मानकर चलते हैं।

हिन्दी के प्रायः सभी आचार्य ध्वनि-पूर्वकाल के आचार्यों की परम्परा से अवगत हैं और उनके प्रभावों की परिणति ही ऐसी है कि अलंकारों के प्रति इतना आत्म-समर्पण है।

आधुनिक युग में अलंकारशास्त्र के विकास में योग देने वाले निम्नांकित ग्रंथ हैं—

१. मुरारिदान—'जसवन्त जसोभूषन' (सन् १८९३)

२. जगन्नाथ प्रसाद भानु—'काव्य प्रभाकर' (सन् १९०९)
३. भगवान दीन—'अलंकार मंजूषा' (सन् १९१६)
४. अर्जुन दास केडिया—'भारती भूषण' (सन् १९३०)
५. बिहारी लाल भट्ट—'साहित्य सागर' (सन् १९३७)
६. कन्हैया लाल पोद्दार—'अलंकार मंजरी' (सन् १९४५)
७. रामदहिन मिश्र—'काव्यदर्पण' (सन् १९४७)
८. प्रोफेसर देवेन्द्र नाथ शर्मा—'अलंकार-मुक्तावली'
९. डॉ० सुधीन्द्र—'काव्य-श्री'
१०. रामबहोरी शुक्ल—'काव्य-प्रदीप'

इनमें कन्हैया लाल पोद्दार और रामदहिन मिश्र के ग्रंथ विशेष महत्त्वपूर्ण हैं।

आधुनिक समीक्षा में अलंकारों का महत्त्व कम होता जा रहा है और लोग बिम्ब, प्रतीक, संकेत लक्ष्यार्थ, व्यंग्यार्थ और ध्वनि की बात करते हैं। लेकिन स्वतंत्र रूप से काव्य के शिल्प-पक्ष पर सैद्धांतिक ग्रंथों का तो नितान्त अभाव है।

अलंकार-सम्प्रदाय

अलंकार ही काव्य का श्रेष्ठ सौंदर्य है, अलंकार ही काव्य की मूलभूत वस्तु है, अलंकार ही काव्य का प्राण-धर्म है— अलंकार ही काव्य की उत्कृष्टता का परम साधन है, अलंकार-विधान ही कवि की परम सिद्धि है।

इस तरह के सिद्धान्त मानने वाले आचार्य अलंकारवादी कहलाते हैं। इस तरह के अतिरेकपूर्ण कथनों के पोषक आचार्य अलंकार-सम्प्रदाय के अंतर्गत आते हैं। अलंकार-सम्प्रदाय का उद्भव भरत के बाद हुआ। भामह, दंडी और उद्भट के साथ अलंकारों की पूर्ण प्रतिष्ठा हुई। आनन्दवर्धन ने अलंकारों की अतिरिक्त महत्ता का खण्डन किया तथा युक्तियुक्त मीमांसा की। आनन्दवर्धन के परवर्ती आचार्यों ने भी इसके विराट् विवेचन में योग दिया।

अलंकारवादी सम्प्रदाय के संस्थापक भामह (सातवीं शताब्दी) हैं। भामह की पुस्तक 'काव्यालंकार' में अलंकारों की विशद विवेचना है। भामह के ग्रन्थ 'काव्यालंकार' के टीकाकारों ने ही अलंकार-सम्प्रदाय का निर्माण किया। भामह के टीकाकार हैं 'उद्भट' (८वीं शताब्दी), दण्डी (७वीं शताब्दी ई०), रुद्रट (९वीं शताब्दी ई०), जयदेव (१३वीं शताब्दी ई०)। अप्पयदीक्षित (१७वीं शताब्दी ई०), और प्रतिहारेन्दुराज (१०वीं शताब्दी ई०)। हिन्दी में ठीक संस्कृत के अलंकारवादी आचार्य की तरह कम ही आचार्य हैं। फिर भी केशव (१६-१७वीं शताब्दी ई०) जसवन्त सिंह (१७वीं शताब्दी ई०), भूषण (१७वीं शताब्दी ई०), दूलह (१७-१८वीं शताब्दी ई०) इत्यादि कुछ आचार्यों ने अलंकारों के विवेचन-विश्लेषण में अपना योग दिया है। उपर्युक्त हिन्दी के आचार्यों के अतिरिक्त चिन्तामणि, मतिराम, कुलपति, देव और दास ने रसादि के साथ अलंकारों का निरूपण किया है। यद्यपि इनलोगों की काव्य-शैली भी अलंकृत ही रही है किन्तु शास्त्रीय विवेचन में रस को भी घसीटने का प्रयास इनकी ओर से हुआ है।

अलंकार-सम्प्रदाय के महत्त्वपूर्ण आचार्यों के द्वारा प्रस्तुत अलंकार-मीमांसा का ही हम उल्लेख करेंगे, जिससे कि इस सम्प्रदाय की मूलभूत स्थापनाओं और उद्भावनाओं का स्पष्टीकरण हो सके।

इन सभी आचार्यों को अलंकारवादी मानने के पीछे क्या तर्क है?

तर्क यही है कि ये सभी आचार्य अलंकार को ही काव्य का प्राणतत्त्व मानते हैं तथा रस की स्वतंत्र महत्ता स्वीकारते हुए भी रस को अलंकारों में ही अंतर्भुक्त कर लेते हैं।

अलंकार-सम्प्रदाय की रस-सम्बन्धी मान्यताएँ

भामह, दंडी और उद्भट— तीनों आचार्यों ने रस का अंतर्भाव अलंकार के अन्तर्गत कर लिया है। वे रस को रसवत् अलंकार मानते हैं।

अलंकार के अन्तर्गत प्रेय (प्रेयस्), भाव का अन्तर्भाव कर लेते हैं। ऊर्जस्वी अलंकार के अन्तर्गत प्रेय (प्रेयस्), रसाभास और भावाभास को समाहित कर लेते हैं। उद्भट के अनुसार 'समाहित' नामक अलंकार तो भावशांति का ही पर्याय-रूप है।

रसवत् अलंकार की परिभाषा 'काव्यादर्श' के रचयिता दण्डी के अनुसार यों है—

"रसवत् रसपेशलम्।"

उद्भट ने भामह की शब्दावली की सहायता से रस के अवयवभूत पाँच साधनों का उल्लेख किया है— स्थायी भाव, संचारी भाव, विभाव, अभिनय और स्वशब्द। उद्भट की परिभाषा यों है—

"रसवद्दर्शित स्पष्ट शृंगारादिरसादयम्।
स्वशब्दस्थायिसंचारिविभावाभिनयास्पदम्॥"

उद्भट के इस कथन से स्पष्ट है कि रस को वह नाटक का ही विषय मानते थे; भरत मुनि के प्रभाव से ऐसा सहज संभव रहा होगा।

प्रेयस् या प्रेय की परिभाषा दण्डी ने यों दी है—

"प्रेयः प्रियतराख्यानम्" (काव्यादर्श)।

उद्भट ने थोड़ा स्पष्ट करके प्रेयस को पारिभाषित किया है—

"रत्यादिकानां भावानामनुभावादिसूचनैः।
यत्काव्यं वध्यते सद्भिस्तत्प्रेयस्वदुदाहृतम्॥"

अर्थात् अनुभाव आदि के द्वारा रति आदि **स्थायिभावों** का काव्य में बन्धन होना— प्रेयस्वत् का विषय है।

डॉ० सत्यदेव चौधरी ने इसे दूसरे शब्दों में यों स्पष्ट किया है—

"दूसरे शब्दों में, वह काव्य जिसमें **स्थायिभावों** को रसावस्था तक नहीं पहुँचाया गया, प्रेयस्वत् अलंकार कहलाता है।"

ऊर्जस्वी अलंकार की परिभाषा दंडी ने यों दी है—

"ऊर्जस्वि रूढ़ाहंकारम्"

ऊर्जस्वी अलंकार में जिस तरह से रसाभास और भावाभास का अंतर्भाव माना गया है, उस तरह यहाँ परिभाषा स्पष्ट नहीं है। परन्तु उद्भट के मत से यह

तथ्य ज्यादा स्पष्ट हो सका है—

"अनौचित्य प्रवृत्तानां कामक्रोधादिकारणात् ।
भावानां च रसानां च बन्ध ऊर्जस्वि कथ्यते ॥"

अर्थात् काम, क्रोध आदि कारणों से रसों और भावों का अनौचित्य रूप में प्रवर्त्तन ऊर्जस्वी अलंकार का विषय है।

समाहित की परिभाषा देते हुए उद्भट ने लिखा है—

"रसाभावतदाभासवृत्तेः प्रशमबन्धनम् ।
अन्यानुभाव निश्शून्यरूपंयत्तत् समाहितम् ॥"

अर्थात् रस, भाव, रसाभास और भावाभास की समाधि-अवस्था जैसी शान्ति, जिसमें अन्य किसी रस की प्रतीति न हो सके— समाहित अलंकार का विषय है।

उदात्त अलंकार की व्याख्या करते हुए प्रतिहारेन्दुराज ने अंगभूत रसों को उदात्त अलंकार के अन्तर्गत मान लिया है।

इस तरह रस जहाँ अंगी रूप है, वहाँ तो अलंकार में उसका अन्तर्भाव किया ही गया है; लेकिन रस जहाँ अंगरूप है, वहाँ भी उदात्त अलंकार में उसका अन्तर्भाव दिखा दिया गया है।

इस प्रकार अलंकारवादी आचार्यों ने रस का अन्तर्भाव अलंकारों के अन्तर्गत दिखाकर अलंकार के सम्बन्ध में अपने अतिरेकपूर्ण मतवाद का परिचय दिया है। यही उनके संकुचित होने का प्रमाण है।

अलंकार-सम्प्रदाय के आचार्यों की अन्य मान्यताएँ

रस की महत्त्व-स्वीकृति

भामह ने रस का महत्त्व प्रतिष्ठित किया है—"युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक् ।"

दण्डी ने रस को निरन्तर माना है, काव्य के लिए—

"अलंकृतं संक्षिप्तं रसभावनिरन्तरम्"

भामह के अनुसार कटुकषाय ओषधि मधु-मिश्रण से जिस प्रकार ग्राह्य हो जाती है, उसी तरह रस की संयुक्तता से नीरस शास्त्र-वार्त्ता भी ग्राह्य हो जाती है। दण्डी ने भाषा के माधुर्य गुण और वस्तु के माधुर्य गुण को रस पर ही अवलम्बित ठहराया है। दण्डी के मत से वाक्यगत और वस्तुगत माधुर्य गुण का मधु ही सहृदय रूपी मधुपों को प्रमत्त वना देता है। यह माधुर्य गुण रसवत्ता ही है। रुद्रट भी भामह और दण्डी का अनुगमन करते हुए महाकाव्य के लिए रस की अनिवार्यता स्वीकार करते हैं। रुद्रट तो रीति और वृत्ति के रसानुकूल प्रयोग पर वल देते हैं।

अलंकारों की प्रशस्ति तथा व्यापकता का पक्ष

भामह के अनुसार तो अलंकार के बिना काव्य की शोभा ही नहीं होती। वह कहते हैं कि जिस प्रकार वनिता का मुख सुन्दर होते हुए भी भूषणों के बिना अशोभित ही रहता है, उसी प्रकार सुन्दर वाक् भी अलंकारों के बिना शोभा नहीं पाता।

दण्डी अलंकार की व्यापकता दिखलाते हैं। उनके मतानुसार माधुर्य आदि दस गुण अलंकार ही हैं। मुख आदि पाँच संधियों, उपक्षेप आदि ६४ संध्यंगों, कैशिकी आदि ४ वृत्तियों, नर्मतत् आदि १६ वृत्त्यंगों तथा भूषण आदि ३६ लक्षणों तथा विभिन्न नाट्यालंकारों को भी दण्डी ने 'अलंकार' मात्र कहा है। इनमें से विषय के आग्रह के अनुसार किन्हीं का 'स्वभावाख्यान' आदि अलंकारों में अंतर्भाव हो जाता है और किन्हीं का 'भाविक' अलंकार में।

"रस के अतिरिक्त इन आचार्यों ने जान-बूझकर अथवा अनजाने 'ध्वनि' का भी कुछ अलंकारों में अंतर्निवेश सूचित किया है। इस सम्बंध में भामह-सम्मत प्रतिवस्तूपमा, समासोक्ति और पर्यायोक्ति अलंकार, दंडी-सम्मत द्वितीय व्यतिरेक और पर्यायोक्ति अलंकार तथा उद्भट-सम्मत पर्यायोक्ति अलंकार द्रष्टव्य हैं।"

(डा० सत्यदेव चौधरी, हिन्दी सा० का वृहत् इतिहास, 'रीतिकाल' खंड, पृ० ६३)

अलंकार-सम्प्रदाय की मूल स्थापनाएँ

नितान्त प्रकृति वर्णन चारु नहीं होता। इसलिए आकर्षक भी नहीं होता। भामह इसी आशय के आधार पर अलंकारों की अनिवार्यता प्रमाणित करते हैं। उनके अनुसार अलंकार काव्य का अनिवार्य प्राणतत्त्व है। वाणी में चारुता लाने से ही काव्य आकर्षक होता है, दूसरों के लिए मनोहर होता है। इसलिए वाणी की अलंकृति के लिए 'वक्राभिधेय शब्दोक्ति इष्ट है'।

दण्डी अलंकार को काव्य का पोषक अंग मानते हैं।

जयदेव अलंकार को ही काव्य की उष्णता का साक्ष्य प्रमाणित करते हैं। जिस तरह अग्नि की सामर्थ्य उसकी उष्णता में है, उसी तरह काव्य की सारी सामर्थ्य उसके अलंकारों में है। इस तरह अलंकार को वह काव्य का प्राणधर्म स्वीकार करते हैं। अलंकारों को वक्रार्थ की विधायक शब्दोक्ति के रूप में स्वीकृति देते हुए भामह का कथन है—

"सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः को ऽलंकारोऽनया बिना।"

अलंकारों की परिभाषा और संख्या के सम्बंध में ही अलंकार-सम्प्रदाय के प्रायः सभी आचार्य अपने-अपने मंतव्य प्रकट करते हैं। काव्य की अंतःप्रकृति का

वाणी की वक्रोक्ति से किस प्रकार आत्मगुंफन होता है, इस सम्बंध में सूत्र-संकेत ही मिलते हैं, विस्तृत विवेचन नहीं।

अलंकार-सम्प्रदाय की उपलब्धियों के आधार पर आज यह विवेचन करने की आवश्यकता है कि काव्य की भाषा का एक पृथक् सौंदर्यतत्त्वाश्रित भाषा-विज्ञान है। इसे अँगरेजी में हम काव्यात्मक भाषा-शास्त्र (Poetic Linguistics) कह सकते हैं। अभी पाश्चात्य भाषा-वैज्ञानिकों ने सामान्य जनभाषा को ही भाषा-विज्ञान के अध्ययन-विश्लेषण का आधार बनाया है। काव्य की भाषा सामान्य जनभाषा से अलग होती है और उसका भाषा-विज्ञान निश्चित रूप सें पृथक् होना चाहिए। इसलिए पाश्चात्य भाषा-विज्ञान को ध्यान में रखकर अलंकारवादी आचार्यों द्वारा प्रस्तुत काव्य की भाषा के विवेचन का यदि पुनर्मूल्यांकन हो तो निश्चित रूप से यह प्रमाणित किया जा सकेगा कि भारतवर्ष में ही सर्वप्रथम काव्यभाषा के सौंदर्यतत्त्वाश्रित भाषा-शास्त्र की नींव पड़ी थी। इसे अँगरेजी में हम कह सकते हैं कि The basic concept of poetic linguistics was instituted under Bhamah. काव्य की भाषा के सूक्ष्म रूप-विभेदों की सर्वप्रथम कल्पना भारतवर्ष में ही हुई; यह बात दूसरी है कि अलंकारवादी आचार्यों ने अतिरेकपूर्ण मंतव्यों की स्थापना की थी, किन्तु आज हम निस्संग दृष्टि से सत्य का साक्षात्कार कर सकते हैं, यदि वैज्ञानिक दृष्टि से विवेचन-विश्लेषण करें। अलंकारशास्त्र तो भाषा-विज्ञान (Linguistics) और काव्य-सौंदर्यशास्त्र (Poetic Aesthetics) के सम्मिश्रण का प्रतिफल है।

अलंकार और अभिधा

वाच्यार्थ के चमत्कार में प्रकृत अलंकृति और लावण्य निहित हैं। वाच्यार्थ में कुछ खास प्रकार की विशेषता अवश्य ही रहती है, जिस विशेषता के साथ अलंकार का सम्बंध नित्य भाव से होता है। वाच्यार्थ का चमत्कार जितने प्रकार से संभव है, अलंकार भी उतने प्रकार के होते हैं, हो सकते हैं। यह मानना तो एकदम अशास्त्रीय है कि वाच्यार्थ से अलंकार तभी पैदा होता है, जब बाहर से भी कुछ नयी शक्ति जोड़ी जाती है। बाहर की किसी शक्ति के आगमन से वाच्यार्थ में अलंकार के अस्तित्व का उदय नहीं होता। वाच्यार्थ अपनी पूरी प्राणशक्ति लगाकर, उस चमत्कार का विधान करता है, जिस चमत्कार को ही अलंकार कहते हैं। वाच्यार्थ की सहजता के चामत्कारिक गर्भ से ही सम्पूर्ण अर्थों में भिन्न, किन्तु अभिन्न जीव पलता है, जिसे अलंकार कहते हैं।

इसीलिए विशिष्ट शब्दार्थ ही काव्य माना गया है।

"विशिष्टौ शब्दार्थौ काव्यम्।" (अलंकारसूत्र)

फिर 'प्रतापरुद्रीय' नामक पुस्तक में विद्यानाथ ने कहा है—

"अलंकार अभिधा के प्रकार विशेष ही हैं।"

इससे यह स्पष्ट है कि अलंकार वाच्यार्थ की ही अनेक शैलियाँ हैं, व्यंग्यार्थ की नहीं। वाच्यार्थ के चमत्कार की शक्ति कुछ इतनी सबल है कि व्यंग्यार्थ यदि इसके समान भी होता है तो दब जाता है, गुणीभूत हो जाता है। चारुता या चमत्कार की अधिकाधिकता के कारण ही वाच्यार्थ अपनी अलंकरण-शक्ति के द्वारा व्यंग्यार्थ को गुणीभूत कर देता है, दबा देता है। व्यंग्यार्थ वाच्य-वाचक-भाव से अर्जित चमत्कार को अतिक्रम नहीं कर पाता, यह वाच्यार्थ के चमत्कार का वैशिष्ट्य है। उदाहरणस्वरूप निम्नलिखित पंक्तियाँ रखी जा सकती हैं—

"विरह है अथवा वरदान
कल्पना में है कसकती वेदना
अश्रु में जीता सिसकता गान है
शून्य आहों में सुरीले छन्द हैं"

—पंत

इस उदाहरण में 'अथवा' शब्द के वाच्य-वाचक-भाव से ही संदेह-दग्ध चित्तदशा की अभिव्यक्ति एक चमत्कार का सृजन कर रही है। कवि स्वयं एक

विशेष करुण स्थिति में आश्रय हो उठा है और अपनी द्विधाग्रस्त, विकल्पात्मक या भावानुभूति की निविड़ता व्यक्त करता है। इससे यहाँ संदेह अलंकार स्वयं चला आया है; संदेह अलंकार लाने के लिए बाहर से कुछ जोड़ा नहीं गया है। वाच्यार्थ स्वयं विशिष्ट प्रकार की कथनभंगी में चमत्कार लाकर एक अलंकार बन जाता है।

वाच्यार्थ मुख्यत: तीन प्रकार के शब्दों का आश्रित होता है—

१. समुदाय-शक्ति द्वारा दिया गया अर्थ—रूढ़ शब्द।

२. व्युत्पत्तिगत अर्थ या खण्डशक्ति-सापेक्ष शब्द—यौगिक शब्द।

३. लोक-स्वीकृत अर्थ—ऐसे शब्दों का अर्थ समुदाय तथा अवयवों की शक्ति के मिश्रण-योग से होता है—योगरूढ़ शब्द।

तो वाच्यार्थ के चमत्कार और वाच्यार्थ के वैशिष्ट्य से जीवन और अस्तित्व पाने वाले अलंकार भी रूढ़ शब्द, यौगिक शब्द और योगरूढ़ शब्दों पर आश्रित होते हैं।

एक ही शब्द जब रूढ़, यौगिक और योगरूढ़—तीनों अर्थों का कथन, एक विशेष प्रकार की भावदशा की संगति बैठाते हुए करता है तो भिन्न-भिन्न संगत अर्थच्छायाओं की गूढ़ अभिव्यक्ति होती है और वाच्य-वाचक-भाव में ही चमत्कार पैदा होता है। ऐसे ही उदाहरण के रूप में हम रहीम का एक दोहा प्रस्तुत कर सकते हैं—

"रहिमन पानी राखिए बिन पानी सब सून।
पानी गये न ऊबरे मोती मानुष चून॥"

इस तरह एक शब्द भिन्न-भिन्न संदर्भों की अर्थच्छाया को पकड़कर गूढ़ चमत्कार की सृष्टि करता है। यहाँ श्लेष अपनी शक्ति का परिचय दिये बिना नहीं रहता।

अलंकार और वाच्यार्थ का वैसा ही सम्बन्ध है—जैसे दूध और दही, घी, छेना, मलाई, रावड़ी आदि का। दूध ही तरह-तरह की अवस्थाओं में पड़कर अनेक रूप धारण कर लेता है, उसी तरह वाच्यार्थ भी कथन-शैली की भिन्न-भिन्न विशेषताओं में ढलकर अनेक चमत्कारपूर्ण, अलंकृतिपूर्ण रूप धारण कर लेता है।

अलंकार और लक्षणा

बहुत-से श्रेष्ठ अर्थालंकारों की गठन-प्रकृति पर यदि हमलोग ध्यान दें तो पता चलेगा कि ये अलंकार विशेष-विशेष स्थानों पर वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ के मूल बीज को ही ग्रहण कर सादृश्य, विरोध, शृंखला, न्याय तथा गूढ़ार्थ-प्रतीति आदि भिन्न-भिन्न आधार-भित्तियों पर अपने समूचे व्यक्तित्व को खड़ा करते हैं। किसी लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ या ध्वन्यर्थ के बीज-रूप से ही कुछ अर्थालंकारों की समूची शक्ति और देह—पल्लवित-विकसित हुई है। उसी बीज-रूप का सम्मूर्त्तन, अलंकार के रूप में फैली हुई चमत्कार-सृष्टि के रूप में, होता है।

कवि के भीतर निहित अपूर्व वस्तु-निर्माण-क्षमा-प्रज्ञा, लक्ष्यार्थ के मूल बीज के सौन्दर्य और प्राण को विकसित कर देती है। जिस सौन्दर्य को अलंकार अपना सहचर बनाये रखता है, उस सौन्दर्य की सृष्टि लक्ष्यार्थ से होती है।

यह दिखलाना ज्यादा स्पष्टता-व्यंजक कार्य होगा कि किन-किन अर्थालंकारों के भीतर मूल बीज के रूप में लक्ष्यार्थ ही अवस्थित है।

रूपक अलंकार

रूपक अलंकार के सम्पूर्ण वृक्ष का मूल प्राणबीज है गौणी सारोपा लक्षणा। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने 'रसमीमांसा' के परिशिष्ट (पृ० ३६९) में लिखा है—

"सारोपा लक्षणा is the basis (बीज) of रूपकालंकार।"

जिस लक्षणा में आरोप्यमाण और आरोप के विषय, दोनों का शब्द द्वारा कथन हो, उसे सारोपा लक्षणा कहते हैं। फिर आरोप्यमाण और आरोप के विषय में यदि गुण-साम्य भी दिखलाया जाता है तो गौणी सारोपा लक्षणा होती है।

रूपक अलंकार में भी तो उपमान और उपमेय दोनों का कथन होता है और उपमान में उपमेय का अभेद आरोप होता है। जैसे—

"स्वर्ण-किरण-कल्लोलों पर बहता रे बालक मन।" —निराला

इस उदाहरण में रूपक अलंकार है और उसकी मूल प्राणशक्ति के रूप में है गौणी सारोपा लक्षणा।

ऊपर के विवेचन से यह भी स्पष्ट है कि रूपक अलंकार और गौणी सारोपा लक्षणा का किस तरह अभेद, अविच्छेद्य सम्बन्ध है। जहाँ कहीं भी रूपक अलंकार आयेगा, गौणी सारोपा लक्षणा उसके भीतर प्राणतत्त्व की तरह, मूल बीज की तरह बैठी चली आयेगी।

इसी संदर्भ में बिहारी का एक दोहा बहुत प्रसिद्ध है—

"मंगल विन्दु सुरंग, मुख ससि केसर आड़ गुरु।
इक नारी लहि संग, रसमय किय लोचन जगत ॥"

इसमें ज्योतिष के उस सर्वमान्य सत्य का, विशिष्ट कथनभंगी में लक्ष्यार्थ स्फुट है, जिसमें यह कहा गया है कि मंगल, वृहस्पति और चन्द्रमा एक नाड़ी में हों तो पृथ्वी पर जल का अटूट समुद्र उमड़ पड़े। इन तीनों नक्षत्रों के, एक राशि पर योग होने से, पृथ्वी पर जलयोग माना गया है। यहाँ नायक, नायिका की सखी से अपना मंतव्य कह रहा है कि नायिका का मुख तो चंद्रमा है ही, उसके भाल पर लगा हुआ रोरी का बिंदु मंगल नक्षत्र है और केसर का बाँका टीका वृहस्पति है। ये तीनों नक्षत्र इस नायिका के शरीर पर केन्द्रित हो गए हैं, एकत्र हैं—इसलिए इन तीनों के एकत्र सम्पुंजन से पृथ्वी के मनुष्यों के नेत्र जलमय हो उठे हैं—अर्थात् उस नायिका को देखने से, उतने सुन्दर सज्जित रूप में देखने से आँखों में आनन्द की आर्द्रता आती है और न देखने से भी आँखों में शोकजन्य पारावार लहरा उठता है।

इस पूरे दोहे में आरोप के विषय और आरोप्यमाण की गुणधर्मयुक्त सादृश्य-प्रतीति लक्ष्यार्थ से प्रस्फुटित है।

इस दोहे में 'रसमय' शब्द में भी श्लिष्ट पदमूलक रूपक है और इसका अर्थ अनुराग-रूपी जल है। गौणी सारोपा लक्षणा की यह शक्ति है जो पूरे रूपक को सजीव भावानुभूति से भर देती है। इस पूरे दोहे में नायिका का मुख, बिंदु और टीका—ये सभी प्राकरणिक हैं, प्रधान हैं। शशि, मंगल और गुरु—तो अप्राकरणिक हैं, गौण हैं। कवि नायिका के आनुषंगिक रूप को अंकित कर रहा है, यहाँ शशि, मंगल और गुरु—इन तीनों का वर्णन तो अप्रासंगिक है। ये तीनों उपमान अप्रासंगिक या इस अनुषंग में विजातीय होने पर भी अभेदप्रतीति के स्वर्णसूत्र से एकता-बद्ध हो गए हैं। रूपक अलंकार की अभेद प्रधानता यहाँ मूर्त्त हो उठी है। अप्रधान चाँद, मंगल और गुरु लक्ष्यार्थ से गुणवृत्तित्व-लाभ कर रहे हैं। गौणी सारोपा लक्षणा में भिन्न वस्तुएँ भी अभेद प्रत्ययसृष्टि कर रही हैं। अप्रधान वस्तुओं के गुण प्रधान वस्तुओं के गुण के वशवर्त्ती हो उठे हैं।

काव्य-प्रदीप-टीका में वैद्यनाथ ने भट्ट, उद्भट और इन्दुराज के मत की परिपोषक एक कारिका उपस्थित की है—

"यदोपमानशब्दानां गौणवृत्तिव्यपाश्रयात्।
उपमेये भवेत् वृत्तिः तदातत् रूपकं भवेत् ॥"

अर्थात् उपमान (विषयी) जब गौणवृत्ति (गौणी लक्षणा) के आश्रित होकर उपमेय (विषय) के साथ समवृत्तित्व (अर्थसाम्य से समानाधिकरणता, एक ही विभक्ति के योग से अभेदप्रतीति की योग्यता) लाभ करता है, तभी रूपक अलंकार होता है।

अलंकार और लक्षणा

बहुत-से श्रेष्ठ अर्थालंकारों की गठन-प्रकृति पर यदि हमलोग ध्यान दें तो पता चलेगा कि ये अलंकार विशेष-विशेष स्थानों पर वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ के मूल बीज को ही ग्रहण कर सादृश्य, विरोध, शृंखला, न्याय तथा गूढ़ार्थ-प्रतीति आदि भिन्न-भिन्न आधार-भित्तियों पर अपने समूचे व्यक्तित्व को खड़ा करते हैं। किसी लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ या ध्वन्यर्थ के बीज-रूप से ही कुछ अर्थालंकारों की समूची शक्ति और देह—पल्लवित-विकसित हुई है। उसी बीज-रूप का सम्मूर्त्तन, अलंकार के रूप में फैली हुई चमत्कार-सृष्टि के रूप में, होता है।

कवि के भीतर निहित अपूर्व वस्तु-निर्माण-क्षमा-प्रज्ञा, लक्ष्यार्थ के मूल बीज के सौन्दर्य और प्राण को विकसित कर देती है। जिस सौन्दर्य को अलंकार अपना सहचर बनाये रखता है, उस सौन्दर्य की सृष्टि लक्ष्यार्थ से होती है।

यह दिखलाना ज्यादा स्पष्टता-व्यंजक कार्य होगा कि किन-किन अर्थालंकारों के भीतर मूल बीज के रूप में लक्ष्यार्थ ही अवस्थित है।

रूपक अलंकार

रूपक अलंकार के सम्पूर्ण वृक्ष का मूल प्राणबीज है गौणी सारोपा लक्षणा। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने 'रसमीमांसा' के परिशिष्ट (पृ० ३६९) में लिखा है—

"सारोपा लक्षणा is the basis (बीज) of रूपकालंकार।"

जिस लक्षणा में आरोप्यमाण और आरोप के विषय, दोनों का शब्द द्वारा कथन हो, उसे सारोपा लक्षणा कहते हैं। फिर आरोप्यमाण और आरोप के विषय में यदि गुण-साम्य भी दिखलाया जाता है तो गौणी सारोपा लक्षणा होती है।

रूपक अलंकार में भी तो उपमान और उपमेय दोनों का कथन होता है और उपमान में उपमेय का अभेद आरोप होता है। जैसे—

"स्वर्ण-किरण-कल्लोलों पर बहता रे बालक मन।" —निराला

इस उदाहरण में रूपक अलंकार है और उसकी मूल प्राणशक्ति के रूप में है गौणी सारोपा लक्षणा।

ऊपर के विवेचन से यह भी स्पष्ट है कि रूपक अलंकार और गौणी सारोपा लक्षणा का किस तरह अभेद, अविच्छेद्य सम्बन्ध है। जहाँ कहीं भी रूपक अलंकार आयेगा, गौणी सारोपा लक्षणा उसके भीतर प्राणतत्त्व की तरह, मूल बीज की तरह बैठी चली आयेगी।

इसमें उपमेय कैकेयी का कहीं भी कथन नहीं है। पर लक्षणा की सहायता से कैकेयी का संकेत मिल जाता है। यदि लक्षणा की सहायता न मिले तो कवि अपने गूढ़ मंतव्यों को इस अलंकार के द्वारा पाठकों तक संप्रेषित नहीं कर पाएगा।

लुप्तोपमा में जिस किसी का भी लोप रहता है, उसका संकेत देने में या उसे ढूँढ़कर पाठकों की ग्राहकता के आगे उपस्थित करने में लक्षणा शक्ति ही सहायक होती है।

समासोक्ति

इस अलंकार के मूल में भी उपादान लक्षणा गोपनसंचारिणी बनी हुई है। इस अलंकार का प्रयोग प्रेमाख्यानक काव्य में नायिका के सौन्दर्य-वर्णन में तथा छायावादी कविताओं में मानवीय गतिविधि और रूपरंग के आरोप करने में विशेष रूप से हुआ है। उदाहरणस्वरूप, निराला की कुछ पंक्तियाँ देखिए—

"किस अनन्त का नीला अञ्चल हिला-हिला कर
आती हो तुम सजी मण्डलाकार ?
एक रागिनी में अपना स्वर मिला-मिला कर
गाती हो ये कैसे गीत उदार ?
सोह रहा है हरा क्षीण कटि में, अम्बर शैवाल,
गाती आप, आप देती सुकुमार करों से ताल।
चञ्चल चरण बढ़ाती हो
किससे मिलने जाती हो ?" (तरंगों के प्रति)

यहाँ स्पष्ट रूप में मुख्यार्थ है नर्त्तकी अभिसारिकाओं की नृत्य-गति का अंकन। किन्तु यहाँ किसी अन्य अर्थ के आरोप विना मुख्यार्थ से काम नहीं चलता। इसलिए लक्ष्यार्थ के द्वारा तरंगों का आरोप करना पड़ता है। प्रस्तुत में अप्रस्तुत का जब तक स्फुरण नहीं होता, रसाभिव्यक्ति में भी वाधा पड़ती है। विश्वनाथ के अनुसार— "समान कार्य, लिंग तथा विशेषणों से अप्रस्तुत वस्तुओं का व्यवहार प्रस्तुत वस्तुओं पर आरोपित किया जाना ही समासोक्ति अलंकार है।" यहाँ ध्यान देने की वात है कि प्रस्तुत से अप्रस्तुत की प्रतीति होती है। यानी प्रस्तुत से अप्रस्तुत को संलग्न रखा जाता है।

विश्वनाथ के अनुसार वाक्य के अर्थ की अन्वय-सिद्धि के लिए जब मुख्य अर्थ किसी अपने से भिन्न अर्थ का संकेत देता है तो वहाँ उपादान लक्षणा होती है।

वास्तविकता तो यह है कि उपादान लक्षणा के प्रयोग में मुख्यार्थ को सर्वथा वर्जित नहीं किया जाता, वल्कि लक्ष्यार्थ के साथ मुख्यार्थ भी संलग्न रहता है। इस तरह 'तरंगों के प्रति' कविता में हम देखते हैं कि तरंगों के साथ नर्त्तकियों, खासकर अभिसारिका नर्त्तकियों की गतिविधि संलग्न होकर नयी भावतृप्ति भर देती है। मुख्यार्थ स्वयंसिद्धि जव नहीं कर पाता तो एक नये अर्थ की प्रतीति करा देता है। इस

गौणी सारोपा लक्षणा के प्रसंग में विश्वनाथ ने भी कहा है कि "इसमें ही रूपक अलंकारका वीज है।"

अतिशयोक्ति अलंकार

अतिशयोक्ति अलंकार का भी मूल प्राणवीज है गौणी साध्यवसाना लक्षणा।

"वाँधा था विधु को किसने इन काली जंजीरों से।
फणि वाले मणियों का मुख क्यों भरा हुआ हीरों से॥"

—जयशंकर प्रसाद

यहाँ रूपकातिशयोक्ति है। 'विधु' उपमान ने उपमेय 'मुख' का निगरण कर लिया है। 'काली जंजीर' उपमान ने 'केशों' के उपमेय का निगरण कर लिया है।

यहाँ स्पष्ट रूप से उपमान ने उपमेय का ग्रास कर लिया है और उपमान स्वयं एकमेवाद्वितीयम् हो उठा है।

गौणी साध्यवसाना लक्षणा का लक्षण ही यही है। विश्वनाथ ने कहा है— "विषयी के द्वारा निगरण की गयी विषय-वस्तु की उसी से सादृश्य-प्रतीति होती है, इसलिए लक्षणा साध्यवसाना कहलाती है।

इसमें केवल आरोप्यमाण या उपमान के कथन से लक्ष्यार्थ व्यक्त होता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि रूपकातिशयोक्ति अलंकार में यह गौणी साध्यवसाना लक्षणा ही समवाय-वृत्ति से अन्तर्भूत रहती है। आचार्य मम्मट के अनुसार— "सारोपा में विषय-विषयी दोनों का शब्द-कथन होता है; और साध्यवसाना में विषयी के द्वारा विषय अन्तःकृत (आत्मभूत) कर लिया जाता है।" इस उदाहरण में रमणी का सुन्दर मुख विधु के द्वारा अन्तःकृत कर लिया गया है। कवि के वर्णनीय विषय, केशों से घिरे-लिपटे सुन्दर मुख को लक्ष्यार्थ की सहायता से ही हम स्पष्ट करते हैं। इस प्रकार अतिशयोक्ति अलंकार के इतने बड़े चमत्कार-वृक्ष के भीतर भी गौणी साध्यवसाना लक्षणा का ही कवित्वपूर्ण वीज-रूप विकास पा रहा है।

लुप्तोपमा

इस अलंकार के मूल में भी गोपनसंचारिणी लक्षणा कार्य-रत है। अन्यथा कवि का वर्णनीय विषय या अभिप्रेतार्थ या आलम्बन ही स्पष्ट नहीं होता।

"पड़ी थी विजली-सी विकराल,
लपेटे घन जैसे विकराल।
कौन छेड़े ये काले साँप
अवनिपति उठे अचानक काँप।" —मैथिलीशरण गुप्त

"अप्रस्तुत अथवा अप्रकृत को ऐसी वर्णना जो प्रस्तुत अर्थ की प्रतीति का आश्रय हुआ करती है।" यह ध्यान देने की बात है कि अप्रस्तुत प्रशंसा में अप्रस्तुत ही वाच्य होता है, प्रस्तुत व्यंग्य हो जाता है। उदाहरणस्वरूप—

"नहिं पराग, नहिं मधुर मधु, नहिं विकास एहि काल।
अली कली ही सौं बँध्यौ आगे कौन हवाल॥" —विहारी

इस दोहे में एक कली का वर्णन वाच्य है। उस कली में अभी पूर्ण यौवन—पराग, मधु और विकास नहीं है। फिर भी भौंरा उससे बँधा हुआ है। जब पूर्ण यौवन से वह प्रस्फुटित हो जायगी तो भ्रमर का न जाने क्या हाल होगा? कली के सम्पूर्ण लक्षणों में नायिका की सादृश्य-कल्पना लक्ष्यार्थ के द्वारा होती है; तथा कामासक्त पुरुष या नायक का भी आक्षेप हो जाता है। ऊपर का उदाहरण सारूप्य-निवंधना अप्रस्तुत प्रशंसा का है। इसमें समानरूपता या सादृश्य-कल्पना इतनी सुगठित होती ही है कि अप्रस्तुत में प्रस्तुत की प्रतीति हो जाय। चूंकि साधर्म्य सम्बन्ध से लक्ष्यार्थ की प्रतीति होती है, इसलिए इस उदाहरण में शुद्धा साव्यवसाना लक्षणा है। शुद्धा लक्षणा में दोनों तरह की बातें हो सकती हैं। 'स्वसिद्धये पराक्षेप:' एवं 'परार्थे स्वसमर्पणम्'। अपनी सिद्धि के लिए दूसरे का आक्षेप करना और अन्यार्थ की प्रतीति के लिए अपना समर्पण कर देना। ऊपर के उदाहरण में अप्रस्तुत वाच्य और प्रस्तुत लक्ष्यार्थ से प्रतीयमान है। इस तरह 'स्वसिद्धये पराक्षेप:' का ही यह उदाहरण है।

आक्षेप –

इस अलंकार की परिभाषा है—

जहाँ विवक्षित (intended) या अभिप्रेत वस्तु के वैशिष्ट्य-प्रतिपादन के लिए निषेध या विधि का आभास हो, मात्र आभास, वहाँ आक्षेप अलंकार होता है। इसका बड़ा अच्छा उदाहरण है—

"बात कहूँगी विरहिनी की सुन लो तुम यार।
तुम-से निर्दय हृदय को कहना भी बेकार॥"

इस उदाहरण में 'कहना भी बेकार' के द्वारा निषेध का आभास होता है। यह निषेध वाच्यार्थ है। पूर्ववर्त्ती चरण का टुकड़ा 'बात कहूँगी' में विधि है, किन्तु दूसरे चरण में निषेध। इसलिए दोनों की अर्थसंगति नहीं बैठती। फलत: वाकान्वय करने से वाच्यार्थ बाधित होता है। अतएव लक्षणा की शरण लेनी पड़ती है। निषेधात्मक वाच्यार्थ तो छल है, मिथ्या है, मायामात्र है; विपरीत लक्षणा से विधेयात्मक लक्ष्यार्थ ही सत्य है—विरहिणी के हृदय की असहनीय प्रचंड वेदना ही व्यंग्य होकर इस लक्षणा का प्रयोजन हो गई है। तथाकथित

तरह हम देखते हैं कि समासोक्ति अलंकार के मूल में भी उपादान लक्षणा मौजूद रहती है।

व्याजस्तुति

इस अलंकार के मूलबीज के रूप में शुद्धा लक्षणा कार्य कर रही है। शुद्धा लक्षणा में मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ का सादृश्येतर सम्बन्ध होता है। व्याजस्तुति अलंकार में भी निन्दा के व्याज से प्रशंसा या प्रशंसा के व्याज से निन्दा प्रतीयमान रहती है। इस अलंकार की सबसे प्रामाणिक विशेषता यही है कि इसमें वाच्यार्थ या शब्दों की अभिधाशक्ति निन्दा का बोध कराती है किन्तु लक्ष्यार्थ से प्रशंसा का बोध होता है। उदाहरणस्वरूप—

"राज-भोग से तृप्त न होकर मानों वे इस बार।
हाथ पसार रहे हैं, जाकर जिसके-तिसके द्वार।
छोड़ कर निज कुल और समाज।"
—मैथिलीशरण गुप्त

यशोधरा की इस उक्ति में यद्यपि बुद्धदेव की निन्दा झलकती है, वाच्यार्थ से ऐसा लगता है कि उपलब्ध सुख-भोग से वह असंतुष्ट थे, यानी और भी सुख चाहते थे, इसलिए सुख-संग्रह के लिए ही भिक्षा माँग रहे हैं; किन्तु यहाँ इस अभिधाशक्ति द्वारा प्राप्त मुख्यार्थ की बाधा होती है तो लक्षणाशक्ति में शुद्धा लक्षणा की सहायता से कार्य-कारण-भाव सम्बन्ध के द्वारा अर्थ मिलता है कि सुख-भोग से उन्हें वितृष्णा है, वह वैराग्य ग्रहण कर चुके हैं, वह मोहमुक्त हो चुके हैं, इस तरह इस उक्ति में प्रशंसा ही है।

शुद्धा लक्षणा की सहायता से ही व्याजस्तुति में हम कवि के अभिप्रेत मंतव्य तक पहुँच पाते हैं, हम कवि के विवक्षित भाव तक अपने को ले जाते हैं। यहाँ निन्दा कवि का अभिप्रेत अर्थ नहीं है, प्रशंसा ही कवि का अभिप्रेत या विवक्षित अर्थ (intended meaning) है। यहाँ निन्दा ने अपनी सम्पूर्ण सत्ता का विसर्जन कर दिया है। निन्दा के इस सम्पूर्ण आत्मसमर्पण के द्वारा नयी अर्थप्रतीति होती है कार्य-कारण-भावसम्बन्ध से। आचार्य मम्मट ने शुद्धा लक्षणा की परिभाषा दी है 'परार्थे स्वसमर्पणम्'। तो यहाँ अन्यार्थ की प्रतीति के लिए निन्दा अपने अस्तित्व का समर्पण कर देती है, यानी प्रशंसा या स्तुति की प्रतीति के लिए। रुय्यक ने व्याजस्तुति के प्रसंग में 'अलंकार-सर्वस्व' ग्रन्थ में कहा है, "अत्र विपरीत लक्षणया वाच्यवैपरीत्यप्रतीतिः"।

अप्रस्तुतप्रशंसा

इस अलंकार के प्राणतत्त्व में संजीवनीशक्ति की तरह है शुद्धा लक्षणा। मम्मट ने अप्रस्तुत प्रशंसा की परिभाषा बतलाते हुए कहा है—

अलंकार और व्यंजना

प्रपद्यवादी कवि और चिंतक नरेशजी ने लिखा है—

"काव्य में शब्दों के अर्थ से रसोपलब्धि नहीं होती, शब्दों की व्यंजना से होती है।" (साहित्य, वर्ष २, अंक ३)

यह सत्य है कि वाच्यार्थ से कविता के मूल कथ्य तक हम नहीं पहुँच सकते। विशेषतः आधुनिक युग की कविता में तो संकेत-शक्ति और भावों के जटिल गुम्फन पर बल दिया जा रहा है। बल क्या, इस युग की मनोभूमि में ही ऐसी अभिव्यक्ति के बीज निहित हैं। शब्दों के मुख्यार्थ या प्रत्यक्ष संकेतित अर्थ के ही सहारे हम किसी अप्रत्यक्ष, किसी गूढ़ अर्थ तक पहुँच पाते हैं। वाच्यार्थ की सहायता से ही वाच्यार्थ का अतिक्रम कर उन दृश्य संकेतों तक पहुँचते हैं, जो कवि के कथ्य हैं। वाच्यार्थ में व्यंजना का गुण कहीं बाहर से संक्रमित नहीं होता, भीतर के प्रयोजन से उसका उद्भव होता है। श्री मोहित लाल मजूमदार ने अपनी प्रसिद्ध बँगला पुस्तक 'साहित्य विचार' में इसी तथ्य को दूसरे ढंग से रखा है—

"भाषा में ही भाषा का अतिक्रम करके जो गुण साहित्य को सचमुच साहित्य बना देता है, (वही) प्राण का स्पर्श करता है।"

वही गुण शैली है, रचना का स्थापत्य है। प्रकारान्तर से शैली की अंगभूत शक्ति व्यंजना का भी यहाँ संकेत हो गया है।

अलंकार तो भाषा के आवर्त्त-धर्म हैं। इन अलंकारों के भीतर प्रच्छन्न रूप से लक्ष्यार्थ, व्यंग्यार्थ या ध्वनि ही गति भरती रहती हैं। आवर्त्तों के उत्थान में व्यक्त तो जल ही रहता है, किन्तु अव्यक्त प्रेरक शक्ति तो गति है। ठीक उसी तरह अलंकार वाच्यार्थ से बुने हुए होते हैं किंतु व्यंजना ही अलंकारों की प्राणशक्ति है।

आधुनिक युग में नए ढंग से शब्द पर भी विचार हुआ है। नरेश जी का मंतव्य है कि शब्द वस्तु के प्रतीक ही नहीं, वस्तुगत गुणों के निचोड़ हैं। इसलिए शब्दों में गुणों की समीपता (approximations) होती है, कविता में तो खास कर निश्चित अर्थ-ग्रहण नहीं कराया जा सकता, अस्पष्टता या अनेक भावों का अनिश्चय जरूरी है। लेकिन अस्पष्टता का यह अर्थ नहीं कि पाठक का शब्दों के मूल आसंगों से परिचय ही नहीं हो; उस अस्पष्ट सांकेतिकता के ग्रहण के लिए भी तो अस्पष्ट आवेशों से पाठकों का घनिष्ठ परिचय होना चाहिए। अलंकारों के समान ही व्यंजना भी शब्द, पद और वाक्याश्रित हुआ करती है।

निषेधात्मक वाच्यार्थ से भावों की जिस तीव्रता और निविड़ संवेदना की सृष्टि हुई है वह तब असंभव होती जब नायिका स्वयं कहती या जब उसकी वेदना की वर्णना हो गई होती। आचार्य रुय्यक ने इस निषेध को 'प्रस्खलदरूप:' कहा है, लक्षणा का तो लक्षण ही यही है। लक्षणा की सृष्टि तभी संभव होती है जब वाच्य-वाचक भाव पंगु हो उठता है, उसकी गति का स्खलन हो जाता है, तब बिना लक्ष्यार्थ की सहायता से कवि का विवक्षित अर्थ स्पष्ट नहीं हो पाता। 'ध्वन्यालोक' के प्रथम उद्योत की सप्तदश कारिका में 'स्खलद्गति:' की व्याख्या करते हुए आचार्य अभिनवगुप्त ने कहा है—

"जिस शब्द की गति अर्थात् अर्थप्रकाश की शक्ति बाधित होकर स्खलित अर्थात् विधुरीकृत (अप्रकृतस्थ, दुर्बल) हो जाती है, उसके व्यापार का ही नाम लक्षणा है।"

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अलंकार-सिद्धि के मूल में प्रधान उपजीव्य बन-कर लक्षणा संजीवनीशक्ति की तरह गोपनसंचारिणी बनी रहती है। अनन्वय, उपमेयोपमा, विरोध आदि की अंतर्बाह्य प्रकृति का विश्लेषण करने से पता चलेगा कि इन सब के भीतर भी लक्षणा की अभिनव शक्ति ही कार्य-रत रहती है।

रस और अलंकार

शास्त्रीय खंडन-मंडन के आरपार होकर यदि हम रस और अलंकार के पारस्परिक भेद और सम्बन्ध-तत्त्व का स्पष्टीकरण करें तो बात अधिक साफ होगी।

असल में रस तो काव्य की आत्मा है। कवि के लिए मूल साध्य तो यह रस ही है। अलंकार उस साध्य की प्राप्ति के साधन हैं।

अलंकार कविता में सौंदर्य के उत्पादन के साधन मात्र होते हैं; प्रत्यक्ष दृष्टि से अलंकार शब्दार्थ रूप शरीर को शोभित करते हैं परन्तु मूलतः रस रूप आत्मा का ही शोभावर्धन या उपकार करते हैं।

रस तो अलंकार्य है; उपमादि अलंकार हैं। इन अलंकारों का कार्य है अलंकार्य में चमत्कारोत्पादन। अलंकार तो रस के चारुत्व की अभिवृद्धि करते हैं।

जब कुछ आचार्यों ने यह आरोप लगाया कि अलंकार किसी का चारुत्व नहीं बढ़ाता, बल्कि स्वयं अपनी शोभा का ही विधान करता है तो आचार्य कुन्तक ने बड़ी सव्यंग्य टिप्पणी देते हुए कहा कि क्या कोई अपने कंधे पर स्वयं भी चढ़ सकता है?

काव्य में रस का उपकार या शोभावर्धन करने के लिए ही अलंकारों का प्रयोग होता है। रस तथा भाव की पुष्टि के लिए ही काव्य में अलंकारों का विन्यास होता है। अगर अलंकार रस तथा भाव की पुष्टि नहीं करता है तो अलंकार का अलंकारत्व सिद्ध नहीं होता। इस सम्बन्ध में ध्वन्यालोककार का मंतव्य देखने लायक है।

"रसभावादि-तात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम्।
अलंकृतीनां सर्वासामलंकारत्वसाधनम्॥"

—(ध्वन्यालोक ३।६)

आनन्दवर्धन ने इस क्रम में रस की पुष्टि के लिए अलंकारों के औचित्यपूर्ण प्रयोग की युक्तियाँ बतलायी हैं। **उनके अनुसार विप्रलंभ शृंगार के लिए यमक अलंकार का प्रयोग निन्दनीय अथवा वर्जित माना जाना चाहिए।**

काव्य में रस की पुष्टि के लिए अलंकारों के प्रयोग से सम्बन्धित आनन्द-वर्धन, अभिनवगुप्त और प्रसिद्ध समीक्षक लौंगिनस (Longinus) के मतों को देखना अनिवार्य-सा है।

ध्वन्यालोककार का यह दृष्टिकोण सर्वथा उचित है—

"रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत्।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलंकारो ध्वनौ मतः॥"

अलंकार और वक्रोक्ति

भामह ने ही अलंकार के लिए वक्रोक्ति को आधारभूत तत्त्व के रूप में स्वीकार किया था। उनके अनुसार वक्र अर्थ का कथन जब शब्दों में होता है तभी शब्दों में वह चमत्कार आता है, जिसे अलंकार कहते हैं। अभिनवगुप्त ने तो भामह की सहायता से ही यह स्पष्ट कहा था कि शब्द जितना कहता है, उससे अधिक जब कहने लगे, अर्थ जितना है, उससे अधिक दूर की बात जब व्यक्त करने लगे, तभी शब्द और अर्थ की वक्रता होती है। वामन ने तो वक्रोक्ति को सादृश्यमूला लक्षणा के कथन के ही रूप में स्वीकार किया था किन्तु कुन्तक ने विदग्ध भंगी से कथन अर्थात् अलौकिक प्रकार की कथनशैली को ही वक्रोक्ति के रूप में स्वीकार किया। वक्रोक्ति के विस्तृत महत्त्व के संस्थापक आचार्य कुन्तक ही हैं।

वक्रोक्ति-सिद्धान्त में काव्य के शिल्प-तत्त्व, रचना-कौशल और विन्यास-तंत्र आदि पर बल है।

किन्तु अलंकार से काव्य के रूप-तत्त्व या बहिरंग का जितना विधान होता है, वक्रोक्ति में वक्रता द्वारा अभिप्रेत चमत्कार अलंकार की तुलना में अपेक्षाकृत अधिक अंतरंग या आत्मस्थानीय दीख पड़ता है।

अधिकतर अलंकारों का अंतर्भाव वक्रोक्ति के भेदों के अंतर्गत हो जाता है। कुन्तक की वक्रोक्ति कवि के रचना-नैपुण्य की चारुता पर आधारित है। अलंकारों के उक्ति-चमत्कार इस चारुता के दासानुदास होते हैं, वशीभूत होते हैं। वक्रोक्ति के छः भेद हैं—

(१) वर्णविन्यास वक्रता, (२) पदपूर्वार्द्ध वक्रता, (३) पदपरार्द्ध वक्रता, (४) वाक्य वक्रता, (५) प्रकरण वक्रता, (६) प्रबन्ध वक्रता।

यद्यपि वक्रोक्ति का सिद्धान्त अलंकार के सिद्धान्त का ही रूपान्तर-सा लगता है किन्तु वक्रोक्ति की विराट् कल्पना तथा तज्जन्य व्यापकता के फलस्वरूप उसे आधुनिक कलावाद के समकक्ष ठहराया जा सकता है।

वक्रोक्ति का सिद्धान्त इतना व्यापक है कि उसके अन्तर्गत शब्दशक्ति की कल्पना का भी अंतर्भाव हो जाता है।

उत्पन्न व्यंजनाओं पर ही निर्भर करता है। अतः काव्य को शब्दों के अर्थ के रूप में न ग्रहण कर प्रतीकों के स्थापत्य के रूप में ग्रहण करना होगा।"

कविता में शब्दों के संकेतग्रह पर दिनकर जी भी बल देते हैं :

"असली वस्तु शब्दों के अर्थ नहीं, संकेत हैं और संकेत तो शब्द बहुत दूर तक दिया करते हैं।" ('रीतिकाल का नया मूल्यांकन' शीर्षक निबन्ध)

शब्दों की सांकेतिकता के बिना कविता अकविता है। वह पद्य है, कविता नहीं। अलंकारों में जब कवि की विवक्षित ध्वनि सार्थकता-लाभ करती है, तभी कवि का रचना-शिल्प अपनी गरिमा पाता है। प्रायः अन्योक्तियों का तो पूरा व्यक्तित्व ही इसी व्यंजना का स्थापत्य है। यों प्रपद्यवादी कवियों ने शब्दालंकारों में भी गूढ़ संकेतग्रह की प्रतिष्ठा की है; जैसे—

"आसपा पासपा ताल के
(····पायल के बाँध के··
जूना, सोता, काक-कीं)।"

इसे हम 'आसपास पाताल के' भी पढ़ सकते हैं। Recitation की लय को संकेतग्रह से गुम्फित करने का कार्य है; शब्दाश्रित अलंकार में, अन्य अर्थ की प्रतीति की छूट मिल जाती है; प्रतीयमान कथ्य भी बाद में खुल पड़ता है। यों आज की कविता में निहित संकेतग्रह को मुद्रणगत प्रयोग भी शक्ति दे रहे हैं; कविता में सम्मूर्त्तन के आग्रह का यह युग है, शायद इसीलिए। शब्दों की समर्थता के सहायक हैं ये मुद्रण-प्रयोग, चूँकि यह युग classic verse या श्रेण्य कविता का है, इसीलिए आज की कविता में व्यंजना का स्थापत्य अनिवार्य हो उठा है। लेकिन महाकवित्व की साधना के लिए बहुत पहले ध्वनि-सम्प्रदाय के आचार्य ने कह दिया था—

"प्रतीयमान अर्थ और उसकी अभिव्यक्ति में समर्थ विशेष शब्द— इन दोनों को भली भाँति पहचानने का यत्न महाकवि को करना चाहिए। अर्थात् वह व्यंग्य अर्थ और उसको अभिव्यक्त करने की शक्ति से युक्त कोई विशेष शब्द ही है; शब्द-मात्र नहीं। महाकवि बनने के अभिलाषी को उसी शब्द और अर्थ को भली भाँति पहचानना चाहिए। व्यंग्य और व्यंजक के सुन्दर प्रयोग से ही महाकवियों को महाकवि-पद की प्राप्ति होती है; वाच्य-वाचक रचनामात्र से नहीं।"

(ध्वन्यालोक की अभिनवगुप्तकृत टीका)

व्यंग्यार्थ के सम्बन्ध में शुक्ल जी का यह अभिमत द्रष्टव्य है—

"व्यंग्य वाक्य विभिन्न व्यक्तियों के प्रति भिन्न-भिन्न अर्थ धारण करता हुआ विविध प्रकार अर्थात् संख्या का हो जाता है। जैसे 'सूर्य अस्त हुआ' का अर्थ साधारणतया साँझ का समय होता है, किन्तु दूती-वाक्य होने पर 'नायक के पास अभिसार करने का समय' व्यंजित करेगा।"

इस क्रम में हम श्री नलिन विलोचन शर्मा की यह कविता देख सकते हैं—

"सड़क का यकृत खराब था,
उसे सुखंडी हो गयी थी :
ठूँठ।"

यहाँ रूपक व्यंग्य है। रूपक के उपमेय रोगी मनुष्य और वृक्ष—यहाँ व्यंजना के सहारे ही स्पष्ट होते हैं।

कभी-कभी तो ऐसा भी होता है कि वाच्यार्थ में संदेह अलंकार होता है किन्तु व्यंजना की शक्ति से वहाँ उपमा अलंकार ही प्रमुख हो उठता है। जैसे पंडितराज जगन्नाथ का यह मुक्तक—

"तीर पर तरुणी का सहास मुख है और जल में सरोज है, मकरन्दलोभी किशोर भ्रमरों का दल दोनों तरफ देख-देख कर, मुग्ध हो-होकर दौड़ रहा है।"

यहाँ वाच्यार्थ में तो संदेह है किन्तु व्यंग्यार्थ में उपमा, चूँकि तरुणी के सहास मुख और पद्म में सादृश्य है। और मकरन्दलोभी किशोर भ्रमरों के दल का ज्ञान द्विकोटिक है, अतः अनिश्चय बना हुआ है। यह संदेह केवल सादृश्य की व्यंजना करता है। यहाँ प्रतीयमान अर्थ केवल व्यंजनाशक्ति की सहायता से प्राप्त हुआ है।

यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि उत्तम कोटि के काव्य में भी अलंकार हमेशा व्यंग्य नहीं रहते। लेकिन अलंकार जब व्यंग्य हो जाता है, तो उसके प्रतीयमान अर्थ की प्राप्ति से एक विशेष प्रकार का आनन्द मिलता है। अलंकार वाच्य भी होता है, लक्ष्य भी और व्यंग्य भी। तीनों के चमत्कार में मात्रा और प्रकार का अन्तर निश्चित रूप से रहता है। अलंकार जब व्यंग्य या प्रतीयमान होकर आता है तो काव्य का बहिर्भूत भूषण कभी नहीं हो सकता। काव्य के आत्मभूत रस का वह अंग हो जाता है, उससे अलग काव्य की सजीव आत्मसत्ता का ही लोप हो जायेगा। ध्वनि-सम्प्रदाय के आचार्यों ने इसीलिए इस स्थिति में ही, अलंकार को काव्य का आत्मभूत स्वीकार किया। चूँकि अलंकार कभी-कभी काव्य का आत्मभूत हो जाता है और उससे उत्तम काव्य की सृष्टि होती है, अतः प्रपद्यवादी धारा के चिंतक श्री नरेश जी ने व्यंजना को काव्य के स्थापत्य का मूल तत्त्व माना—

"रसोद्रेक, शब्दों की योजना अर्थात् प्रतीकों की अपनी व्यंजनात्मकता (suggestiveness) है, अतः वह शब्द पारस्परिकता और सान्निध्य के कारण

रस और अलंकार

शास्त्रीय खंडन-मंडन के आरपार होकर यदि हम रस और अलंकार के पारस्परिक भेद और सम्बन्ध-तत्त्व का स्पष्टीकरण करें तो बात अधिक साफ होगी।

असल में रस तो काव्य की आत्मा है। कवि के लिए मूल साध्य तो यह रस ही है। अलंकार उस साध्य की प्राप्ति के साधन हैं।

अलंकार कविता में सौंदर्य के उत्पादन के साधन मात्र होते हैं; प्रत्यक्ष दृष्टि से अलंकार शब्दार्थ रूप शरीर को शोभित करते हैं परन्तु मूलतः रस रूप आत्मा का ही शोभावर्धन या उपकार करते हैं।

रस तो अलंकार्य है; उपमादि अलंकार हैं। इन अलंकारों का कार्य है अलंकार्य में चमत्कारोत्पादन। अलंकार तो रस के चारुत्व की अभिवृद्धि करते हैं।

जब कुछ आचार्यों ने यह आरोप लगाया कि अलंकार किसी का चारुत्व नहीं बढ़ाता, बल्कि स्वयं अपनी शोभा का ही विधान करता है तो आचार्य कुन्तक ने बड़ी सव्यंग्य टिप्पणी देते हुए कहा कि क्या कोई अपने कंधे पर स्वयं भी चढ़ सकता है?

काव्य में रस का उपकार या शोभावर्धन करने के लिए ही अलंकारों का प्रयोग होता है। रस तथा भाव की पुष्टि के लिए ही काव्य में अलंकारों का विन्यास होता है। अगर अलंकार रस तथा भाव की पुष्टि नहीं करता है तो अलंकार का अलंकारत्व सिद्ध नहीं होता। इस सम्बन्ध में **ध्वन्यालोककार** का मंतव्य देखने लायक है।

> "रसभावादि-तात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम्।
> अलंकृतीनां सर्वासामलंकारत्वसाधनम् ॥"
>
> —(ध्वन्यालोक ३।६)

आनन्दवर्धन ने इस क्रम में रस की पुष्टि के लिए अलंकारों के औचित्यपूर्ण प्रयोग की युक्तियाँ बतलायी हैं। **उनके अनुसार विप्रलंभ शृंगार के लिए यमक अलंकार का प्रयोग निन्दनीय अथवा वर्जित माना जाना चाहिए।**

काव्य में रस की पुष्टि के लिए अलंकारों के प्रयोग से सम्बन्धित आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त और प्रसिद्ध समीक्षक लौंगिनस (Longinus) के मतों को देखना अनिवार्य-सा है।

ध्वन्यालोककार का यह दृष्टिकोण सर्वथा उचित है—

> "रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत्।
> अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलंकारो ध्वनौ मतः ॥"

अलंकार और वक्रोक्ति

भामह ने ही अलंकार के लिए वक्रोक्ति को आधारभूत तत्त्व के रूप में स्वीकार किया था। उनके अनुसार वक्र अर्थ का कथन जब शब्दों में होता है तभी शब्दों में वह चमत्कार आता है, जिसे अलंकार कहते हैं। अभिनवगुप्त ने तो भामह की सहायता से ही यह स्पष्ट कहा था कि शब्द जितना कहता है, उससे अधिक जब कहने लगे, अर्थ जितना है, उससे अधिक दूर की बात जब व्यक्त करने लगे, तभी शब्द और अर्थ की वक्रता होती है। वामन ने तो वक्रोक्ति को सादृश्यमूला लक्षणा के कथन के ही रूप में स्वीकार किया था किन्तु कुन्तक ने विदग्ध भंगी से कथन अर्थात् अलौकिक प्रकार की कथनशैली को ही वक्रोक्ति के रूप में स्वीकार किया। वक्रोक्ति के विस्तृत महत्त्व के संस्थापक आचार्य कुन्तक ही हैं।

वक्रोक्ति-सिद्धान्त में काव्य के शिल्प-तत्त्व, रचना-कौशल और विन्यास-तंत्र आदि पर बल है।

किन्तु अलंकार से काव्य के रूप-तत्त्व या बहिरंग का जितना विधान होता है, वक्रोक्ति में वक्रता द्वारा अभिप्रेत चमत्कार अलंकार की तुलना में अपेक्षाकृत अधिक अंतरंग या आत्मस्थानीय दीख पड़ता है।

अधिकतर अलंकारों का अंतर्भाव वक्रोक्ति के भेदों के अंतर्गत हो जाता है। कुन्तक की वक्रोक्ति कवि के रचना-नैपुण्य की चारुता पर आधारित है। अलंकारों के उक्ति-चमत्कार इस चारुता के दासानुदास होते हैं, वशीभूत होते हैं। वक्रोक्ति के छः भेद हैं—

(१) वर्णविन्यास वक्रता, (२) पदपूर्वार्द्ध वक्रता, (३) पदपरार्द्ध वक्रता, (४) वाक्य वक्रता, (५) प्रकरण वक्रता, (६) प्रबन्ध वक्रता।

यद्यपि वक्रोक्ति का सिद्धान्त अलंकार के सिद्धान्त का ही रूपान्तर-सा लगता है किन्तु वक्रोक्ति की विराट् कल्पना तथा तज्जन्य व्यापकता के फलस्वरूप उसे आधुनिक कलावाद के समकक्ष ठहराया जा सकता है।

वक्रोक्ति का सिद्धान्त इतना व्यापक है कि उसके अन्तर्गत शब्दशक्ति की कल्पना का भी अंतर्भाव हो जाता है।

रस और अलंकार

शास्त्रीय खंडन-मंडन के आरपार होकर यदि हम रस और अलंकार के पारस्परिक भेद और सम्बन्ध-तत्त्व का स्पष्टीकरण करें तो बात अधिक साफ होगी।

असल में रस तो काव्य की आत्मा है। कवि के लिए मूल साध्य तो यह रस ही है। अलंकार उस साध्य की प्राप्ति के साधन हैं।

अलंकार कविता में सौंदर्य के उत्पादन के साधन मात्र होते हैं; प्रत्यक्ष दृष्टि से अलंकार शब्दार्थ रूप शरीर को शोभित करते हैं परन्तु मूलतः रस रूप आत्मा का ही शोभावर्धन या उपकार करते हैं।

रस तो अलंकार्य है; उपमादि अलंकार हैं। इन अलंकारों का कार्य है अलंकार्य में चमत्कारोत्पादन। अलंकार तो रस के चारुत्व की अभिवृद्धि करते हैं।

जब कुछ आचार्यों ने यह आरोप लगाया कि अलंकार किसी का चारुत्व नहीं बढ़ाता, बल्कि स्वयं अपनी शोभा का ही विधान करता है तो आचार्य कुन्तक ने बड़ी सव्यंग्य टिप्पणी देते हुए कहा कि क्या कोई अपने कंधे पर स्वयं भी चढ़ सकता है?

काव्य में रस का उपकार या शोभावर्धन करने के लिए ही अलंकारों का प्रयोग होता है। रस तथा भाव की पुष्टि के लिए ही काव्य में अलंकारों का विन्यास होता है। अगर अलंकार रस तथा भाव की पुष्टि नहीं करता है तो अलंकार का अलंकारत्व सिद्ध नहीं होता। इस सम्वन्ध में ध्वन्यालोककार का मंतव्य देखने लायक है।

"रसभावादि-तात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम्।
अलंकृतीनां सर्वासामलंकारत्वसाधनम् ॥"

—(ध्वन्यालोक ३।६)

आनन्दवर्धन ने इस क्रम में रस की पुष्टि के लिए अलंकारों के औचित्यपूर्ण प्रयोग की युक्तियाँ बतलायी हैं। **उनके अनुसार विप्रलंभ शृंगार के लिए यमक अलंकार का प्रयोग निन्दनीय अथवा वर्जित माना जाना चाहिए।**

काव्य में रस की पुष्टि के लिए अलंकारों के प्रयोग से सम्वन्धित आनन्द-वर्धन, अभिनवगुप्त और प्रसिद्ध समीक्षक लौंगिनस (Longinus) के मतों को देखना अनिवार्य-सा है।

ध्वन्यालोककार का यह दृष्टिकोण सर्वथा उचित है—

"रसाक्षिप्ततया यस्य वन्धः शक्यक्रियो भवेत्।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलंकारो ध्वनौ मतः ॥"

अर्थात् अलंकार रसों के द्वारा आकृष्ट होते हैं, आक्षिप्त होते हैं। रस स्वयं को मूर्त्त करने के क्रम-पथ पर अलंकार को आकृष्ट कर लेता है। अतएव महाकवि के लिए रस और अलंकार पृथक्-पृथक् प्रयत्न से अर्जित नहीं होते, बल्कि दोनों की प्राप्ति के लिए अपृथक् यत्न करना होता है, एक ही और अभिन्न प्रयत्न से दोनों की सिद्धि स्वतः हो जाती है।

उपर्युक्त उद्धरण से यह स्पष्ट है कि रस के साथ ही अलंकार लगे हुए चले आते हैं; रस की योजना ही अलंकारमयी होती है।

इसीलिए आनन्दवर्धन का यह मत भी एकदम समीचीन जान पड़ता है कि "रसाभिव्यक्ति-व्यापार के क्रम में अलंकार-समूह काव्य का बहिरंग व्यापार नहीं होता।"—

"न तेषां बहिरंगत्वं रसाभिव्यक्तौ।"

फिर अभिनवगुप्त का भी यह मत ध्यान देने योग्य है कि रस बीज-रूप है और काव्य उसी का वृक्ष-रूप है। बीज जिस प्रकार स्वयं को प्रस्फुटित करने के क्रम में शाखा-पल्लव-पुष्प-फल-समन्वित वृक्ष की सृष्टि करता है, उसी तरह रस भी अपनी अभिव्यक्ति के आवेग में वाच्य-रीति-छन्द-अलंकारमय काव्य की रचना करता है।

आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त के मतानुसार हमने तो यह देखा कि रस के साथ अलंकार प्रकृत अभिव्यक्ति की तरह लगे रहते हैं। लेकिन लौंगिनस का यह मत भी काफी चिंतनयुक्त है कि—

"A figure looks best when it escapes one's notice that it is a figure." अर्थात् अलंकार वही सर्वोत्तम होता है जब पाठक को इस बात का ध्यान नहीं रहता कि यह अलंकार है।

'काव्य में उदात्त तत्त्व' के लेखक लौंगिनस के मत में यह अभिप्रेत है कि पाठक जब कविता के साथ इस तरह तल्लीन हो जाय कि उसके अलंकार पृथक् सत्ता का भान नहीं कराएँ तभी उसकी चरम सिद्धि है।

अभिनवगुप्त ने काव्य में अलंकारों के औचित्य के सम्बन्ध में लिखा है कि काव्य में अलंकार की दो अवस्थाओं में उपयोगिता होती है।

१. पहली अवस्था वह है जब अलंकार में किसी अलंकार्य (रस) की सत्ता विद्यमान हो।

२. दूसरी अवस्था वह है जब अलंकार अलंकार्य का औचित्य प्रस्तुत करता हो।

इस तरह अभिनवगुप्त हर अवस्था में अलंकार को रस की सिद्धि का साधन मानते हैं।

सेठ कन्हैया लाल पोद्दार ने 'काव्यकल्पद्रुम' के प्रथम भाग में पृष्ठ-संख्या ३२९ से ३३७ तक 'अलंकार और रस' के पारस्परिक सम्बन्ध का बड़ा अच्छा विवेचन किया है।

उनके कुछ निष्कर्षों को हम सूत्र रूप में रख रहे हैं—

१. तरंग, रंग, कुंजनि, गुंजनि, भनक, बनक इत्यादि अनुस्वारयुक्त अनुप्रासों की योजना से पहले तो शब्द-समूह अलंकृत होता है, शोभासम्पन्न होता है, बाद में शृंगार रस का उपकार होता है क्योंकि अनुस्वार की अधिकता शृंगार-रस का व्यंजक है।

२. "छिन-छिन विष की-सी लहर बढ़त-बढ़त ही जाहिं।
लगी निगोड़ी लगन यह छोड़ी छूटत नाहिं॥"

यहाँ लगन को कवि विष की-सी लहर कहता है, जिससे उपमा अलंकार की सिद्धि होती है। इस प्रकार यहाँ लगन या पूर्वानुराग को विष के समान फैलने की उपमा से विप्रलंभ या वियोग शृंगार का उत्कर्ष व्यंजित होता है। अतः यहाँ पर उपमा से रस का उपकार हो रहा है।

३. अलंकार रस का उपकारक हो, इसके लिए अनिवार्य शर्त्त यह है कि

(क) रसात्मक काव्य में अलंकार का समावेश उचित अवसर पर हो।

(ख) अलंकार का अंत तक निर्वाह न हो या यदि हो तो अलंकार प्रधान न रहे।

(ग) अलंकार रस का अंगभूत होकर रहे।

अपने इस सैद्धांतिक मन्तव्य की पुष्टि के लिए सेठ कन्हैया लाल पोद्दार ने कई उदाहरण दिये हैं, जिनमें एक प्रमुख उदाहरण यह है—

"दोऊ चाह भरे कछू चाहत कह्यो, कहैं न;
नहिं जाचक सुनि सूम लौं बाहर निकसत बैन।"

यहाँ नायक-नायिका दोनों एक-दूसरे को कुछ कहना चाहते हैं लेकिन संकोच के मारे कुछ कह नहीं पाते; सामाजिक बाधा से उत्पन्न अन्तर्द्वन्द्व के कारण दोनों कुछ बोल नहीं पाते, ठीक उसी तरह जैसे कंजूस याचक को कुछ देने में सोचता-विचारता है और निकाल नहीं पाता। यहाँ पर नायक-नायिका की व्रीड़ा के भाव की, शृंगार रस की व्रीड़ा की पुष्टि होती है इस उपमा अलंकार से। अतः यहाँ उपमा अलंकार प्रमुख नहीं है, वह तो गौण हो गया है; प्रमुख है शृंगार रस के व्रीड़ाभाव की व्यंजना।

४. काकतालीय न्याय से यदि कोई अलंकार स्वयं निस्पादित हो जाय या बिना प्रयत्न के स्वयं यदि कोई अलंकार रस के साथ लगा हुआ चला आये और रस की सिद्धि में योग दे तो काव्य की हानि नहीं होती; किन्तु जब शृंगार रस में यमक, सभंग श्लेष एवं चित्रबंध अलंकारों की प्रधानता कर दी जाती है तो उनके चमत्कार में पाठकों की बुद्धि संलग्न हो जाती है और अभिप्रेत काव्यात्म आनन्द-तत्त्व या रस

का विधान सिद्ध नहीं हो पाता। ऐसी स्थिति में अलंकार स्पृहणीय नहीं कहे जा सकते। अलंकारों की सार्थकता है काव्य को आस्वादनीय बनाने में।

प्रो० जगदीश पाण्डेय ने रस के उदात्त तत्त्व पर विस्तार से विचार किया है। 'साहित्य' में धारावाहिक रूप से 'उदात्त की भावना' पर विचार करते हुए उन्होंने प्रमाणित किया है कि हर रस उदात्त तक पहुँचता है; जैसे शृंगार जब उदात्त तक पहुँचता है तो वह शृंगारोदात्त कहलायगा, उसी तरह वीरोदात्त, करुणोदात्त आदि-आदि। उन्होंने इसी क्रम में रस की उदात्त कोटि में सिद्धि का निरूपण करते हुए लिखा है—

"जिस तरह रस का शृंगार या रौद्र एक विशेषण है, गुण है, उसी तरह उदात्त इस विशेष गुण की सिद्धि-विशेष है। रस के प्रत्येक सगुण-विशेष (यथा—शृंगार, रौद्र) का उदात्त एक उत्थान-विशेष है, विभूति-विशेष है, ऐश्वर्यसिद्धि है, कोटि-सिद्धि है, कोई भी भाव अपने तात्त्विक स्रोत में ज्योंही हमें रमाने लगता है, उसकी वह कोटि-सिद्धि हो जाती है, जिसे उदात्त की संज्ञा देते हैं।"

अलंकार और काव्यगत रस के इस उदात्त तत्त्व का क्या पारस्परिक सम्बन्ध है, इस पर विचार कर लेना आवश्यक है। इस सम्बन्ध में एक विख्यात समीक्षक लौंगिनस की राय हमें सचमुच वैज्ञानिक दृष्टि दे सकती है—

"जिस प्रकार सूर्य के प्रखर आलोक में सभी मंद दीपक बुझ जाते हैं, उसी प्रकार उदात्त के सर्वव्यापी ऐश्वर्य में नहाकर सभी आलंकारिक चमत्कार दृष्टि से ओझल हो जाते हैं।" (डॉ० नगेन्द्र द्वारा अनूदित लौंगिनस की पुस्तक 'काव्य में उदात्त तत्त्व'— पृ० ७७)

"एक प्रकार के प्राकृतिक नियम के अनुसार अलंकार औदात्त्य को अवलम्ब प्रदान करते हैं और बदले में वे स्वयं भी उससे अद्भुत बल प्राप्त करते हैं।" (वही—पृ० ७६)

इस तरह रस की उदात्त सिद्धि अलंकारों को बल देती है और अलंकारों से बल भी प्राप्त करती है। पारस्परिक संपृक्तता की यह स्थिति ही वांछनीय है, जिससे कि अलंकार काव्य में अन्यतम स्थान के अधिकारी बने हुए हैं। अलंकार विशेष प्रकार की आवेग-व्याकुल मनःस्थिति में भाषा के आवर्त्त-धर्म बनकर आते हैं, तो रस की सिद्धि अलंकारों से विच्छिन्न होकर कैसे संभव है? काव्य के आत्म-तत्त्व की प्रतिष्ठा काव्यभाषा के इन्हीं शोभा-विधायक धर्मों पर आश्रित है। इसलिए ही आनन्दवर्धन की यह उक्ति समीचीन है कि "प्रतिभाशाली कवि के रस-समाहित चित्त में से अलंकार-समूह होड़ाहोड़ी, ठेलाठेली कर बाहर अभिव्यक्त होते हैं।"

अलंकार और अलंकार्य

भारतीय काव्यशास्त्र के प्रमुख छः सम्प्रदाय हैं—

१. अलंकार-सम्प्रदाय,

२. रीति-सम्प्रदाय,

३. वक्रोक्ति-सम्प्रदाय,

४. रस-सम्प्रदाय,

५. ध्वनि-सम्प्रदाय,

६. औचित्य-सम्प्रदाय ।

इनमें से कुछ सम्प्रदाय हैं जो अलंकार, रीति, वक्रोक्ति आदि काव्य के विधान-पक्ष पर ज्यादा जोर देते हैं। इसलिए इन तीनों सम्प्रदायों को हम अलंकार-सम्प्रदाय का ही विस्तार मान सकते हैं।

रस, ध्वनि और औचित्य— सम्प्रदाय मूल रूप में काव्य की आत्मा के सम्बन्ध में विचार करते हैं, इसलिए इन्हें अलंकार्य-सम्प्रदाय में हम अन्तर्भुक्त कर सकते हैं।

सभी सम्प्रदायों को मात्र दो वर्गों में विभाजित करने के पीछे एक बड़ा तर्क निहित है। वह यह है कि काव्य में उसके वस्तु-पक्ष और विधान-पक्ष को ही दृष्टि-पथ पर रखकर ये दोनों सम्प्रदाय चलते हैं।

अलंकार और अलंकार्य के भेद को पहले हम स्पष्ट कर दें। अलंकार तो काव्य की शोभा बढ़ाने वाले धर्म होते हैं लेकिन काव्य का जो मूलभूत कथ्य होता है, काव्य की जो आत्मसत्ता होती है, उसे हम क्या कहेंगे ?

अलंकार्य शब्द का अर्थ हम यों कर सकते हैं— जिसका अलंकरण किया जाय वही अलंकार्य है। लोग कहेंगे कि अलंकार तो भाषा को ही चमत्कृत करता है, तो क्या भाषा ही अलंकार्य है ?

इसी प्रश्न का उचित समाधान करने के लिए रस और ध्वनि सम्प्रदाय के आचार्य यह मानते हैं कि शब्द और अर्थ प्रत्यक्षतः अलंकार्य हैं; किन्तु मूलतः अलंकार्य है— रस। उनलोगों के इस कथन का बड़ा व्यापक अर्थ है। ऊपरी दृष्टि से देखने पर लगता है कि शब्दार्थ ही अलंकार्य है किन्तु मूल रूप में रस ही अलंकार्य होता है।

प्रत्यक्ष दृष्टि से शब्दार्थ को अलंकार्य के रूप में स्वीकार कर रस और ध्वनि

के अनुयायियों ने सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि और वैज्ञानिक मीमांसा का परिचय दिया। वे शब्दार्थ और काव्य के व्यंग्य को अविच्छिन्न रूप से सम्बद्ध मानते हैं। काव्य के आत्मस्थानीय तत्त्व और शिल्प के अपरिहार्य सम्बन्ध पर यहाँ बल है। आधुनिक आलोचक श्री नन्ददुलारे वाजपेयी ने 'आलोचना' के काव्यालोचन-शेषांक के सम्पादकीय में इसी तथ्य की पुनः पुष्टि की है— "अलंकार केवल पहले से सुन्दर वस्तु को अधिक सुन्दर बनाने के उपकरण नहीं हैं। काव्य के मौलिक स्वरूप से उनका गहरा सम्बन्ध है।" ध्वनिवादी आचार्यों ने अलंकार-सिद्धान्त का खंडन भी किया है और जहाँ अलंकार की अनिवार्यता है, वहाँ उसकी युक्तियुक्त सामर्थ्य का निदर्शन भी किया है। आनन्दवर्धन ने अपने ग्रन्थ के प्रथम उद्योत में ही समासोक्ति, आक्षेप, दीपक, अपह्नुति, अनुक्तनिमित्तक विशेषोक्ति, पर्यायोक्ति और संकर अलंकार के उदाहरणों में व्यंग्य की अपेक्षा वाच्य की प्रधानता दिखायी है। इसी आधार पर उन्होंने रस-सिद्धान्त का खंडन किया कि ध्वनि का अन्तर्भाव अलंकार में हो सकता है। आनन्दवर्धन के अनुसार ध्वनि व्यंग्यप्रधान है और ये कुछ अलंकार वाच्य-प्रधान हैं। तो ध्वनि का अन्तर्भाव इसमें कैसे हो सकता है? ध्वनि काव्य के अंगों के रूप में स्वीकृत है और अलंकार को ध्वनि का अंगभूत माना गया है।

इस तरह ध्वनि को काव्य की आत्मा या अलंकार्य माना गया है।

मम्मट के अनुसार तो अलंकार का कार्य है अलंकार्य में चमत्कारोत्पादन। अलंकार तो रस और ध्वनि के चारुत्व को बढ़ाते हैं। अतः रस और ध्वनि काव्य के अलंकार्य हैं।

इस तरह अलंकार प्रत्यक्ष रूप से शब्दार्थ को अलंकृत करते हैं और मूल रूप में रस का संवर्द्धन करते हैं।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने काव्य के प्रस्तुत अर्थ को अलंकार्य माना है। उनके अनुसार अलंकार और अलंकार्य में निश्चित तथा अमिट भेद है। उदाहरण के के लिए प्रसादजी की ये पंक्तियाँ—

"नील परिधान बीच सुकुमार,
खुल रहा मृदुल अधखिला अंग;
खिला हो ज्यों बिजली का फूल,
मेघ-वन बीच गुलाबी रंग।"

इसमें श्रद्धा का सौंदर्य-वर्णन प्रस्तुत है; और बिजली का फूल तथा मेघ-वन आदि अप्रस्तुत हैं। इसलिए प्रस्तुत ही अलंकार्य है तथा अप्रस्तुत अलंकार है। ये सभी अप्रस्तुत श्रद्धा के कमनीय रूप के उपकारक हैं। इस तरह अलंकार अलंकार्य के उपकारक हैं।

ध्वनिकार के अनुसार अलंकार्य तो काव्य का आत्मस्थानीय तत्त्व है। यहाँ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जिसे प्रस्तुत अर्थ कहते हैं, वही प्रस्तुत अर्थ अपनी गहनता में

काव्य का आत्मस्थानीय तत्त्व बन जाता है। ध्वनिकार ने काव्य के आत्मस्थानीय तत्त्व या अलंकार्य के रूप में व्यंग्यत्रयी को माना है— (१) रसभावादि, (२) व्यंजित वस्तु और (३) अलंकार।

रस सम्प्रदाय के आचार्यों ने रस को ही काव्य का व्यंग्य माना है— पर ध्वनि-सम्प्रदाय के आचार्यों ने वस्तु और अलंकार की भी व्यंग्य-सिद्धि स्वीकृत की है। वस्तु और अलंकार सदैव व्यंग्य नहीं रहते, विकल्प से व्यंग्य रहते हैं। परन्तु रस तो सदैव व्यंग्य रहता है।

इस तरह यहाँ स्पष्ट है कि अलंकार भी कभी-कभी व्यंग्य होता है और वह जब व्यंग्य होता है तो काव्य का आत्मस्थानीय तत्त्व हो जाता है। लेकिन अलंकार्य से वह भिन्न रहता है। जिस तरह अप्रस्तुत कभी-कभी आत्मभूत होकर भी प्रस्तुत नहीं हो पाते, ठीक उसी तरह से।

अन्त में हम इतना ही कहेंगे कि अलंकार काव्य के अलंकार्य की शोभा बढ़ाते हैं; दूसरे शब्दों में प्रस्तुत की शोभा बढ़ाने के लिए ही अप्रस्तुतों का विधान होता है। अलंकार्य प्रस्तुत अर्थ होता है और अलंकार अप्रस्तुत शब्दार्थ।

रीति, गुण और अलंकार

रीति-सम्प्रदाय के आचार्यों ने गुण और अलंकार के पारस्परिक पार्थक्य की बड़ी सूक्ष्म विवेचना की है। वामन ही सर्वप्रथम ऐसे आचार्य हैं जो गुण की महत्ता का प्रतिपादन करते हैं। काव्य में वह अलंकारों की अपेक्षा गुण के महत्त्व पर सतर्क बल डालते हैं। उनके अनुसार—

"काव्यशोभायाः कर्तारो धर्माः गुणाः।
तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः।"

अर्थात्, काव्य की शोभा करने वाले धर्म गुण कहलाते हैं तथा कव्य में शोभा को अतिशय करने वाले धर्म अलंकार कहलाते हैं।

वामन के द्वारा प्रस्तुत इस पार्थक्य के संकेत से इतना तो स्पष्ट ही है कि गुण काव्य की शोभा के नित्य धर्म हैं और अलंकार अनित्य धर्म हैं।

रीति-सम्प्रदाय के आचार्य वामन ने ही सबसे पहले काव्य की आत्मा के अन्वेषण का प्रश्न उपस्थित किया था। अपने इस प्रश्न के साथ वह उत्तर भी लिये खड़े थे कि काव्य की आत्मा रीति है। रीति की व्याख्या करते हुए वह कहते थे कि विशिष्ट पद-रचना ही रीति है। विशिष्ट से उनका तात्पर्य था गुणात्मा— "विशेषो गुणात्मा"। जिस पद-रचना की आत्मा गुणयुक्त है या जिस पद-रचना की आत्मा गुण है, वही काव्य की आत्मा है। इस प्रकार वह गुण को पद-रचना की आत्मा के रूप में स्वीकार करते हैं और गुणात्म पद-रचना को वह काव्य की आत्मा मानते हैं।

वामन ने ही स्पष्ट घोषित किया कि गुण अपनी अकेली स्थिति में भी काव्य की शोभा का निर्वाह कर सकता है; किन्तु अलंकार गुणों से रहित होने पर काव्य की शोभा का हनन ही करेगा।

अलंकार और गुण के पारस्परिक अन्तर के स्पष्टीकरण के लिए डॉ० नगेन्द्र का मंतव्य द्रष्टव्य है—

"यहाँ यह प्रश्न उठता है कि पारिभाषिक शब्दों के आवरण को हटाकर देखा जाय तो गुणात्मा रीति और अलंकार में वस्तुगत भेद क्या है? और स्पष्ट शब्दों में शब्दार्थ का कौन-सा प्रयोग रीति है, कौन-सा अलंकार? वामन ने रीति का लक्षण किया है 'विशिष्टा पदरचना'— अर्थात् गुणमयी पद-रचना। गुण के दो भेद हैं,

शब्दगुण और अर्थगुण। शब्दगुण में वर्ण-योजना तथा समास-प्रयोग पर आश्रित सौंदर्य और अर्थगुण में उपयुक्त सार्थक शब्दचयन एवं रागात्मक तथा प्रज्ञात्मक तथ्यों के सुचारु क्रमबंध का अंतर्भाव है। इस प्रकार रीति से अभिप्राय ऐसी रचना से है जो अपनी वर्ण-योजना, समस्त पदों के कुशल प्रयोग, उपयुक्त अर्थवान् शब्दों के चयन तथा भावों और विचारों के सुचारु क्रमबंध के कारण मन का प्रसादन करती है। अतएव **रीति में रचना अर्थात् व्यवस्था एवं अनुक्रम का सौंदर्य है।** अलंकार का सौंदर्य अनेक अंशों में इससे भिन्न है। अलंकारों को अलंकारवादियों ने शब्दार्थ (काव्य) का शोभाकर धर्म कहा है।

धर्म शब्द से सबसे पहले तो स्फुटता का द्योतन होता है, अर्थात् अलंकार रचना का **व्यवस्थित सौंदर्य न होकर स्फुट सौंदर्य-विधायक तत्त्व** है। दूसरे, **उसमें चमत्कार का भी आभास** है। आधुनिक शब्दावली में **रीति वस्तुगत शैली का पर्याय है और अलंकार उक्ति-चमत्कार का अथवा शब्दार्थ के प्रसाधन का।** वामन उसको अतिरिक्त प्रसाधन ही मानते हैं। इन दोनों में परस्पर क्या सम्बन्ध है, अब प्रश्न यह है। इसका उत्तर यह है कि रीति का क्षेत्र अधिक व्यापक है— अलंकार रीति का अंग है।" (डॉ० नगेन्द्र द्वारा सम्पादित— हि० सा० का वृहत् इतिहास, भाग-६, पृ० ८१)

डॉ० नगेन्द्र द्वारा प्रस्तुत उपर्युक्त विवेचन से प्राप्त कुछ संकेत हमारा पथ-प्रदर्शन कर सकते हैं, जैसे—

१. रीति व्यवस्था एवं अनुक्रम के सौंदर्य की संज्ञा है।

२. अलंकार रचना की व्यवस्था या प्रणाली न होकर उसमें व्याप्त या प्रस्फुटित तत्त्व है।

३. रीति मूलभूत कथन-शैली है किन्तु अलंकार उस कथन-शैली के शोभा-संपन्न शिखर हैं।

४. अलंकार जो प्रभाव उत्पन्न करता है, उसके मूल में गुणात्मा रीति होती है। अलंकार परिणाम है, रीति कारण।

गुण काव्य की आत्मा रस के नित्य धर्म हैं, अलंकार उत्कर्ष-विधायक तत्त्व हैं और रीति पद-रचना का क्रमबंध या व्यवस्था है। गुणों की समुचित अवस्थिति से ही अलंकार वांछित प्रभाव या चमत्कार की सृष्टि कर पाते हैं; गुणहीन अलंकार बूढ़ी स्त्री की प्रसाधन-सज्जा की तरह है।

अप्रस्तुत और प्रस्तुत

विभावपक्ष के सर्वांगपूर्ण और सार्थक अंकन से पाठकों को भावों के विषय के रूप, गुण, क्रिया और प्रभाव आदि का बोध होता है। यह विभावपक्ष दो रूपों में होता है— (१) प्रस्तुत रूप में तथा (२) अप्रस्तुत रूप में। प्रस्तुत रूप को वस्तु-रूप और अप्रस्तुत रूप को अलंकार-रूप भी कह सकते हैं। आचार्य शुक्ल ने सूरदास पर लिखते हुए कहा है—

"पहले वह कृष्ण के श्याम या नीलवर्ण शरीर को, उस पर पड़े हुए पीतांबर को, त्रिभंगी मुद्रा को, स्मित आनन को, हाथ में ली हुई मुरली को, सिर के कुंचित केश और मोर-मुकुट आदि को सामने रखता है।

यह विन्यास वस्तु-रूप में हुआ।

इसी प्रकार का विन्यास यमुना-तट, निकुंज की लहराती लताओं, चंद्रिका, कोकिल-कूजन आदि का होगा। इनके साथ ही यदि कृष्ण के शोभा-वर्णन में **घन और दामिनी, सनाल कमल आदि उपमान के रूप में वह लाता है तो यह विन्यास अलंकार-रूप में होगा।"**

वस्तु-रूप में जो भी आता है, वह उपमेय तथा अलंकार-रूप में आनेवाला उपमान होता है। इसी उपमान को आचार्यों ने अप्रकृत, अप्राकरणिक, अवर्ण्य, अप्रासंगिक तथा अप्रस्तुत आदि के पर्याय-स्वरूप स्वीकार कर लिया है। मतलब, उपमान के लिए अप्रस्तुत का भी व्यवहार है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल अप्रस्तुत शब्द ही उपमान की जगह पर ज्यादा उपयुक्त मानते हैं। वह यह भी मानते हैं कि

१. प्रस्तुत वस्तु और अप्रस्तुत वस्तु में बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव हो,

२. अप्रस्तुत वह है जो कवि की कल्पना के द्वारा लाया गया हो,

३. अप्रस्तुत प्रस्तुत से रूप-रंग आदि में भी मेल खाता हो,

४. अप्रस्तुत आलंकारिक वस्तु है (काव्य की शोभा का विधान करने वाली वस्तु है)।

उपमान शब्द की सीमा को ध्यान में रखते हुए आचार्य शुक्ल उसके स्थान पर अप्रस्तुत-विधान और अप्रस्तुत-योजना दो शब्दों का व्यवहार करते हैं।

उपमान शब्द केवल औपम्यगर्भ अलंकारों के अप्राकरणिक या अप्रकृत का बोध कराता है। लेकिन अप्रस्तुत शब्द अलंकार की सभी श्रेणियों में व्यवहृत होता है, हो सकता है। इसकी अर्थप्रतीति व्यापक है। पंडित रामदहिन मिश्र ने 'काव्य में अप्रस्तुत-योजना' नामक पुस्तक में लिखा है—

"अप्रस्तुत-योजना बाहर से लायी जाने वाली सभी वस्तुओं को ग्रहण करती है, चाहे अप्रस्तुत का कैसा भी रूप क्यों न हो। अप्रस्तुत विशेष्य हो, विशेषण हो, क्रिया हो, मुहावरा हो, चाहे कुछ हो—इसके भीतर सब समा जाते हैं।"

अप्रस्तुत प्रस्तुत की अपेक्षा ज्यादा शक्तिशाली होते हैं। ये अपनी शक्ति और सत्त्व का संक्रमण प्रस्तुतों में कर देते हैं। उपमेय के स्वरूप-बोध के द्वारा पाठकों का भाव इसीलिए तीव्र होता है, चूँकि उपमेय मात्र स्वयं नहीं रहते, उनकी शक्ति के स्रोत के रूप में उपमान या अप्रस्तुत भी होते हैं।

अलंकार : अप्रस्तुत-योजना

आलम्बन का रूप, गुण या क्रिया ग्रहण करवाने के लिए हम एक वस्तु के साथ दूसरी वस्तु को प्रस्तुत करते हैं। कारण ? तीव्र अनुभूति कराना हमारा उद्देश्य होता है। जैसे लोकगीत की ये पंक्तियाँ—

"जइसे मघवा के पुरइनि
जल वीचे किंकुरले,
ओइसे किंकुरे धिया मायरि,
धिया के जनम लेले।"

वेटी के जन्म पर माँ उसी प्रकार संकुचित हो जाती है, सिकुड़ जाती है, जैसे माघ मास में किसी पोखरे के जल में पुरइन के पत्ते।

एक अछूते उपमान को सामने रखकर माँ के हृदय के संकोच और पीड़ित क्षण की कैसी मर्मव्यंजक अभिव्यक्ति है ! फिर पुत्र के जन्म लेने पर एक दूसरी माँ का हृदय प्रफुल्लित हो उठता है—

"जइसे जेठवा के पुरइनि,
जल बीच लहरले
ओइसे लहरले पुता मायरि,
पुता के जनम लेले।"

पुत्रोत्पत्ति से माँ का हृदय उसी प्रकार लहरा रहा है, जैसे जेठ मास के पोखर में पुरइन के पत्ते लहराते हैं।

सादृश्य-व्यंजक उपमानों से आलम्बन के स्वरूप का बोध कितना तीव्र होकर आता है, यह तो उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'रस-मीमांसा' में लिखा है—

"साम्य-भावना हमारे हृदय का प्रसार करने वाली, शेष सृष्टि के साथ मनुष्य के गूढ़ सम्बन्ध की धारणा बँधाने वाली, अत्यंत अपेक्षित मनोभूमि है, इसमें संदेह नहीं।"

हिन्दी के अधिकतर अलंकार इसी साम्य-भावना के आश्रित हैं। आलम्बन के स्वरूप-बोध के लिए और भाव की तीव्रता के लिए आये हुए इन उपमानों को अलंकरण समझना तो भारी भूल है। ऊपर के उद्धरण में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस सादृश्य-कल्पना के उदात्त महत्त्व का प्रतिपादन किया ही है। बँगला के प्रसिद्ध साहित्य-चिंतक श्री मोहित लाल मजूमदार ने 'कवि और काव्य' नामक अपने निबंध में लिखा है—

"इस कल्पना (सादृश्य ढूँढ़ने वाली) के मूल में कवि की व्यक्तिगत आन्तरिक उपलब्धि नहीं रहने से, काव्य के शब्द और अर्थगत रीति-अलंकार आदि व्यायाम हो जाते हैं। उपमादि के अन्तराल में कल्पना का अति सरल और स्वाभाविक विकास होता है, इसका कारण है कि मात्र एक उपमा या उपमा-समुच्चय के द्वारा यथार्थ काव्य ही रचित हो उठता है, उपमा ही उस जगह वाणी है या चित्तगत भाव का वाङ्मय रूप है, उपमा वहाँ अलंकार या प्रसाधन नहीं है।"

किसी कवि की आन्तरिक उपलब्धि और सौन्दर्य-दृष्टि का यदि मूल्यांकन करना हो, तो यह देखने से ही पता लगेगा कि उसने कैसे-कैसे अप्रस्तुतों की योजना की है। कवि की मनोभूमि और वस्तुओं के साथ साहचर्य का पता उसके अप्रस्तुतों से ही चलता है। कालिदास के उपमान उनकी सूक्ष्म अंतर्दृष्टि और व्यापक जीवन-साहचर्य के परिचायक हैं।

डॉ० राम विलास शर्मा ने अपने निबंध 'कालिदास : साहित्य के स्थायी मूल्यों की समस्या' में लिखा है—

"कालिदास की उपमाएँ प्रसिद्ध हैं। उनमें संसार की विभिन्न वस्तुओं का साम्य देखने के लिए वह सहज क्षमता विद्यमान है जिसके बिना कोई कवि नहीं हो सकता। उनके अधिकांश उपमान उनके सूक्ष्म इन्द्रियबोध और सौन्दर्यग्राहिका वृत्ति के परिचायक हैं। जहाँ-तहाँ उन्होंने बड़े साहस से मौलिक उपमानों का प्रयोग भी किया है। अज के शोक के बारे में लिखा है—

तस्य प्रसह्य हृदयं किल शोकशंकुः प्लक्षप्ररोह इव सौधतलं बिभेद (रघुवंश, सर्ग ८)। जैसे प्लक्ष प्ररोह सौधतल भेद कर नीचे निकल आते हैं, वैसे ही शोक ने अज के हृदय को वेध दिया था।

कालिदास के अधिकांश उपमान प्रकृति से लिये गये हैं जिससे यही निष्कर्ष निकलता है कि नगर से अधिक उन्हें प्रकृति ही प्रिय है।"

इतना बड़ा उद्धरण देने की प्रासंगिक आवश्यकता यह है कि हम देखें कि उपमानों से कवि के हृदयगत वस्तु-संचय और भावजगत् तथा सूक्ष्म संवेदनाओं का अन्वेषण कर सकते हैं। कवि स्वयं के इन्द्रियबोध के साथ जीवन के प्रति अनुराग पालता है, इस बात की अभिज्ञता प्राप्त करें। इन अप्रस्तुतों की सूची बनाकर भी हम किसी कवि की मूलभूत राग-संवेदना, इन्द्रियबोध और विचारलोक का निष्कर्ष पा सकते हैं।

कवि का आत्मीय क्या-क्या है, इसका अंदाज उसके द्वारा प्रस्तुत उपमानों से होता है। कवि की कल्पना ने किस-किस दृश्य को जुटाया है, यह ध्यान दिये बिना उसकी जीवन-दृष्टि का सम्यक् मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। बिहारी के दोहों में ज्योतिषशास्त्र की अभिज्ञता से भरे-पूरे उपमान बराबर आते हैं। इससे बिहारी के शास्त्रज्ञान का पता चलता है। तुलसीदास के काव्य में पर्वत, समुद्र, नदी-नद, जंगल इत्यादि के उपमान बराबर आते हैं; इससे उनकी विराट् दृष्टि तथा जीवन के प्रकृत पक्ष में रमने की प्रवृत्ति की सूचना मिलती है। रवीन्द्रनाथ की कल्पना नदी-जीवन के अप्रस्तुतों का संघटन करने में ज्यादा तल्लीन दीखती है; निराला की कल्पना गति से सम्बन्धित।

इस प्रकार किसी भी कवि के अप्रस्तुतों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन करने पर उस कवि की अंत:प्रकृति और मूल जीवन-दृष्टि का सम्यक् ज्ञान हो जाता है। कवि या साहित्यकार की रचनाशैलियों का अध्ययन करते हुए श्री मोहित लाल मजूमदार ने ठीक ही संकेत किया कि शैली में कवि का मस्तिष्क प्रच्छन्न रूप से अंतर्निहित रहता है और कवि की आत्मा भी प्रच्छन्न रूप से अंतर्निहित होती है। इसे उन्होंने अँगरेजी में कहा है— (1) Mind in style and (2) Soul in style.

कवि की अप्रस्तुत-योजना के भीतर यही शैलीगत आत्मा होती है। आलम्बन का स्वरूप-बोध कराते हुए कवि अप्रस्तुतों का सहारा लेता है और इन अप्रस्तुतों में ही उसकी भावनाएँ लिपटी चली आती हैं। आलम्बन के प्रति रति, शोक, उत्साह इत्यादि स्थायी या हर्ष, स्मरण, व्रीड़ा इत्यादि संचारी, कवि व्यक्त करता है—तो केवल उपमानों में ही भरकर। उपमान आलम्बन के प्रति कवि की गूढ़ आत्म-संवेदना के परिचायक होते हैं।

अलंकार वस्तुजगत् के प्रति कवि की आत्म-संवेदना को आवर्त्त-धर्म देते हैं; अलंकार व्यक्ति-घटित जीवन-संवेदना का रूप-परिग्रह करते हैं; अलंकार वे सूत्र हैं, जिनका छोर छूते हुए पाठक कवि के मनोद्वन्द्वों और भावदशा को अन्तःकृत करता है। अलंकार के व्यक्तित्व-निर्माण में, अप्रस्तुत, रासायनिक अंतर्वस्तु की तरह घुले-पचे होते हैं।

एक वस्तु या व्यापार के समान जब दूसरी वस्तु रखी जाती है तो प्रथम वस्तु या व्यापार से उद्भूत संवेदना या भावानुभूति को तीव्र कराना ही उद्देश्य होता है। जैसे निराला की यह कविता—

"वे किसान की नई वहू की आँखें
ज्यों हरीतिमा में वैठे
दो विहग वन्द कर पाँखें।"

किसान की नयी वहू की आँखों का स्वरूप-वोध कराना कवि का उद्देश्य है, लेकिन उस दृश्य के साथ कवि एक दूसरा गोचर प्रतिरूप उपस्थित करता है जो

बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव से एक-दूसरे की जीवनदशा के व्यंजक हो उठते हैं। यहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार है। स्पष्ट है कि औचित्य-निर्वाह के साथ जब अलंकार आता है तो वस्तु-विन्यास को समृद्ध करता ही है तथा शील-संदर्भ का मर्म भी मुखर कर देता है।

ऐसे स्थलों पर ही लगता है कि उपमेय और उपमान दोनों जैसे एक ही जीवन के तार से बँधे हुए हैं; मानव-सृष्टि और मानवेतर सृष्टि—दोनों जैसे एक ही जीवन से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अनुस्यूत हैं। कवि के अवचेतन में पड़े हुए भाव-संस्कारों का यहीं पता लगता है कि वह जीव-जगत् को किस दृष्टि से देखता है; कवि के द्रष्टा रूप को पकड़ पाने के लिए ये अप्रस्तुत ही सूत्र का कार्य करते हैं।

उपर्युक्त उद्धरण को ध्यान में रखते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का यह कथन कितना सारगर्भित लगता है—

"साम्य का आरोप भी निःसंदेह एक बड़ा विशाल सिद्धान्त लेकर काव्य में चला है। वह जगत् के अनन्त रूपों या व्यापारों के बीच फैले हुए उन मोटे-महीन सम्बन्ध-सूत्रों की झलक-सी दिखलाकर नरसत्ता के सूनेपन का भाव दूर करता है, अखिल सत्ता में एकत्व की आनन्दमयी भावना जगाकर हमारे हृदय का बंधन खोलता है। जब हम रमणी के मुख के साथ कमल, स्मिति के साथ अधखिली कलिका सामने पाते हैं, तब हमें ऐसा अनुभव होता है कि एक ही सौन्दर्य-धारा से मनुष्य और पेड़-पौधे भी रूप-रंग प्राप्त करते हैं।"

इस तरह काव्य में अप्रस्तुतों की योजना से सिद्ध कवि कई प्रकार के प्रयोजनों को सिद्ध करते हैं—

१. भाव के विषयों के स्वरूप-बोध के लिए गोचर या अगोचर प्रतिरूपों को अप्रस्तुत के रूप में रखने का प्रयोजन।

२. भावों की तीव्र अनुभूति को पाठकों के भीतर संक्रमित कराने के लिए भी अप्रस्तुतों की योजना होती है।

३. एक वस्तु के मेल में अन्य वस्तु को रखकर कवि वस्तु-सृष्टि में सम्बन्ध-सूत्रों की झलक दिखलाता है।

४. इस सम्बन्ध-सूत्र की परिणति के रूप में कवि नरसत्ता के सूनेपन का भाव दूर करता है; विषाद से खिन्न मनुष्य को प्रकृति या मानव-सृष्टि के अन्य अवसाद-चित्रों के सामने रखता है, जिससे उसकी खिन्नता दूर हो जाय। लोकगीत वाले उदाहरण से यह स्पष्ट है कि पुत्री की उत्पत्ति से माँ भी खिन्न है और माघ में पुरइन के पत्ते भी।

५. प्रकारान्तर से कवि शेष सृष्टि के साथ अपने रागात्मक सम्बन्ध के भाव को व्यक्त करता है; संकुचित सीमा से ऊपर उठकर व्यापक विश्व-जीवन से अपने को मिला देता है और उदात्त अंतःवृत्ति का परिचय देता है।

इसी का दूसरा पक्ष है कि कवि पाठकों के हृदय को भी क्षुद्रता के धरातल से ऊपर उठाकर विराट् सृष्टि के साथ तल्लीन कर देता है।

इस तरह अप्रस्तुत योजना के ये पंचविध प्रयोजन हैं, जिनकी सिद्धि के लिए कवि की कल्पना अप्रस्तुतों के ग्रहण और संचयन में तत्पर रहती है। यों रमणीयता लाने के लिए तो अप्रस्तुत आते ही हैं। अप्रस्तुत का धर्म ही है रमणीय होना।

अप्रस्तुत और प्रतीक.

एक बात ध्यान देने योग्य है। वह यह कि हर युग की कविता में ज्ञान-योग एक समान नहीं होता। **कभी ज्ञानयोग प्रबल होता है, कभी भावयोग। जिस युग में ज्ञानयोग प्रबल होता है उस युग की कविता में अप्रस्तुतों का रूप बदलने लगता है; अप्रस्तुत प्रायः प्रतीक के रूप में व्यवहृत होने लगते हैं**; जैसे, संतों की कविता। भक्तिकाल के संत कवियों की रचनाओं में प्रतीकों की बहुलता, इसी ज्ञानयोग की प्रबलता के कारण है। जिस युग में भावयोग प्रबल होता है, उस युग में अप्रस्तुत जटिल रूप धारण नहीं करते; रंग-रूपों की चमक से ही प्रसन्न रहते हैं; जैसे रीति-काल की कविता, जैसे विद्यापति की कविताएँ।

सत्य के आग्रह के कारण अभिव्यक्ति की पद्धति में परिवर्त्तन स्वाभाविक है। ज्ञानयोग की प्रबलता के युग को हम क्लासिकल युग (Classical age) या श्रेण्य कविता का युग (सुविधा की दृष्टि से) कह सकते हैं। भावयोग की प्रबलता के युग को हम रोमांटिक युग (Romantic age) कह सकते हैं।

आधुनिक कविता में सत्य का आग्रह अधिक है; जीवन के मूलभूत सत्यों के साक्षात्कार का यह युग है।

एक बात और भी स्पष्ट कर दें तो ज्यादा अच्छा होगा कि जिस युग की कविता में ज्ञानयोग की प्रबलता के साथ अरूप ईश्वर के प्रति आसक्ति और अन्वेषण की कल्पना दिखाई पड़े— उस युग के प्रतीक कुछ भिन्न ढंग के होंगे; और जिस युग की कविता में सांसारिक जीवन के कर्म-बहुल वस्तुगत सत्यों के अन्वेषण पर बल हो, उस युग के प्रतीक मूलतः संश्लिष्ट बिम्ब ही होते हैं। जैसे, छायावाद युग की कविताओं के अप्रस्तुत उपलक्षण या प्रतीक के रूप में हैं और नयी कविता के अप्रस्तुत संश्लिष्ट बिम्ब के रूप में हैं। छायावाद-युग और नयी कविता के युग के पारस्परिक अंतर को हम प्रतीकों और बिम्बों के माध्यम से यदि स्पष्ट करें तो ज्यादा सुविधाजनक होगा। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अप्रस्तुत रूप-विधान पर विचार करते हुए छायावाद के सम्बन्ध में लिखा है—

"छायावाद बड़ी सहृदयता के साथ प्रभाव-साम्य पर ही विशेष लक्ष्य रखकर चला है। कहीं-कहीं तो बाहरी सादृश्य या साधर्म्य अत्यन्त अल्प या न रहने पर भी आभ्यन्तर प्रभाव-साम्य लेकर ही अप्रस्तुतों का सन्निवेश कर दिया जाता। **ऐसे अप्रस्तुत अधिकतर उपलक्षण के रूप में या प्रतीकवत्** होते हैं— जैसे सुख,

आनन्द, प्रफुल्लता, यौवनकाल इत्यादि के स्थान पर उनके द्योतक ऊषा, प्रभात, मधुकाल; प्रिया के स्थान पर मुकुल; प्रेमी के स्थान पर मधुप; श्वेत या शुभ्र के स्थान पर कुंद, रजत; माधुर्य के स्थान पर मधु; दीप्तिमान या कांतिमान के स्थान पर स्वर्ण; विषाद या अवसाद के स्थान पर अंधकार, अँधेरी रात या संध्या की छाया, पतझड़; मानसिक आकुलता या क्षोभ के स्थान पर झंझा, तूफान; भाव-तरंग के लिए झंकार; भाव-प्रवाह के लिए संगीत या मुरली का स्वर इत्यादि। आभ्यन्तर प्रभाव-साम्य के आधार पर लाक्षणिक और व्यंजनात्मक पद्धति का प्रगल्भ और प्रचुर विकास छायावाद की काव्यशैली की असली विशेषता है।" (हि० सा० का इतिहास)

छायावाद में ज्ञानयोग की प्रबलता पूर्णरूप से प्रस्फुटित नहीं है। भावों की व्यंजना के पीछे कवि का ध्यान अधिक है। कवि की ध्यान-कल्पना में किसी वस्तु की मूर्त्ति ठहर जाती है, और वह उसकी मनोदशा (Mood) को व्यक्त कर देती है। किसी मनोदशा का सत्य मिलना ज्ञानयोग की प्रबलता नहीं है। इसीलिए छायावाद की कविताओं में सत्य के आग्रह का सत्य-आग्रह नहीं है। यह बात दूसरी है कि छायावाद के भावाकुल कवित्व के बीच अंतर्विरोधों का कवित्व निराला ने शुरू किया और जटिल जीवन-सत्यों को प्रतीकों में गुंफित करने का साहस उन्होंने दिखलाया।

निराला के भीतर जो ज्ञानयोग के कवित्व का विकास हो रहा था, उसी की सहस्रमुखी धाराएँ नयी कविता में फूट कर वह रही हैं। आज का कवि एक वस्तु के सत्य को अन्य वस्तु में प्रतिफलित देखता है; प्रस्तुत के सत्य को प्रतीक में पा लेता है। आज के कवि की ज्ञानवृत्ति सचेष्ट है; आज का कवित्व ज्ञानयोग की प्रबलता से वस्तून्मुख है। किसी एक मुहूर्त्त में अनायास जो सत्य किसी एक वस्तु में उद्भासित हो उठता है, वह सत्य अन्य अप्रस्तुत में अपने सौन्दर्य और शिवत्व की प्रतिष्ठा किये विना नहीं रहता। यह चूँकि ज्ञानयोग की प्रबलता का, सत्यों के साक्षात्कार पर बल देने का युग है, इसलिए प्रतीकों और संश्लिष्ट बिम्बों ने अभिव्यक्ति में अपनी अनिवार्यता पा ली है। यहाँ मैं अज्ञेय का लम्बा उद्धरण देना पसन्द करूँगा। यह उद्धरण 'प्रतीक और सत्यान्वेषण' शीर्षक निबन्ध का एक अंश है :

"जीवन को सीधे न देखकर हम एक काँच में से देखते हैं, तो हम उन रूपों में ही अटक जाते हैं जिनके द्वारा जीवन अभिव्यक्ति पाता है। काँच की टंकी में पाली हुई सोन-मछली पर एक छोटी-सी कविता में यही कहा गया है—

'हम निहारते रूप
काँच के पीछे हाँप रही है मछली।
रूप-तृषा भी
(और काँच के पीछे) है जिजीविषा।'

मछली का प्रतीक कोई नया नहीं है। प्रतीकार्थ अलग-अलग होते रहें, वह

दूसरी बात है। पर कुछ विशेष प्रतीक-रूप ऐसे होते हैं जो चिरकाल के लिए स्थिर हो जाते हैं, व्यापक हो जाते हैं। **यह इसीलिए है कि प्रतीक वास्तव में ज्ञान का एक उपकरण है।** जो सीधे-सीधे अभिधा में नहीं बँधता, **उसे आत्मसात् करने या प्रेषित करने के लिए प्रतीक काम देते हैं।** जो जिज्ञासाएँ सनातन हैं उनका निराकरण करने वाले प्रतीक भी सनातन हो जाते हैं।

किन्तु प्रतीकों में आज ज्ञान की खोज अपने-आप में एक बड़ा कौतूहलप्रद विषय है। क्योंकि वह ज्ञान ही दूसरे प्रकार का है। वैज्ञानिक, सागर की गहराई नापने के लिए रस्सी डालता है, या किरणों की प्रतिध्वनि का समय कूतता है— वह एक प्रकार का ज्ञान है। कवि मछली की दौड़ से सागर की गहराई भाँपता है— वह दूसरे प्रकार का ज्ञान है। **वह प्रतीक द्वारा सत्य को जानता है— सत्य के अथाह सागर में वह प्रतीकरूपी कंकड़ फेंककर उसकी थाह का अनुमान करता है।** यदि हम सागर को हमारे न जाने हुए सब कुछ का प्रतीक मान लें, तो मछली उस प्रतीक का प्रतीक हो जाती है जिसके द्वारा कवि अज्ञात सत्य का अन्वेषण करता है। यहाँ से अन्वेषण की पद्धति का अन्वेषण करें तो और भी कई प्रतीक हमें मिलते हैं— सागर और मछली, नदी, सेतु, जल पर पड़ता प्रकाश, परछाँही, परछाँही को भेदने वाली किरण, और अन्त में वह प्रकाशमान मछली जो परछाँही को भेद जाती है— वह **प्रतीक जिसके द्वारा अन्वेषी स्वयं अपने अहंकार से उत्पन्न पूर्वाग्रहों की छाया के पार देख लेता है।** यह निस्संग साक्षात्कार बड़े महत्त्व की बात है— यद्यपि इस बात को भी अभिधा में कहना उसे हल्का बना देना है। **अगर प्रतीकों द्वारा अन्वेषण को बिना प्रतीक-योजना के बखाना जा सकता— तो फिर वैसे अन्वेषण की आवश्यकता ही क्या थी ?"**

यद्यपि अज्ञेय के इस पूरे मंतव्य पर अप्रत्यक्ष रूप से, बँगला के प्रसिद्ध साहित्यचिंतक श्री मोहित लाल मजूमदार के विचारों की छाप है; श्री मोहित लाल मजूमदार ने 'साहित्य-विचार' नामक अपनी पुस्तक में सत्य के साक्षात्कार और ज्ञान-योग की बात कही है। किन्तु अज्ञेय के विचार इतने स्पष्ट और सुव्यवस्थित हैं कि इनसे हम कुछ निष्कर्ष निकाल सकते हैं—

१. प्रतीक ज्ञान का उपकरण है।

२. जो ज्ञान अभिधा से परे हो उठता है, उसे आत्मसात् करने या प्रेषित करने या हृदयंगम कराने के लिए प्रतीक का व्यवहार होता है।

३. जो जिज्ञासाएँ सनातन हैं, उनका निराकरण करने वाले प्रतीक भी सनातन हो जाते हैं; जैसे मछली।

४. विशेष-विशेष प्रतीकों के स्थायित्व, चिरकालत्व और सनातनता के पीछे मूल कारण यही है कि प्रतीकों द्वारा ज्ञान पाया और दिया जाता है।

५. कवि प्रतीकों द्वारा जो ज्ञान प्राप्त करता है, वह वैज्ञानिक के ज्ञान से भिन्न प्रकार का होता है।

६. प्रतीक के द्वारा अन्वेषी स्वयं अपने अहंकार से उत्पन्न पूर्वाग्रहों की छाया के पार देख लेता है। मतलब, प्रतीक द्वारा कवि सत्य का निस्संग साक्षात्कार करता है।

७. चूँकि सत्य का अन्वेषण भी प्रतीकों के द्वारा होता है, इसलिए अभिव्यक्ति में प्रतीक अनिवार्य रूप से रहेंगे।

बहुत-से सत्य ऐसे हैं जो तुरत स्पष्ट नहीं होते। कुछ सत्य ऐसे भी हैं जो प्रत्यक्षतः "इन्द्रियगम्य नहीं हुआ करते हैं किन्तु उन सत्यों की कल्पना हम अपने तर्क, विश्वास और अनुमान द्वारा कर लिया करते हैं"। ऐसे सत्यों के अन्वेषण में प्रतीक अनिवार्य-से हो उठते हैं। अज्ञेय के उद्धरण से भी स्पष्ट है कि कुछ खास प्रकार के सत्यों के अन्वेषण प्रतीक द्वारा ही होते हैं। इसलिए सत्य का अन्वेषण जब प्रतीक द्वारा हुआ है, तो उसका संप्रेषण बिना प्रतीक के कैसे संभव है? अप्रस्तुत और प्रतीक के सम्बन्ध में यहाँ अन्तर द्रष्टव्य है। अप्रस्तुत प्रस्तुत का संकेत करते हैं, प्रस्तुत को अपने सत्य के प्रकाश और स्वरूप से मूर्त्त कर देते हैं। इसलिए अप्रस्तुतों के साथ प्रस्तुतों का लगा रहना प्रायः अनिवार्य-सा है। किन्तु प्रतीक अपने में भी एक सत्य का साक्षात्कार करा सकते हैं; प्रतीक वहाँ अप्रस्तुत से आगे और बहुत आगे बढ़ जाते हैं। लेकिन प्रतीकों की सार्थकता तो इसमें है कि वे सापेक्ष होकर भी समान सत्य की अनुभूति कराएँ। सापेक्ष होने पर प्रतीक अनेक वस्तुओं या व्यापारों के सत्य का साक्षात्कार कराते हैं, करा सकते हैं। लेकिन अप्रस्तुत हमेशा प्रस्तुत-सापेक्ष रहते हैं और एक प्रस्तुत से अधिक के सत्यों को प्रकाशित करने में प्रायः अक्षम-से रहते हैं। जैसे, कबीर का एक प्रसिद्ध प्रतीक है—

"रस गगन-गुफा में अजर झरै।"

यह प्रतीक अपने में स्वतंत्र भी है और सापेक्ष भी। गगन-गुफा = शून्य की गुफा; पर्वतीय निर्जन की गुफा का अर्थ भी आक्षिप्त है। फिर आकाश की गुफा है, इसलिए शून्य आकाश में झरने वाली चाँदनी के निर्झर का संकेत भी आक्षिप्त है। साधक परमतत्त्व के साक्षात्कार का जो आनन्द प्राप्त करता है, अपने भीतर, उस संकेत को तो प्रबलता मिली ही है। इसी तरह निराला की कविता 'जूही की कली' में भी लौकिक जूही की कली, किसी नायिका तथा आत्मा— तीनों के संकेत मिलते हैं। अज्ञेय की कविता 'साँप' भी कई प्रस्तुतों के निचोड़ का प्रतीकत्व लेकर अनेक-विध संकेतों के संप्रेषण में समर्थ है। प्रतीक तो किसी सत्य की उपलब्धि के उपकरण हैं और फलतः उस सत्य के निस्संग साक्षात्कार के संप्रेषण में सहायक रचना-विधान भी। आज की कविता में प्रतीक सत्य को संवेद्य बनाने के रचना-शिल्प मात्र ही नहीं हैं; बल्कि जीवन के मानसिक, बौद्धिक और वस्तुगत संदर्भों से प्राप्त सत्यों को मूर्त्त करने वाले प्रातिम (Imagist) प्रत्यय भी हैं; अस्पष्ट तथा गुह्य तथा जटिल तथा संश्लिष्ट जीवन-सत्यों की संवेदनात्मक प्रतीति हैं। कुछ लोग सत्यान्वेषण की

बौद्धिक प्रक्रियाओं को संवेद्य रूपप्रतीति दे रहे हैं, जैसे गजानन माधव मुक्तिबोध। चिंतक कवि तो सत्य का साक्षात्कार करता है और कराता है, प्रतीकों को उपकरण के रूप में अनिवार्यतः लाकर।

यह स्पष्ट है कि अप्रस्तुत-योजना मुख्यतः सत्यों के भावयोग का स्थापत्य है, किन्तु प्रतीक-योजना सत्योपलब्धि के ज्ञानयोग, भावयोग और गोचर वस्तुयोग के सामंजस्यपूर्ण संघटन का स्थापत्य है।

प्रतीकों को काव्य में सत्योपलब्धि के उपकरण या माध्यम के रूप में स्वीकार किया जाता है; किन्तु आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी इस सत्य की स्वीकृति से भिन्न तथ्य, रूढ़िरूढ़ मंतव्यों के पोषण पर बल देते हैं। श्री कमलाकान्त पाठक की पुस्तक 'फूल और पत्ते' की भूमिका में उन्होंने लिखा है—

"पाठकजी की कविताओं में **प्रतीकों का बाहुल्य है, जो आज की कविता की एक प्रधान विशेषता बन रहा है।** प्रतीकों का आधिक्य जहाँ एक ओर काव्य-समृद्धि का परिचायक होता है, वहाँ दूसरी ओर वह अपने साथ नये खतरे भी लाता है। कविता में आलंकारिकता बढ़ जाती है, उसका सहज संवेदन दुर्लभ होने लगता है। प्रतीकों के आधिक्य से भाव-रसिकों की प्यास नहीं बुझती।"

पहली बात तो यह है कि चिंतन का ढंग ही गलत है। हर चीज के अतिरेक को दिखलाकर या ढूँढ़कर उसमें दुर्बलता दिखा देना परिपक्व चिंतन का सूचक नहीं है। दूसरी बात यह है कि प्रतीकों को वह भाषा की आलंकारिता से अभिन्न समझते हैं। प्रतीकों से भाषा की आलंकारिता कम होती है, इस तथ्य की तरफ उनका ध्यान शायद केन्द्रित नहीं है। प्रतीक तो विकसित प्रज्ञा के लक्षण हैं। प्रतीकों का अर्थ भावुक पाठक भले ही न समझ पाते हों, प्रबुद्ध सहृदय पाठक अवश्य ही प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति को सार्थक रूप में देखकर तल्लीन हो जाते हैं। जटिल युग की संश्लिष्ट जीवनानुभूतियों में सहज संवेदन ढूंढ़ना—प्रतीकों के अस्तित्व के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण का ही परिचायक है।

श्री जगदीश पाण्डेय ने प्रतीकों के सम्बन्ध में अपना विचारपूर्ण मंतव्य हमारे सामने प्रस्तुत किया है। 'साहित्य' (त्रैमासिक, पटना) के जनवरी '५७ वाले अंक में 'उदात्त की भावना' नामक अपने धारावाहिक निबंध में उन्होंने विस्तार के साथ उदात्त और प्रतीक की परस्पर सम्बद्धता का सिद्धान्त स्पष्ट किया है। उनका यह स्पष्ट मत है कि काव्य के उदात्त, प्रतीक पर निर्भर नहीं करते। किन्तु उदात्त में प्रतीकात्मकता बनी रहती है। इस तरह प्रतीकों के विधेयात्मक पक्ष की तरफ भी उनका ध्यान है।

उदात्तकोटिक प्रतीक के त्रिविध वैशिष्ट्य की तरफ निर्देश करते हुए उन्होंने लिखा है—

१. "उदात्तकोटिक प्रतीक किसी अर्थ को व्यंजित करता है तो उसके परम विशेष या Concrete Universal-सा लगता है।

२. ऐसे प्रतीक-दृश्य अथवा प्रतीक-आलम्बन का हमारी कल्पना में मानव-कल्प हो जाता है। उसका व्यक्तित्व मानवीय विकारों से अनुप्राणित हो जाता है।

३. ऐसा लगना चाहिए कि उदात्तकोटिक प्रतीक जिस अर्थ की व्यंजना करता है, वह किसी निम्न स्तर के प्रश्न का ऊर्जस्वित (Sublimated) स्वरूप है।

प्रतीकों के मुख्यतः नौ भेद वह मानते हैं। उनके अनुसार—

१. कूट प्रतीक— Code symbols,
२. उलटबाँसियाँ या वैपरीत्यमूलक प्रतीक—Enigma symbols,
३. रहस्य-रूढ़ प्रतीक—Trascendental symbols,
४. लक्षणापन्न प्रतीक—Substitute symbols,
५. परम्परित प्रतीक—Ritual symbols,
६. छायावृत्त प्रतीक—Fantasy symbols,
७. प्रयोगविशिष्ट प्रतीक—Co-anaesthetic symbols,
८. लोकावचेतन प्रतीक—Primordial symbols,
९. सगुण प्रतीक—Concrete universal symbols.

१. **कूट प्रतीक**— कूट प्रतीक के उदाहरण वहाँ मिलेंगे जहाँ चार संख्या का उल्लेख न कर वेद कह दिया जाय। "वेद सूर्य शिवनयन विष्णुभुज पक्ष राम वनवास", अर्थात् ४ + १ + ३ + ४ + २ = १४ वर्षों के लिए राम को वनवास दिया गया। इस परिपाटी के कूटप्रतीक बुझौअल या पहेली के भीतर आयेंगे। वेद, सूर्य, शिव और विष्णु आदि का योगफल भी उदात्त की सृष्टि नहीं कर पाता।

२. **उलटबाँसियाँ या वैपरीत्यमूलक प्रतीक**—उलटबाँसियों या वैपरीत्यमूलक प्रतीक का उदाहरण है— 'कुआँ में लागी आग'। इसके अनेक अर्थ हो सकते हैं। एक सम्भावना यह है कि ध्यान की अवस्था में आनन्द की दिव्य, तरल, तेजोमय, प्रकाशमय तरंगें उठती हैं। यहाँ दृश्य की उदात्तता तो असंदिग्ध है, लेकिन जिस भाषा और जिन प्रतीकों को लिया गया है वे केवल कुतूहल और विरोध-विचित्रता ही सामने लाते हैं। उदात्त के लिए ये निकृष्ट हैं।

३. रहस्य-रूढ़ प्रतीक— रहस्य-रूढ़ प्रतीक वे हैं जो षट्चक्र, निदिध्यासन, गोरखपंथ, हठयोग इत्यादि की भाषा में पाये जाते हैं। सिद्धों ने रहस्यानुभूति के इन प्रतीकों की आवृत्ति करते-करते इन्हें रूढ़ बना दिया है। हंसा, सुआ आदि ऐसे ही प्रतीक हैं। पर, अपर, परात्पर कोटि की अनुभूतियों, चक्र-भेदन क्रमों और कमल-दलों के उत्तरोत्तर विकास के वर्णन को पढ़कर माथा चकराने लगता है, विस्मय से भर देने वाले इन वर्णनों में प्रतीकों की क्लिष्टता ही प्रधान हो जाती है। ये सहज ढंग से लोकातिशयता का दृश्य उपस्थित नहीं कर पाते। इनमें उत्कर्ष का कथन तो होता है, किन्तु लोकातिशयता नहीं होती। कमल-दलों में भी केवल सहस्र-दल कमल के

जागरण का दृश्य ही उदात्तकोटिक है। दो-चार दल वाले कमल तो महासामान्य-से लगते हैं। नाड़ियों के व्यूह की चर्चा को दिमाग में बैठाते-बैठाते ही आदमी थक जाता है। गंगा, यमुना आदि का इन लोगों के जगत् में जो प्रतीक-प्रयोग होता है उसमें अर्थविशेष का संकोच ही है, चित्त की उत्क्रान्ति की सामर्थ्य नहीं।

४. **लक्षणापन्न प्रतीक**— छायावादियों के 'झंझा', 'लहर' आदि साधर्म्य अथवा लक्षण वाले प्रतीक इसके अन्तर्गत आयेंगे जो प्रायः मन की उपदशाओं की अभिव्यक्ति करते हैं। अपनी निरी वैयक्तिकता, फेनिल भावुकता तथा रुग्ण क्रन्दन के कारण वे कोई महाप्राण दृश्य, लोकोत्तर गरिमा की परिस्थिति अथवा निसर्ग-समर्थ महापुरुषों के शील उपस्थित नहीं कर पाते जिससे उदात्त की अनुभूति हो सके।

५. **परम्परित प्रतीक**— काषाय, श्वेत, पीत, रक्त, कृष्ण इत्यादि वर्णों की जो परम्परित भावना है उसके कारण ये रंग क्रमशः वैराग्य, पवित्रता, मंगल, युद्ध, अमंगल इत्यादि के प्रतीक बन गये हैं। पहले तो भिन्न-भिन्न देशों में इनको लेकर भिन्न-भिन्न भावनाएँ हैं, फिर सामान्यतः ज्योतिष और कर्मकांड के क्षेत्र तक सीमित रहने के कारण ये एक तरह के शिलीभूत उपचार या टोटका-मात्र रह गये हैं। इनकी रह-रह कर व्याख्या करनी पड़ती है। श्री राधाकृष्णन् को तिरंगे की इसी तरह व्याख्या करनी पड़ी थी जिसमें दार्शनिकता थी, लोकसुलभ दर्शन की सामर्थ्य नहीं थी जिसके उल्लेखमात्र से हम अभिभूत हो सकें।

६. **छायावृत्त प्रतीक**— अचेतन की सुप्त वासनाएँ—भय, घृणा, प्रेम इत्यादि स्वप्न के छायालोक में वृत्त (कहानी, नाटक या रूपक) बनकर आती हैं। किसी नारी की वीणा में कोई कलाकार केले के सूखे बीज छोड़ता है। ऐसा वह नारी-स्वप्न में देखती है। अर्थ लगाया गया कि नारी के हृदय में कहीं रति की गूढ़ वासना है जो अभिनीत स्वाँग के रूप में सामने आती है। वीणा और बीज का संकेत बहुत स्पष्ट है। साहित्य में यदि कोई इस तरह के दृश्य उपस्थित कर संकेत-ग्रहण कराना चाहे तो इससे अनुमान की अराजकता ही फैलेगी, आविष्कार तथा शोध का दम्भ ही शुरू होगा। इसके अतिरिक्त कुछ नहीं। मनोविज्ञान की किताबों से लिये गये या उनकी प्रेरणा और अनुकृति के सहारे निर्मित ये प्रतीक कला-कृत्रिम (academic) से लगते हैं। इनसे यदि उदात्त की सृष्टि हो सकती है तो वन्ध्या से भी वंश चल सकता है।

७. **प्रयोगविशिष्ट प्रतीक**— प्रयोगविशिष्ट प्रतीक वे हैं जो अनुभूति के साधारणीकरण के लिए नहीं आते हैं, आते हैं कवि के अपने दृष्टिकोण या संश्लिष्ट चेतना के स्थापत्य के रूप में। ऐसा कवि लिखता है—'काली बिल्ली के पीले गान'। बिल्ली तक काली हो तो कोई हर्ज नहीं, गान भी पीले हैं—श्रव्य-चाक्षुष अनुभूतियाँ संश्लिष्ट हो गयी हैं। ऐसी पंक्ति में 'काली', बिल्ली', 'पीले' और 'गान' सब-के-सब पृथकतः तथा अपनी समग्रता में प्रतीक हो जाते हैं। होता यह है कि कलाकार के हृदय में अर्द्ध रात्रि के अंधकार और उसके चोर की तरह छिपे एकान्त में दिगम्बर

काम-वासनाएँ जाग उठती हैं। संसार सो गया है, कुछ नहीं देखता, कुछ नहीं सुनता। हृदय से उठ-उठ कर वासनाओं का यह मोहक शब्दहीन 'रव' सितार की तरह उसकी शिराओं को झनझना देता है और उसी काम-तंत्री के गान वह सुनता है। बिल्ली की पीली आँखें ही चमकती हैं—उन आँखों से वह अपनी वासनाओं की संगति देखता है। 'कृष्णपक्ष की अर्द्ध रात्रि के एकान्त में वासनाओं की यह कौंध, आह ! यह निर्मम ज्योति !' वह कह उठता है। लेकिन, संकेत-दीक्षा के बिना इस पंक्ति की पूरी विभूति हाथ नहीं लगती। वासनाओं के नग्न-मौलिक स्रोत-गह्वर का अंधकार ! उसके गर्भ से विद्युत् की कौंध हाथ नहीं लगती, अभिव्यंजना की एक विचित्रता मात्र प्राप्त होती है। 'बिल्ली' जैसा प्रतीक म्याऊँ-म्याऊँ ही करता रह जाता है, और 'पीले गान' तक कविता ही जर्द पड़ जाती है।

८. **लोकावचेतन प्रतीक** (Collective Unconscious Symbols)—लोकावचेतन के कारण मनुष्य-जाति के विकास-क्रम में अश्वत्थ और शिवलिंग (Tree of life तथा Phallic images) जैसे शाश्वत प्रतीक प्रतिष्ठित हो गये हैं। अपने यहाँ **वसुदेव** की कल्पना, जिसके मूल से लेकर पत्ते-पत्ते तथा शाखाओं पर भिन्न-भिन्न देवताओं और लोकों का निवास है, पूरी जगन्निवास-कल्पना है जो विराट् होकर सहज ही उदात्त हो जाती है। जहाँ नार्स पुराण (Norse mythology) की या अपने यहाँ की यह कल्पना सामने आती है कि विश्व-वृक्ष की जड़ें ऊपर हैं, शाखाएँ नीचे तो उसका क्या मूल्य होगा? सोचिए, सारे विश्व भर का एक वृक्ष, जिस पर सभी लोक बसे हुए हैं, अपनी विराट् महत्ता लिये हुए, पता नहीं बिना आधार के, किस शक्ति पर टिका हुआ है ! स्वर्ग ही उसे सींचता है, अन्तरिक्ष उसके मध्य में है और शाखाएँ भू-लोक में हैं। हम और आप शाखा को ही सींचते-सींचते मर जाते हैं, आत्मा का आलोक तो इन शाखाओं (रागद्वेष के प्रपंचों) से ऊपर उठने में है। आत्मा का अमृत, जो इसे ऊपर सींचता है, प्राण को ऊपर उठाने से ही प्राप्त होता है जिससे सिंचित होकर हम भी विश्व-व्यापक हो जाते हैं। जो साँस हम बाहर छोड़ते हैं, वही भू-लोक है, वही अधोगति है, वही मृत्यु है। 'ऊर्ध्वश्वास' कितना कष्टकर होता है। जीवन के प्रवाह को स्रोत की ओर ले जाने में जो अमरत्व है उसको अन्तरिक्ष में निराधार लटके हुए एक जगन्निवास वृक्ष के रूप में दिखा दिया गया है। हम विस्मय, भय तथा अंत में एक महान् मुक्ति से अभिभूत हो जाते हैं, उठ जाते हैं, हमारी वाणी, हमारा स्पन्दन, हमारी साँस अनायास रुक जाती है। यही बात शिवलिंग के लिए लागू हो जाती है, क्योंकि हमारे यहाँ उसकी ज्योतिर्लिंग-कल्पना है। पश्चिम में जीवन, काम, प्रकृति की उर्वरता, संकल्प-शक्ति इत्यादि का रूढ़ आरोप लिंग-प्रतीकों पर कर दिया जाता है; उससे सामान्य का कथनमात्र हो पाता है।

ज्योतिर्लिंग—तेजोमय, दिव्य, चिन्मय तत्त्व-स्रोत के रूप में जो कल्पना है, वह सामान्य लिंग का उदात्त स्वरूप है।

९. **सगुण प्रतीक**— महाप्राण, महाविस्तार या दिव्य गर्भ-प्रतीकों की उद्भावना करने की शक्ति कवि में हो ही नहीं सकती और उसे सदा परम्परा को ही रटते रहना चाहिए, ऐसा कौन कहेगा ? लेकिन, प्रतीक सर्वोत्कृष्ट वे ही होते हैं जो **(क) या तो देश के पौराणिक संस्कारों की अक्षुण्ण सजीवता लिये रहते हैं' (ख) अथवा भावना और अन्तर्ज्योति के बल पर तुच्छ या गौण-से लगने वाले विशेष में महान् को उद्घाटित करते हैं।** दोनों प्रतीकों में एक गुण उभयनिष्ठ है—वह है उनका सगुण होना अर्थात् व्यापक निर्गुण को सगुण दिखाना। विशिष्टाद्वैत—अद्वैत को अद्वैत नहीं, वल्कि एक विशिष्ट के रूप में दिखा देना—प्रतीक की चरम सिद्धि है। ऐसा—भावना से ही हो सकता है, बुद्धि ऐसा नहीं कर सकती।" ('साहित्य', त्रैमासिक, जनवरी '५७)

प्रतीक-विधान के कतिपय रूपों को प्रो० जगदीश पाण्डेय ने दिखाया है; प्रायः हर प्रकार के विधान की उन्होंने मीमांसा की है।

लेकिन उनके इस सुदीर्घ मंतव्य को उद्धृत करने के साथ मेरा एक आशय है। वह यह कि सत्य की उपलब्धि प्रतीकों से होती है, इस बात पर उनका ध्यान केन्द्रित नहीं है। वह प्रतीक-विधान को काव्य के शिल्प के रूप में स्वीकार करते हैं; तथा पाठकों पर इसका प्रभाव किस प्रकार पड़ता है तथा पाठक उदात्त की अनुभूति किस तरह के प्रतीकों से कर सकता है, ये ही कुछ प्रश्न हैं, जो उनकी चिंता के विषय हैं। मैंने प्रारंभ में ही प्रतीकों के स्वरूप का स्पष्टीकरण कर दिया है। प्रो० जगदीश पाण्डेय ने महान् मनोविश्लेषक युंग की गवेषणा की सहायता से लोकावचेतन प्रतीक (Collective unconscious symbols) के स्वरूप का रेखांकन मात्र किया है। यद्यपि उनकी प्रतीक-मीमांसा में प्रबुद्ध चिंतक की अंतर्दृष्टि मौजूद है, फिर भी पूर्णता की झाँकी नहीं मिलती। फिर प्रतीक के सम्बन्ध में वह एक सूत्रवाक्य की स्थापना करते हैं—"जहाँ प्रतीक चित्र (Image) नहीं, वल्कि मूर्त्ति (Idol) बन जाय वहाँ भावना की अनन्यता के दर्शन होते हैं और उदात्त सुलभ हो जाता है।"

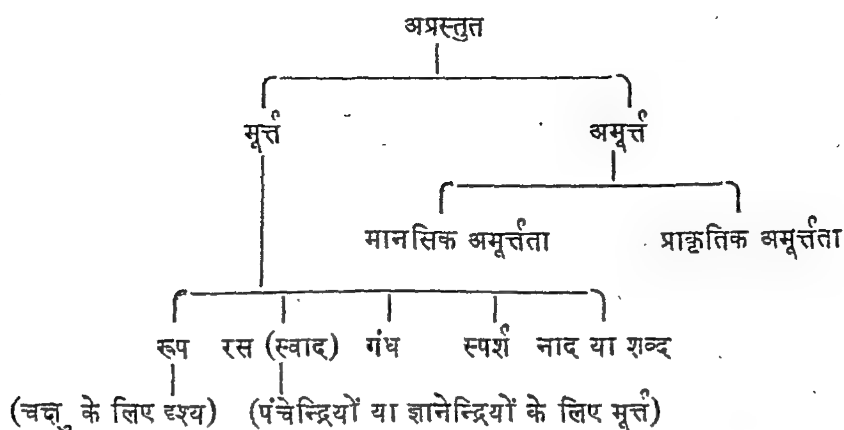
अप्रस्तुतों के भेद-प्रकार

व्याकरण में जिस तरह वाक्यों के भेद किये जाते हैं, ठीक उसी तरह से हम उपमानों या अप्रस्तुतों का भेद नहीं कर सकते। इसका कारण यही है कि उपमान या अप्रस्तुत वस्तुतः निश्चित प्रतिरूप में ढले हुए, वाक्यों के रूप में नहीं रहते। इसलिए सुविधा के लिए हम व्याकरण की तरह उपमानों के तीन भेद नहीं मानते—

(१) सरल अप्रस्तुत, (२) संश्लिष्ट अप्रस्तुत, (३) जटिल अप्रस्तुत।

ऐसे भेदों में अप्रस्तुतों का विभाजन कर लेना सुविधा के नाम पर चाहे जो हो, काव्यशास्त्रीय दृष्टि से यह सदोष माना जायगा।

अतः अप्रस्तुतों के दो भेद हम मूर्त्तता और अमूर्त्तता के आधार पर कर सकते हैं। लेकिन इन दो विभागों के भी उपविभाग किये जा सकते हैं।



इसे स्पष्ट कर लेना अच्छा होगा। अप्रस्तुतों के विभाजन के आधार के लिए हम इन्द्रिय-संवेदना को प्रमुख मानते हैं। कुछ अप्रस्तुत ऐसे हैं जिन्हें हम अपनी कल्पना में लाने पर उनकी इन्द्रिय-सापेक्ष मूर्त्तता पा लेते हैं। किसी अप्रस्तुत में रूपमूर्त्ति होती है, किसी में रस-मूर्त्ति, किसी में गंध-मूर्त्ति, किसी में स्पर्श-मूर्त्ति और किसी में नाद-मूर्त्ति। इस तरह मूर्त्त अप्रस्तुत के पांच खंड स्थिर किये जा सकते हैं। ये किसी-न-किसी इन्द्रियानुभूति से सम्वद्ध होते हैं।

अमूर्त्त वर्ग के भेद का यह अर्थ नहीं है कि अमूर्त्त अप्रस्तुतों को ग्रहण करने के लिए हमारी इन्द्रियानुभूति की अपेक्षा नहीं होती। अमूर्त्त अप्रस्तुत भी इन्द्रिय-संपृक्त ही होते हैं, लेकिन मूर्त्त अप्रस्तुतों के ग्रहण में जो आत्यन्तिक त्वरा होती है, वह इसमें नहीं होती। इसमें कल्पना-शक्ति की ग्रहण-संवेदना सुतीव्र हो उठती है। जैसे कोई कहता है— 'वायु-सा चलना पड़ेगा' तो चलना पड़ेगा की सहायता से वायु की निर्बाध गति का भी संकेत वह दे देता है, जिससे वायु की अमूर्त्त गति को भी हम मूर्त्त पा लेते हैं।

अप्रस्तुत विधान के पीछे मूलभूत प्रवृत्ति यही होती है कि कवि किसी सत्य को रूप[1] में संक्रमित कर देता है। अमूर्त्त अप्रस्तुतों में भी भाव और विचार को इन्द्रियों के माध्यम से संवेदित कराना कवि का मूल उद्देश्य होता है। इसलिए अमूर्त्त अप्रस्तुतों में भी मूर्त्ति जागृत करने की प्रच्छन्न शक्ति होती है। यहाँ आत्यन्तिक प्रभेद नहीं बनाये जा सकते।

हर व्यक्ति की इन्द्रिय-संवेदना एक समान नहीं होती। किसी की रूप-संवेदना तीव्र होती है, किसी की ध्वनि-संवेदना, किसी की गंध-संवेदना।

जो व्यक्ति किसी एक इन्द्रिय-संवेदना के वशीकरण से पराभूत न होकर सशक्त

१. रूप से मेरा तात्पर्य केवल (चक्षु से) दीख पड़ने वाला रूप नहीं है; वरन् वह है— सभी इन्द्रियों से प्राप्त रूप। शुक्ल जी के मंतव्य की शरण लेकर यही 'रूप' शब्द आया है।

बना रहता है, वह इन्द्रियों की सहायता लेते हुए भी इन्द्रियातीत हो जाता है। जैसे पंत और निराला— पंत की सारी संवेदनाएँ रूप पर आकर सिमट गयी हैं, केन्द्रित हो गयी हैं। जिस कवि में सारी इन्द्रियों का आग्रह मात्र एक इन्द्रिय पर आकर केन्द्रित हो जायगा, उसकी तृषा उसी इन्द्रिय के सहारे तृप्त भी होगी। इसीलिए पंत में हम रंगों की सघन चमक और चपल दृष्टि की प्रवृत्ति देखते हैं। लेकिन निराला इन सारे आग्रहों को पार कर गये हैं— उनकी संवेदना ज्ञान उपलब्ध करती है, रंगों की चमक नहीं। पंत जब कभी रूपेन्द्रिय की प्रबलता से विमुख हुए हैं तो नाद-चित्र के नाम पर 'टी-वी-टी टुट्-टुट्' कर रह गये हैं। यही तो उनकी ध्वनि-संवेदना की उपलब्धि है। यह बात दूसरी है कि 'टी-वी-टी टुट्-टुट्' का ध्वनिमय परिवेश अपने साहचर्य-संभूत रस का उद्रेक कर देता है।

यहाँ इस प्रसंग की अवतारणा इसलिए की गयी है कि आम तौर पर हम देखते हैं कि हर इन्द्रिय से सम्बन्धित अप्रस्तुतों की प्रतिमाएँ, प्रचुर मात्रा में नहीं मिल पातीं।

अप्रस्तुत : सत्योपलब्धि के माध्यम

इधर अप्रस्तुतों के सम्बन्ध में नये ढंग से विचार किया गया है। लेकिन इस बात को कुछ ही लोग स्वीकार करते हैं कि कविता या कला के द्वारा हम अपने ज्ञान-योग की सिद्धि करते हैं। कविता को लोग भावयोग मानते हैं; ज्यादा से ज्यादा तो ज्ञानयोग का समकक्ष स्वीकार करते हैं। आचार्य शुक्ल ने स्पष्ट शब्दों में कहा था—

"जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है उसी प्रकार हृदय की यह मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आयी है उसे कविता कहते हैं। इस साधना को हम भावयोग कहते हैं और कर्मयोग और ज्ञानयोग का समकक्ष मानते हैं।"

इससे स्पष्ट है कि कविता भावयोग है; ज्ञानयोग नहीं; ज्ञानयोग के समकक्ष। लेकिन यह मंतव्य किसी-न-किसी कोण से रिक्त-जैसा लगता है। क्यों?

कविता में अप्रस्तुतों का रासायनिक योग है, यह स्पष्ट है। यह बात अलग है कि अप्रस्तुत कभी-कभी प्रतीक या बिम्ब के रूप में भी आते हैं। इन अप्रस्तुतों में हम प्रस्तुत के सत्य को पा लेते हैं। प्रस्तुतों का सत्य कभी-कभी अस्पष्ट, धुंधला या अव्यक्त-सा रहता है। प्रस्तुतों के भीतर निहित उन सत्यों की उपलब्धि हम अप्रस्तुतों के माध्यम से कर लेते हैं। जैसे, कोई कहता है कि 'दुश्मन भी साँप की तरह ही होते हैं, जरा-सी ठोकर पर फुफकार उठते हैं।' इसमें एक सत्य प्रस्तुत का है, जिसे अप्रस्तुत के माध्यम से व्यक्त किया गया है। प्रस्तुत के सत्य को अप्रस्तुत का सत्य अधिक प्रभविष्णुता से खोल देता है, मुँहफट कर देता है। इसलिए कि दोनों का सत्य एक ही है।

देहातों में प्रचलित लोकगीत, लोकगाथाएँ और लोकोक्तियाँ भी इसी

सत्योपलब्धि के साक्ष्य हैं। वंश-परम्परागत यह लोकसाहित्य सत्यों की ही थाती तो है। विभिन्न गाथाओं के चरित्र भी उस सत्य की उपलब्धि के माध्यम हैं। जैसे एक प्रसिद्ध लोकोक्ति है—

"असल सोना जड़ैय नैं
आ असल वेटा मरय नैं।"

जिस तरह से असली सोना जलता नहीं है, उसी तरह से असली वेटा मरता नहीं है। यहाँ भी उसी सत्य की उपलब्धि, उपमान वाक्य के द्वारा हो रही है। असलियत तो यही है कि प्रस्तुत या उपमेय के भीतर प्रच्छन्न रूप से निहित या अव्यक्त सत्य को अप्रस्तुत के माध्यम से व्यक्त कर दिया जाता है। आप कहेंगे कि उसमें सत्य तो है ही, तो अव्यक्त को व्यक्त कर देना कहीं सत्योपलब्धि हो सकती है? वैज्ञानिक आविष्कारों के इस युग में सत्य की उपलब्धि का यही अर्थ है। फिर दूसरी बात यह कि यदि सत्य होगा ही नहीं तो फिर सत्य वनाया थोड़े ही जा सकता है! सत्य तो पहले से ही मौजूद होता है, कहीं-न-कहीं प्रच्छन्न रूप में; हर व्यक्ति अपनी जीवन-साधना के क्रम में जो ज्ञानयोग का यज्ञ करता रहता है, उस सत्य को एक वस्तु में प्रच्छन्न देखता है, दूसरी में उसे ही व्यक्त देखता है। सत्य का यही अन्वेषण वह जीवन भर करता रहता है।

किसी रूप में निहित सत्य को वह अन्य गोचर या अगोचर प्रतिरूप में पा लेता है। जैसे पंतजी कहते हैं कि वादल आसमान में उसी तरह उठते हैं जैसे मन में संशय उठता है। वादलों के उठने की गति या क्रिया का जो स्वरूपगत सत्य है, उसे मन में उठते हुए संशयों की गति या क्रिया से वह गोचर कर लेते हैं, पा लेते हैं। कालिदास का एक प्रसिद्ध उपमान है— भट्ठे के भीतर ईंट वैसे ही पकती है जैसे कि दो पत्नियों के बीच पति पकता है। यहाँ भी हम देखते हैं कि उपमेय के सत्य को वह उपमान के सत्य में व्यक्त कर देते हैं, उसका स्वरूप, उसका धर्म स्पष्ट हो जाता है। पंतजी को लगता है कि छाया पीले पत्रों की शय्या पर विरक्ति-सी है, मूर्च्छा-सी है। यहाँ गोचर छाया को अगोचर और गोचर प्रतिरूपों के द्वारा दिखाने के उनके प्रयास में छाया के सत्य को मूर्च्छा और विरक्ति के सत्य में व्यक्त करने का प्रयास है।

चूँकि कवि प्रस्तुत के भीतर अव्यक्त रूप से अवस्थित सत्य को पाने का प्रयास करता है, इसलिए बिहारी ने ज्योतिषशास्त्र के निश्चित सत्यों के माध्यम से उसे व्यक्त किया था। यद्यपि बिहारी ने अपने श्रमसाध्य पांडित्य का परिचय दिया था, लेकिन दूरारूढ़ या ऊहात्मक सत्यों को लाने के प्रयास में वह कवित्व की बाजी हारते गये हैं। सूरदास के साथ ऐसी बात नहीं हुई। राधा, कृष्ण के साथ जव संयोगकाल में थी तो केले के चिकने पत्ते की तरह प्रसन्न और कोमल बनी हुई थी; लेकिन कृष्ण के वियोग में वह वैसी ही हो गयी, जैसे केले के पत्तों की पीठ। केले के पत्तों की

पीठ काली या म्लान होती है। राधा के म्लान—मूर्च्छित हो जाने के सत्य को कवि एक गोचर प्रतिरूप में दिखला देता है।

इतने विवेचन से यह बात प्रायः सिद्ध है कि कवि उपमेय या प्रस्तुत के सत्य को अप्रस्तुतों में व्यक्त कर देता है। इसी बात को यों भी कह सकते हैं कि प्रस्तुतों के भीतर निहित सत्य के समर्थन के लिए, उसे अधिक इन्द्रियगोचर और बोधगम्य और व्यंजक बनाने के लिए कवि अप्रस्तुतों को समर्थक तर्क के रूप में प्रस्तुत करता है। सादृश्य के द्वारा भी तो सत्य की प्राप्ति होती ही है; यद्यपि तार्किकों ने अतिरंजनापूर्ण उपमानवाक्य से बचने का संकेत किया है। अप्रस्तुत विधान के भीतर मुख्य प्रवृत्ति तो यही है कि हम एक वस्तु के सत्य को दूसरी वस्तु में पाने का प्रयास करते हैं।

कवि के मन में किसी विशेष क्षण में एकाएक जो परिस्थिति-प्रेरित सत्य उद्भासित हो उठता है, वह हृदय की एक घनिष्ठ अनुभूति से अभिन्न है। यह भी मानना होगा कि यह सत्यानुभूति किसी वस्तु के दर्शन से ही जगती है; किसी वस्तु की सम्यक् प्रतीति से ही जगती है। उस वस्तु से उद्भूत सम्यक् प्रतीति को कवि किसी पूर्वानुभूत सत्य के मेल में रखकर फिर मिलाता है, जिससे कि तत्काल-प्राप्त सत्य की पुष्टि हो। इसलिए यह अप्रस्तुत-योजना हमारे दैनिक जीवन में भी चलती रहती है। सत्य की प्राप्ति का यह विश्वास कवि स्वयं तक नहीं रखना चाहता—इस सत्य को अमरत्व देने के लिए, इस सत्य को व्यष्टि-साक्ष्य से समष्टि-साक्ष्य में परिणत करने के लिए वह अभिव्यक्त कर देता है। बँगला के सुप्रसिद्ध चिंतक श्री मोहित लाल मजूमदार के दृष्टिकोण से **"एकमात्र कवि ही, जो देखता है, अपर को भी वह दिखाना चाहता है, इसीलिए साहित्य ही ज्ञान का प्रकृत उपाय है, साहित्य का ज्ञानयोग ही उत्कृष्ट है।"** कवि अपने द्वारा उपलब्ध सत्य के साक्षात्कार को अपने तक सीमित नहीं रखता, मानव-मात्र का बना देता है। इस तरह कवि मानव-सृष्टि की ज्ञान-साधना में भी अंशदान करता है। यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि साहित्यकार भी ज्ञानदान करता है, और वैज्ञानिक तथा दार्शनिक भी। फिर तीनों में पार्थक्य क्या है?

इस प्रश्न का एक सार्थक उत्तर यह है कि **साहित्यकार ज्ञान को अनुभूति में पर्यवसित करता है। वैज्ञानिक और दार्शनिक ऐसा नहीं करते।** कवि ज्ञान-कथन नहीं करता, तत्त्व-कथन नहीं करता, वह रूप-सृष्टि करता है। **तत्त्व को रूप देने में ही कवि-कल्पना की महत्ता है। एक क्षण के वस्तुगत सत्य को अन्य वस्तुओं के माध्यम से व्यक्त दिखला देना ही कविकर्म है।** इसे ही लोग कहते हैं कि सत्य को सुन्दर और शिव में परिणत कर देना ही कविकर्म है। कवि सत्योपलब्धि करता है, उस ज्ञान को या उस चिंतन को वह भाव में धरता है और फिर भाव को गोचर रूपों में (प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत) भरता है—इस तरह कवि की कल्पना-वृत्ति सक्रिय रहती है।

इस तरह स्पष्ट है कि अप्रस्तुत सत्योपलब्धि के माध्यम के रूप में कार्य करते रहते हैं। यह भी स्पष्ट है कि कविता ज्ञानयोग से पृथक् नहीं है।

अलंकारों की संख्या और वर्गीकरण

अलंकारों की संख्या अत्यन्त विवादग्रस्त है। हर युग का साहित्य भिन्न-भिन्न ढंग के वाग्विकल्प की रचना करता है। इसलिए अलंकारों की संख्या अनन्त हो चलती है। दण्डी ने इस दृष्टि से वैज्ञानिक तथा अमर सत्य की घोषणा की है—

"अलंकारों की सृष्टि तो आज भी हो रही है। अतः सारे-के-सारे अलंकारों की कौन गणना कर सकता है?"

"ते चाद्यापि दिकल्प्यन्ते कस्तान् कात्स्र्न्येन वक्ष्यति।"

(काव्यादर्श)

आज की नयी कविता में भिन्न-भिन्न भावानुभूतियों की अभिव्यक्ति पृथक्-पृथक् शिल्पों में अपनी गठन-प्रकृतियों का निर्माण कर रही है। बिम्व शब्द से ही आज के समीक्षक काम चला लेते हैं, किसी शास्त्रीय आधारफलक पर बिम्बों की अनन्त रूप-कल्पनाओं को प्रदर्शित नहीं करते। इसका मुख्य कारण यही है कि अलंकारों की संख्या सीमित करना, वे, अवैज्ञानिक समझते हैं।

संस्कृत के काव्यशास्त्र के अभ्युदय के साथ-साथ अलंकारों की संख्या के निर्णय में ही आचार्य अपना पांडित्य समझते थे।

रुद्रट ने इसी कपट मनोवृत्ति के खण्डन के लिए, स्वाभाविक ढंग से कहा था कि हृदय को आह्लादित करने वाले जितने भाव हैं, सभी अलंकार हैं; जितने अर्थ हैं, सभी अलंकार हैं।

आर्षयुग में अलंकारों का पृथक् शास्त्र विकसित नहीं हुआ। हाँ छन्दःशास्त्र का पृथक् रूप में उद्भव और विकास हो चुका था। किन्तु आर्षयुग में उपमा, रूपक, दीपक एवं यमक का किसी-न-किसी रूप में अलंकरण के लिए, उल्लेख मिलता है। भरतमुनि ने अपने 'नाट्यशास्त्र' (तीसरी शताब्दी) में पूर्व-प्रचलित इन चार अलंकारों को स्थान दिया। भरतमुनि ने किसी नये अलंकार की सृष्टि नहीं की। उनके बाद सबसे पहले अलंकारशास्त्र की मूल भित्ति दण्डी में मिलती है, जिनका उद्भव षष्ठ शतक में होता है। दण्डी ने ३२८ श्लोकों में नाना प्रकार-भेद और उदाहरणों के साथ ३६ अलंकारों की व्याख्या प्रस्तुत की है। उनके द्वारा प्रस्तुत अलंकारों की संज्ञा प्रांजल है तथा उनके जतने उदाहरण हैं, सभी स्वरचित एवं सुन्दर हैं। रुय्यक के आते-आते, यानी १२वीं शताब्दी में, अलंकारों की संख्या

का विपुल विस्तार हो गया। दण्डी और रुय्यक के बीच का काल अलंकारों के संख्या-विस्तार का काल है। 'चन्द्रालोक' के रचयिता जयदेव और 'कुवलयानन्द' के रचयिता अप्पयदीक्षित तक अलंकारों की संख्या में फिर वृद्धि हुई। फिर शोभाकर के 'अलंकार-रत्नाकर' में अलंकारों की अत्यधिक संख्या देखकर तो यह स्पष्ट हो गया कि अलंकार अपरिमित हैं। पण्डितराज जगन्नाथ ने १७वीं शताब्दी में लिखित अपने ग्रन्थ 'रसगंगाधर' में अलंकारों की संख्या १८० से भी अधिक कर दी। इसमें कुछ अलंकार तो चमत्कारहीन तथा म्लान हैं; कुछ अलंकारों का दूसरे अलंकारों में अन्तर्भाव हो जाता है और कुछ अलंकार अप्रधान या अमुख्य कहकर टाल दिये जा सकते हैं। अलंकारों की संख्या के मतभेद में न पड़कर अलंकारों के वर्गीकरण के अंतर्गत ही अलंकारों की संख्या का निर्णय अन्तर्भुक्त कर लेना ठीक होगा।

रुय्यक (१२वीं शताब्दी) और उनके परम शिष्य मंखक ने 'अलंकारसर्वस्व' में अलंकारों का वर्गीकरण किया है। रुय्यक ने अलंकारों को सात वर्गों में विभाजित किया है—

१. सादृश्यगर्भ,
२. विरोधगर्भ,
३. शृंखलाबद्ध,
४. वाक्यन्यायमूल,
५. लोकन्यायमूल,
६. तर्कन्यायमूल,
७. गूढ़ार्थप्रतीतिमूल।

'हिन्दी-साहित्य-कोश' में डॉ० विजयेन्द्र स्नातक ने रुय्यक के वर्गीकरण को मान्यता देते हुए, उसी के आधार पर वर्गीकरण प्रस्तुत किया है। पंडित रामदहिन मिश्र ने 'काव्यदर्पण' में विद्याधर के द्वारा प्रस्तुत अलंकारों के वर्गीकरण को वैज्ञानिक एवं संगतिपूर्ण माना है। विद्याधर का वर्गीकरण यों है—

१. साधर्म्यमूल,
२. अध्यवसायमूल,
३. विरोधमूल,
४. वाक्यन्यायमूल,
५. लोकव्यवहारमूल,
६. तर्कन्यायमूल,
७. शृंखलावैचित्र्यमूल,
८. अपह्नवमूल,
९. विशेषणवैचित्र्यमूल।

विद्याधर ने 'एकावलीसार' में अलंकारों का सूक्ष्म दृष्टि से भी विभाजन किया है और स्थूल दृष्टि से भी। ऊपर का वर्गीकरण सूक्ष्म दृष्टि का परिचायक है और निम्नांकित वर्गीकरण स्थूल दृष्टि का परिचायक—

१. **वस्तुप्रतीति**— इसके अन्तर्गत समासोक्ति, आक्षेप आदि हैं।

२. **औपम्यप्रतीति**— इसके अन्तर्गत रूपक, उत्प्रेक्षा आदि हैं।

३. **रसभावप्रतीति**— इसके अन्तर्गत रसवत्, प्रेय आदि हैं।

४. **अस्फुटप्रतीति**— इसके अन्तर्गत उपमा, अर्थान्तरन्यास आदि अलंकार आते हैं।

डॉ० विजयेन्द्र स्नातक के मतानुसार, रुय्यक द्वारा प्रस्तुत अलंकारों का वर्गीकरण ही, वैज्ञानिक है। लेकिन उन्होंने रुय्यक के वर्गीकरण को मूल रूप में इस तरह प्रस्तुत किया है—

(१) सादृश्यगर्भ, (२) विरोधमूलक, (३) शृंखलामूलक, (४) न्यायमूलक, (५) गूढ़ार्थ प्रतीतिमूलक।

प्रो० श्यामापद चक्रवर्त्ती ने अपनी बँगला पुस्तक 'अलंकार-चंद्रिका' के सूची-पत्र में अलंकारों का विभाजन इस तरह रखा है—

१. **शब्दालंकार**— इसके अतर्गत अनुप्रास, शब्दश्लेष, पुनरुक्तपदाभास, यमक और वक्रोक्ति हैं।

२. **सादृश्यमूलक अर्थालंकार**— इसके अन्तर्गत उपमा, रूपक, उल्लेख, सन्देह, उत्प्रेक्षा, भ्रांतिमान्, अपह्नुति, निश्चय, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, निदर्शना, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, व्यतिरेक और प्रतीप आ जाते हैं।

श्यामापद चक्रवर्त्ती ने तो कुल १५ अलंकार ही इसके अन्तर्गत गिनाये हैं किन्तु डॉ० विजयेन्द्र स्नातक ने इसके अन्तर्गत २८ अलंकार माने हैं। उनके अनुसार इन सभी (२८) अलंकारों का मूल साधर्म्य है। साधर्म्य का वर्णन तीन प्रकार से होता है। (क) भेदाभेदतुल्यप्रधान, (ख) अभेदप्रधान, (ग) भेदप्रधान। इसके अतिरिक्त यह साधर्म्य कहीं वाच्य रहता है और कहीं व्यंग्य या प्रतीयमान।

(क) भेदाभेदतुल्यप्रधान में चार अलंकार आते हैं—उपमा, उपमेयोपमा, अनन्वय और स्मरण। इन अलंकारों में उपमेय और उपमान का धर्म एक रहता है; दोनों में तुल्य साधर्म्य की स्थिति मौजूद रहती है। अतः इन सभी अलंकारों की मूल रीढ़ है—भेदाभेद तुल्यप्रधान साधर्म्य।

(ख) अभेदप्रधान में ८ अलंकार होते हैं। इन आठ अलंकारों में ६ अलंकार आरोपमूल हैं और २ अध्यवसायमूल। आरोपमूल अलंकार हैं— (१) रूपक, (२) परिणाम, (३) संदेह, (४) भ्रांतिमान्, (५) उल्लेख और (६) अपह्नुति। अध्यवसायमूल के अंतर्गत उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति हैं।

(ग) **भेदप्रधान या गम्यमान औपम्य**— इसके अंतर्गत १६ अलंकार आते हैं। तुल्ययोगिता, दीपक, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, निदर्शना, व्यतिरेक, सहोक्ति, विनोक्ति, समासोक्ति, परिकर, श्लेष, अप्रस्तुतप्रशंसा, पर्यायोक्ति, अर्थान्तरन्यास, व्याजस्तुति और आक्षेप। इन अलंकारों में उपमेय-उपमान भाव वाच्य नहीं होता, व्यंग्य रहता है; औपम्य विधान इसमें प्रतीयमान या गम्य रहता है।

इस प्रकार सादृश्यमूलक अर्थालंकार के वर्ग में २८ अलंकार होते हैं।

३. **विरोधमूलक अर्थालंकार**— इसके अंतर्गत अध्यापक श्यामापद चक्रवर्त्ती ने मात्र पाँच अलंकारों के नाम गिनाये हैं— विरोधाभास, विभावना, विशेषोक्ति, असंगति और विषम। किन्तु डॉ० विजयेन्द्र स्नातक ने १२ अलंकारों के नाम गिनाये हैं— विरोध, विभावना, विशेषोक्ति, सम, विचित्र, अधिक, अन्योन्य, विशेष, व्याघात, अतिशयोक्ति (कार्य-कारणपौर्वापर्य), असंगति और विषम।

इन सभी अलंकारों का मेरुदण्ड है विरोध का वर्णन; किन्तु सम अलंकार भी इसके अंतर्गत रख लिया गया है, चूँकि वह भी विषम का विरोधी होता है।

४. **शृंखलामूलक अलंकार**— इसके अंतर्गत चार अलंकार माने गये हैं— कारणमाला, एकावली, माला-दीपक और सार।

५. **न्यायमूलक अलंकार**—इसके अंतर्गत १७ अलंकार माने जाते हैं—

(क) तर्कन्यायमूलक— काव्यलिंग और अनुमान।

(ख) काव्यन्यायमूलक या वाक्यन्यायमूलक— यथासंख्य, पर्याय, परिवृत्ति, अर्थापत्ति, विकल्प, परिसंख्या, समुच्चय और समाधि।

(ग) लोकन्यायमूलक—प्रत्यनीक, प्रतीप, मीलित, सामान्य, तद्‌गुण, अतद्‌गुण और उत्तर।

६. **गूढ़ार्थप्रतीतिमूलक अलंकार**— गूढ़ार्थ के प्रतिपादक तीन ही अलंकार, डॉ० विजयेन्द्र स्नातक मानते हैं— सूक्ष्म, व्याजोक्ति और वक्रोक्ति।

किन्तु, अध्यापक श्यामापद चक्रवर्त्ती ने अपनी पुस्तक 'अलंकार-चंद्रिका' (बँगला) में अप्रस्तुतप्रशंसा, अर्थान्तरन्यास, व्याजस्तुति, स्वभावोक्ति और आक्षेप को भी इसी के प्रतिपादक के रूप में परिगणित किया है।

इस प्रकार जिन चमत्कारपूर्ण अलंकारों को परिगणनीय और वर्गीकरण में अंतर्भाव-योग्य समझा गया है, उन अलंकारों की कुल संख्या ८५ के लगभग है।

शब्दालंकार

जब हम कोई भी वाक्य सुनते हैं तो हमारा ध्यान दो वस्तुओं पर केन्द्रित रहता है— शब्द या शब्द की ध्वनि तथा शब्द का अर्थ। शब्द की ध्वनि श्रुतिगोचर होती है, शब्द का अर्थ मनोगोचर होता है। कविता को मनोहर तथा आस्वाद्य बनाने के लिए ध्वनि तथा अर्थ—दोनों का अलंकरण होता है। शब्द की ध्वनि का आश्रय करके जिस अलंकार-समूह की सृष्टि होती है, उसे शब्दालंकार कहते हैं और अर्थ पर आश्रित जिस अलंकार-समूह की सृष्टि होती है, उसे अर्थालंकार कहते हैं।

शब्दालंकार और अर्थालंकार के बीच विभाजक रेखा खींचने के लिए बहुत आम तौर पर कही गयी बातें हैं। लेकिन प्रश्न उठता है कि क्या शब्दालंकार अर्थहीन होता है ? शब्द की ध्वनि पर आश्रित जो अलंकार होते हैं, वे क्या निरर्थक होते हैं ? शब्दालंकार में भी अर्थ मौजूद रहता है, किन्तु अर्थ का चमत्कार प्रमुख नहीं होता, बल्कि शब्द या शब्द की ध्वनि का चमत्कार प्रमुख होता है। शब्दालंकार और अर्थालंकार के भेद को सुस्पष्ट करते हुए आलंकारिकों ने यह भी कहा है कि अर्थालंकार शब्द का परिवर्त्तन सह सकता है और अपनी सुन्दरता तथा प्रतिष्ठा अक्षुण्ण रख सकता है किन्तु शब्दालंकार शब्द का परिवर्त्तन सह नहीं पाता और शब्द-परिवर्त्तन से उसका अस्तित्व ही मिट जाता है। चूँकि उस विशेष शब्द में विशेष अर्थ है, विशेष प्रकार की ध्वनि है—इसीलिए वह विशेष शब्द अपेक्षित होता है। उसका पर्याय अपेक्षित नहीं होता। जैसे भूषण की एक प्रसिद्ध कविता है—

ऊँचे घोर मन्दर के अन्दर रहन वारी
ऊँचे घोर मन्दर के अन्दर रहाती हैं।
कन्दमूल भोग करैं कन्दमूल भोग करैं
तीन बेर खातीं सो तौ तीन बेर खाती हैं॥
भूखन सिथिल अंग भूखन सिथिल अंग
बिजन डुलाती ते वै बिजन डुलाती हैं।
भूषन भनत सिवराज वीर तेरे त्रास
नगन जड़ातीं ते वै नगन जड़ाती हैं॥

अर्थात् अत्यन्त ऊँचे भवनों में रहने वाली सुन्दरियाँ—मुगलों के दरबार की रानियाँ—अत्यन्त ऊँचे पहाड़ों में अब (भटक-भटक कर) रह रही हैं। केवल कन्दमूल यानी फल पर ही जीने वाली वे सुन्दरियाँ— विलास में सुस्वादु फलों का-भोग करने वाली वे स्त्रियाँ—अब पहाड़ी शाकसब्जी खाकर ही जीवन-यापन कर रही हैं। वे दिनभर में तीन बार सुन्दर भोजन करती थीं—अब मुश्किल से तीन जंगली वेर मिल पाते हैं भोजन के लिए उन्हें! जिन सुन्दरियों के अंग-अंग आभूषणों या गहनों से सुसज्जित होकर भारी पड़ गये थे—चल नहीं पाती थीं वे—उन सुन्दरियों के अंग-अंग अब भूख के मारे छटपटाकर शक्तिहीन हो गये हैं, मुर्झा गये हैं। जो सुन्दरी कामिनयाँ दासियों से पंखा झलवाती थीं— वे ही अब विजन वन के कान्तार में अकेले (बिना दास-दासियों के) भटक रही हैं। भूषण कहते हैं कि "हे छत्रपति शिवाजी! वे सुन्दरियाँ जो पहले आभूषणों में नग जड़वाती थीं तुम्हारे प्रताप से भयभीत होकर, अब वस्त्रहीन होकर, नग्न होकर जाड़े में काँप रही हैं।"

भूषण के उपर्युक्त पद में शब्दों की भिन्न-भिन्न (Shades) अर्थच्छायाएँ क्या चमत्कार पैदा करती हैं, यह सहज ही द्रष्टव्य है। उन सुन्दरियों या प्रकारान्तर से मुगलों के विलासमय जीवन की विडम्बना शब्द-शब्द पर टाँक दी गयी है। इस पूरे पद में यमक अलंकार की छटा देखने ही योग्य है।

इस अप्रासंगिक उद्धरण से मेरा मतलब यह है कि क्या इस कविता में शब्दालंकार मात्र होने से अर्थ की द्युति नहीं है? अगर अर्थ न हो, तो कविता में इनका उपयोग क्या रह जायेगा? यमक में जहाँ सर्वत्र सार्थक वर्णों की आवृत्ति होती है, उसका यह उपयुक्त उदाहरण है। एक ही शब्द आवृत्ति में दूसरे अर्थ तथा भिन्न जीवन का संदर्भ व्यक्त करता है। जैसे उपर्युक्त उदाहरण में—"कन्दमूल भोग करैं, कन्दमूल भोग करैं"—कन्दमूल शब्द की आवृत्ति से अर्थ की छाया उठती है। तथा भिन्न संदर्भ की बात कह जाती है। कन्दमूल का अर्थ है व्यंजन, फल, शाक आदि लेकिन एक अर्थ विलास का संदर्भ देता है, तो दूसरा दरिद्रता और यातना का संदर्भ। उसी तरह 'भोग करैं' में विलास के भोग तथा यातना के भोग का अन्तर आवृत्ति से स्पष्ट होता है।

इस तरह शब्दालंकर भी तो अर्थ का अवलम्बन करता है। तो फिर शब्दालंकार क्यों?

हमारी यह उलझन अध्यापक श्यामापद चक्रवर्ती के मंतव्यों से कुछ दूर होती है। उनके मत से—

"शब्दालंकार प्रकृत पक्ष से ध्वनि का अलंकार है। ध्वनि फिर कई रूपों में देखी जा सकती है— वर्णध्वनि, पदध्वनि— कहीं-कहीं वाक्यध्वनि। शब्दालंकार का शब्द सूक्ष्म विचार से word नहीं है। अनुप्रास में वर्णध्वनि होती है; यमक, वक्रोक्ति, श्लेष, पुनरुक्तवदाभास में पदध्वनि होती है।"

(अलंकार-चंद्रिका, पृ० ७, बँगला से रूपान्तरित)

शब्दालंकार, इस तरह सुनने से जो आनन्द मिलता है, उसी के प्राधान्य का विधान करता है। किन्तु श्लेष में तो अर्थ का चमत्कार उसे समझने और मनन करने से मिलता है, फिर यमक में भी तो अर्थ का मनन करना पड़ता है और लाटानुप्रास में भी तो तात्पर्य की भिन्नता समझने और मनन करने से आनन्द मिलता है। अतः उसे ध्वन्यर्थ पर आश्रित मानना ही ठीक है।

शब्दालंकार का सम्बन्ध शब्द-शक्ति-उद्भव-ध्वनि से क्या है?

शब्दालंकार में जिस शब्द से अलंकार का उद्भव होता है, उसके स्थान पर उस शब्द का पर्यायवाची शब्द रख देने से सारा चमत्कार तिरोहित हो जाता है।

शब्द-शक्ति-उद्भव-ध्वनि की भी कुछ ऐसी ही स्थिति है। इसमें भी वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ की प्रतीति किसी विशेष शब्द की शक्ति के कारण होती है। उस विशेष शब्द के स्थान पर यदि उसका पर्यायवाची रख दिया जाय तो ध्वनि तिरोहित हो जाती है—यानी वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ की प्रतीति नष्ट हो जाती है। शब्द-शक्ति-उद्भव-ध्वनि के दो भेद माने गये हैं—(१) वस्तुध्वनि तथा (२) अलंकारध्वनि।

वस्तुध्वनि का उदाहरण है—

चिरजीवो जोरी जुरै क्यों न सनेह गँभीर।
को घटि ये वृषभानुजा, वे हलधर के बीर॥

इस दोहे में दो श्लिष्ट शब्द हैं— वृषभानुजा तथा हलधर के वीर।

इन दो श्लिष्ट शब्दों के कारण ही इस दोहे में कुछ अलौकिक चमत्कार आ गया है। अगर 'वृषभानुजा' और 'हलधर के वीर'— इन दो श्लिष्ट शब्दों के स्थान पर इनके पर्यायवाची शब्द रख दिये जायँ तो त्रिविध अर्थ-अवतरण तिरोहित हो जायगा।

१. वृषभानुजा = वृषभानु जी जैसे महापुरुष की बेटी।

हलधर के वीर = हलधर जी जैसे प्रभावशाली व्यक्ति के भाई।

(यानी राधा और कृष्ण दोनों प्रतिष्ठा तथा प्रभाव में एक-दूसरे से कम नहीं हैं, घटे हुए नहीं हैं।)

२. वृषभानुजा = (वृष के सूर्य) वृषभानु की बेटी अर्थात् प्रचंडता तथा प्रदीप्तता से सम्पन्न।

हलधर के वीर = हलधर अर्थात् शेषनाग के अवतार हलधर जी के भाई।

(अर्थात् उग्रता और असहिष्णुता के अवतार के भाई)

(दोनों ही प्रचंड, उग्र तथा असहिष्णु हैं।)

३. वृषभानुजा = गाय (पशु)।

हलधर के वीर = बैल (पशु)।

(दोनों ही पशवृत्ति के, यानी, हठी, उग्र तथा किसी की बात नहीं मानने वाले हैं।)

इस तरह श्लेष के कारण ही त्रिविध अर्थ का चमत्कार उत्पन्न होता है। शब्दशक्ति-उद्भव-ध्वनि से ही हम जान पाते हैं कि दोनों पशु हैं, हठी हैं, एक-दूसरे पर रंज हैं तथा किसी की बात नहीं मानने वाले हैं। दोनों को मनाने वाली सखी की खीझ यहाँ ध्वनित हो उठती है।

शब्द-शक्ति-उद्भव-वस्तुध्वनि का उपर्युक्त उदाहरण इस बात का प्रमाण है कि दो श्लिष्ट शब्दों पर ही उसका अस्तित्व निर्भर है।

इसी तरह शब्द-शक्ति-उद्भव-अलंकार ध्वनि का यह उदाहरण—

उपादान-संभार बिनु जगत्-चित्र बिन भीत।
कलाकार हर ने रच्यो बन्दौं उन्हें विनीत॥

(रचना करने की सारी सामग्री के बिना तथा बिना दीवार के— कलाकार शिव ने इस जगत्-चित्र की रचना की है, इसलिए विनीत भाव से उनकी वन्दना करता हूँ; या चन्द्रमा की कला धारण करने वाले शिव ने इस संसार-चित्र की रचना बिना दीवार तथा बिना चित्र-रचना की सामग्री के की है।)

इस दोहे में साधारण कलाकार से शिव के कलाकार व्यक्तित्व का आधिक्य सूचित किया गया है— इसलिए इसमें व्यतिरेक अलंकार की ध्वनि है। अगर 'चित्र' और 'कला' शब्द हटा दिये जायँ तो व्यतिरेक अलंकार की ध्वनि नहीं रहेगी। इसलिए इन दो शब्दों पर ही यह शब्दशक्ति-उद्भव-अलंकारध्वनि निर्भर है।

इन दोनों उदाहरणों से स्पष्ट है कि शब्द-शक्ति-उद्भव ध्वनि में शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों को समेट लिया गया है। पहले उदाहरण में श्लेष नामक शब्दालंकार की सहायता से वस्तुध्वनि की सृष्टि हुई है और दूसरे उदाहरण में भी चित्र तथा कला दो शब्दों से व्यतिरेक अलंकार की ध्वनि होती है।

टिप्पणी— शब्दालंकार में अलंकार शब्दाश्रित होता है। शब्द में अंतर पड़ने से अलंकार रह नहीं पाता। कविता में चामत्कारिक प्रस्फुटन की सृष्टि के लिए विशेष-विशेष शब्दों की बाध्यता केवल अलंकारशास्त्र की ही दृष्टि से नहीं होती। अगर उन शब्दों को हटा दिया जाय तो कविता के लयात्मक गठन तथा आवयविक गठन दोनों पर असर पड़ता है। कविता पहले की तरह प्रभावशाली नहीं रह पाती। फिर उन शब्दों से ही तो कविता में अर्थ की भी एक लय बनती है, जो कविता की अन्तःलय होती है। शब्दों की मात्र अर्थ देने की इकाइयों के रूप में स्वीकृति अभी तक होती आई है। लेकिन कविता में शब्द मात्र अर्थ ही नहीं देते, ध्वनि की सहायता से लय का गठन भी करते हैं, जिसके फलस्वरूप कविता का अर्थ व्युत्पन्न तथा प्रसरित होता है। इस सम्बन्ध में आर्किबाल्ड मेक्लिश के विचार द्रष्टव्य हैं—

"The poem's meaning is evoked by the structure of words—as sounds rather than by the structure of

words—as meanings. (*Poetry and Experience*, Page 15) अर्थात् कविता का अर्थ जागृत होता है शब्दों के ध्वनि-रूप गठन से, न कि शब्दों के अर्थ-रूप गठन से।"

फिर कविता में अर्थ-प्रसार भी ध्वनि-गठन का ही परिणाम है, इस सम्बन्ध में आर्किबाल्ड मेक्लिश के विचार यों हैं—

"And the enhancement of meaning, which we feel of any true poem is a product, therefore, of the structure of the sounds." (Page 15)

पुनः आर्किबाल्ड मेक्लिश ने कहा है कि कुछ शब्द तो ऐसे हैं ही, जिनके अर्थों को पाने के लिए ध्वनि ही सहायता करती है। जैसे भूँकना, भनभनाना, गड़गड़ाना, चहचहाना, चटखना, भटकना। उनके उदाहरण यों हैं—

"The sound of buzz is the meaning of buzz. The sound of bark is the meaning of bark. And so it goes through the whole range of onomatopoetic words. The sound means." (Page 16)

इस तरह अंत में हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि शब्दालंकार में शब्दों के ध्वनि-रूप गठन से अर्थ-प्रसार में मदद मिलती है। प्रकृत रूप में शब्दालंकार शब्दाश्रित नहीं बल्कि ध्वन्याश्रित होता है।

अनुप्रास

एक ही वाक्य में एक वर्ण-समूह की एकाधिक बार आवृत्ति होने से जो ध्वनि-सौन्दर्य प्रस्फुटित होता है, उसे अनुप्रास कहते हैं।

इसमें वर्ण-साम्य या वर्ण-सादृश्य की कल्पना की गयी है। वर्णों की पुनः-पुनः आवृत्ति से रसानुकूल ध्वनि-सौन्दर्य की सृष्टि ही इस अलंकार की विशेषता है। अनुप्रास शब्द का अर्थ भी इसकी पुष्टि करता है। अनुप्रास का अर्थ है रसादि का अनुगत, प्रकृष्ट (पास-पास) वर्ण-विन्यास। इसका दूसरा अर्थ यों भी किया जा सकता है—अनु = पश्चात्। प्र = प्रकृष्ट। आस = बार-बार प्रयोग। एक वर्ण के बाद उसी वर्ण का बार-बार प्रयोग अनुप्रास होता है।

इसमें स्वर-साम्य नहीं होने पर भी केवल व्यंजनों के सादृश्य या साम्य में ध्वनि-सौन्दर्य की सृष्टि से अलंकार होता है।

संस्कृत के काव्यशास्त्र में इस अलंकार का सर्वप्रथम निश्चित प्रयोग भामह ने किया है। भामह के बाद रुद्रट ने इसका लक्षण-निरूपण किया—"अविवक्षित स्वर-व्यंजनों के अनेक बार के निरन्तर आवर्त्तन को अनुप्रास कहते हैं (काव्यालंकार : २ : १८)।"

मम्मट के अनुसार— 'वर्णसाम्य अनुप्रास' (काव्यप्रकाश : ९ : ७९)

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने कहा— "अनुप्रासः शब्दसाम्यं वैषम्येऽपि स्वरस्य यत्" (साहित्यदर्पण)।

विश्वनाथ के शब्दसाम्य का अर्थ है व्यंजन वर्णों का ध्वनिसाम्य।

सचाई भी तो यही है कि अनुप्रास में स्वर-ध्वनि का सम्मान नहीं है।

डॉ० सुधीर कुमार दास गुप्त ने 'काव्यश्री' नामक अपनी बँगला पुस्तक में अनुप्रास का विवेचन करते हुए एक बड़ी ही प्रामाणिक बात कही है। उनके मत से दूरवर्त्ती दो शब्दों के मध्य वर्णसाम्य ग्राह्य नहीं होता है; कारण, बहुत बाद में आवृत्ति होने से प्रथम उच्चरित वर्णों की स्मृति तथा संस्कार दुर्बल हो जाते हैं और उनमें कोई भी चमत्कार शेष नहीं बचता।

अनुप्रास के प्रमुख स्वीकृत भेद निम्नलिखित हैं—

१. छेकानुप्रास,
२. वृत्त्यनुप्रास,
३. श्रुत्यनुप्रास,
४. लाटानुप्रास,
५. अन्त्यानुप्रास।

छेकानुप्रास

अनेक व्यंजनों की एक बार स्वरूपतः एवं क्रमतः आवृत्ति को छेकानुप्रास कहते हैं।

छेक का अर्थ है चतुर, विदग्ध। चतुर-विदग्ध लोगों का अलंकार—छेकानुप्रास कहलाता है। चूँकि विदग्धों को इस अलंकार में उत्पन्न एकाधिक व्यंजनों की स्वरूप-क्रमतः आवृत्ति पसंद है, प्रिय लगती है, इसलिए इस अलंकार का नामकरण ही छेकानुप्रास कर दिया गया है।

इस अलंकार में एकाधिक व्यंजनों की आवृत्ति मात्र एक बार होती है, सो भी स्वरूप और क्रम से इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि 'सर' की आवृत्ति यदि 'रस' के रूप में हो—तो छेकानुप्रास नहीं होगा। 'सर' की आवृत्ति 'सर' में ही होनी चाहिए। 'कमल' की आवृत्ति 'कोमल' के रूप में होकर भी छेकानुप्रास है। क्यों ? 'ओ' की स्वर-ध्वनि की गणना अनुप्रास में नहीं होती—अनुप्रास में व्यंजन की आवृत्ति देखी जाती है। इसलिए 'कसम-कुसुम' में भी छेकानुप्रास होता है। उदाहरणस्वरूप—

"बाल बेलि सूखी सुखद, इहि रूखे रुख घाम।
फेरि डहडही कीजिये, सुरस सींचि घनश्याम॥"

यहाँ बाल बेलि में छेकानुप्रास है।

सूखी सुखद—सूखी सुख (द) में छेकानुप्रास है।

रूखे रूख— में छेकानुप्रास है।

यहाँ अनेक व्यंजनों की एक बार स्वरूपतः क्रमतः एवं आवृत्ति हुई है। इसीलिए छेकानुप्रास है।

"सठ सुधरहिं सत संगति पाई। पारस परस कुधातु सोहाई॥"

इसमें 'पारस-परस' में प र स की स्वरूप तथा क्रम से एक बार आवृत्ति है, इसलिए छेकानुप्रास है। देव ने इस अलंकार का बड़ा ही मधुर व्यंजन-विन्यास किया है—

"रीझि रीझि रहसि रहसि हँसि हँसि उठै,
साँसै भरि आँसू भरि कहत दई दई।"

रीझि रीझि, रहसि रहसि, हँसि हँसि, दई दई— में अनेक व्यंजनों की स्वरूप तथा क्रम से एक ही बार आवृत्ति दिखायी गयी है। ऐसे स्थलों पर ध्वनि-सौन्दर्य का मधुर रूप देखा जा सकता है। शृंगारिक मनोभावों की सुकुमार व्यंजना के लिए ध्वनियों के समानुपातिक रूप किस प्रकार मधुर हो उठते हैं, यह सहज ही द्रष्टव्य है।

इस अलंकार के लक्षण-निरूपण में मम्मट तथा विश्वनाथ के कथन अधिक स्पष्ट हैं। मम्मट के अनुसार एक से अधिक व्यंजनों का एक बार साम्य छेकानुप्रास होता है। विश्वनाथ के मत से, अनेक व्यंजनों की स्वरूप और क्रम से एक बार आवृत्ति को छेकानुप्रास कहते हैं।

आवृत्त वर्णों के स्वरूप और क्रम में समानता इस अलंकार की मूल वस्तु है।

वृत्त्यनुप्रास

वृत्ति-घटित जो अनुप्रास होता है, उसे वृत्त्यनुप्रास कहते हैं।

वृत्ति शब्द का अर्थ है रस-व्यंजक वर्ण-रचना। इसके साथ सबसे प्रमुख बात यही है कि वर्णनीय रस, भाव या गुण के परिव्यंजक वर्ण या वर्ण-समूह की आवृत्ति होने से वृत्त्यनुप्रास होता है।

इसमें आवृत्त वर्ण या वर्ण-समूह वृत्ति का आनुगत्य स्वीकार करते हैं।

मम्मट के अनुसार— 'एकस्याप्यसकृत्परः' अर्थात् एक अथवा एक से अधिक वर्ण-समूह का एकाधिक बार सादृश्य।

वृत्त्यनुप्रास का क्षेत्र काफी बड़ा है। अनुप्रास के भेदों में इस अलंकार की महिमा बड़ी है। इसका सबसे बड़ा कारण यह है—

१. एक व्यंजन की एक बार आवृत्ति,

२. एक व्यंजन की अनेक बार आवृत्ति,

३. अनेक व्यंजनों की स्वरूपतः एक बार आवृत्ति,

४. अनेक व्यंजनों की स्वरूपतः अनेक बार आवृत्ति तथा

५. अनेक व्यंजनों की अनेक बार स्वरूपतः और क्रमतः आवृत्ति, इन सभी स्थितियों में वृत्त्यनुप्रास अलंकार होता है।

इस तरह वृत्त्यनुप्रास अपने खण्ड-रूप में भी पाँच स्थितियों में अवस्थित रहता है। वृत्त्यनुप्रास के साथ सबसे बड़ी सीमा यही है कि रस व्यंजक वर्ण-रचना का आनुगत्य इसे स्वीकारना पड़ता है।

रस के अनुकूल वर्ण-रचना के प्रयोग होते हैं। इस प्रयोग के कुछ नियम भी आलंकारिकों ने स्पष्ट किये। इस प्रकार रस-व्यंजक वर्ण-रचना को वृत्ति के रूप में स्वीकार किया गया। वृत्ति तीन प्रकार की मानी गयी है—

१. उपनागरिका, २. परुषा और ३. कोमला।

माधुर्यगुण-व्यंजक वर्ण-समावेश का नाम उपनागरिका वृत्ति है। इसके अंतर्गत ट ठ ड ढ आदि का व्यवहार नहीं होता। इसमें सानुनासिकता की प्रधानता होती है तथा अनुस्वारयुक्त वर्ण-रचना होती है। इसका प्रयोग शृंगार, हास्य और करुण रसों में होता है। इस वृत्ति के अंतर्गत सामासिक शब्द-प्रयोग जटिल नहीं रहा करते हैं— छोटे-छोटे समासों से ही वर्ण-योजना प्रसरित होती है।

इस वृत्ति के आश्रय में निम्नलिखित उदाहरण की रचना हुई है जो निश्चित रूप से वृत्त्यनुप्रास का सुन्दर उदाहरण है—

"अलि पुंजन की मद गुंजन सौं वन कुंजन मंजु बनाय रह्यो;
लगि अंग अनंग तरंगन सौं रति रंग उमंग वढ़ाय रह्यो।
विकसे सर कंजन कंपित कै रजरंजन लै छिरकाय रह्यो;
मलयानिल मंद दसौं दिसि मैं मकरंद अमंद वहाय रह्यो ॥"

इसमें 'जन' की आवृत्तियाँ पुंजन, गुंजन तथा कुंजन में देखी जा सकती हैं; फिर 'अंग' की आवृत्तियाँ— अंग, अनंग, तरंगन, रंग, उमंग आदि में स्पष्ट हैं; फिर तीसरी पंक्ति में कंजन, रंजन में ध्वनि-साम्य देखा जा सकता है; चौथी पंक्ति में 'दसौं दिसि' में छेकानुप्रास है। किन्तु, मकरंद, अमंद में वृत्त्यनुप्रास है। म, र, न तथा सानुसार वर्णों की अनेक बार आवृत्ति तो स्पष्ट है।

"रस सिंगार मंजन किये कंजनु मंजनु दैन।
अंजनु रंजनु हूँ विना खंजनु गंजनु नैन ॥" —विहारी

यहाँ ज, न तथा सानुस्वार वर्णो की अनेक बार आवृत्ति है।

"मंजुल वंजुल कुंजन गुंजत भृंग विहंग अयानी।
चम्पक चंदन वन्दन संग सुरंग लवंग लता लपटानी ॥" —दास

इसमें ज, ग, न, ल, च तथा सानुस्वार वर्ण की अनेक वार आवृत्तियाँ हैं।

माधुर्यगुण-व्यंजक इन वर्णों की आवृत्ति से शृंगारोचित ध्वनिमय परिवेश का निर्माण होता है। शब्दालंकार की यह उपलब्धि अपने में कम नहीं है कि इससे वर्णनीय रस के अनुकूल ध्वनिमय परिवेश की अभिव्यक्ति हो।

परुपा वृत्ति के अनुकूल अनुप्रास

ओजगुण-व्यंजक वर्ण-समावेश का नाम परुपा वृत्ति है। इसमें ट, ठ, ड, ढ आदि का व्यवहार होता है; द्वित्व वर्णों की बहुलता होती है; वर्ण-रचना से कठोर ध्वनि के परिवेश का निर्माण होता है; संयुक्त वर्णों की प्रधानता होती है—संयुक्त वर्ण अनुनासिक होता है। परुपा वृत्ति का प्रयोग वीर, रौद्र तथा भयानक रसों में होता है।

भूपण ने इस दृष्टि से वृत्त्यनुप्रास का सुन्दर निर्वाह किया है—

"क्रुद्ध फिरत अति जुद्धहि जुरत नहीं रुद्ध मुरत भट।
खग्ग भजत अति वग्ग तजत सिर पग्ग सजत चट ॥"

'द्ध' की आवृत्तियाँ प्रथम चरण में; 'रत' की आवृत्तियाँ द्वितीय चरण में; 'ग्ग' की आवृत्तियाँ तृतीय चरण में और 'जत' की आवृत्तियाँ चतुर्थ चरण में हैं।

इन आवृत्तियों से ही उस ध्वनिमय परिवेश का साक्षात्कार होता है, जहाँ युद्ध का दृश्य है। इस तरह वृत्त्यनुप्रास के इस उदाहरण में वृत्ति या रस-व्यंजक वर्ण-रचना का आनुगत्य देखा जा सकता है।

कोमला वृत्ति के अनुकूल अनुप्रास

प्रसाद-गुण-व्यंजक वर्ण-समावेश का नाम कोमलावृत्ति है। इसमें भी ट, ठ, ड, ढ आदि का व्यवहार नहीं होता है तथा संयुक्त वर्णों का व्यवहार बहुत कम होता है। इसका प्रयोग शान्त, शृंगार, वात्सल्य तथा अद्भुत रसों में होता है। मतिराम के द्वारा प्रस्तुत इस प्रकार के वृत्त्यनुप्रास सफल रूप में देखे जा सकते हैं—

"जेठी पठायी गयी दुलही हँसि हेरि हिये मतिराम बुलायी।
कान्ह के बोल पै कान न दीन्हों सुगेह की देहरी पै धरि आयी॥"

इसमें भी यी, ह, कान आदि की आवृत्तियाँ देखी जा सकती हैं।

इस प्रकार वृत्त्यनुप्रास के तीन रूप वृत्ति के भेद के अनुसार बन जाते हैं।

टिप्पणी— वृत्त्यनुप्रास जब रस-व्यंजक वर्ण-रचना के अनुकूल व्यंजनों की आवृत्तियों का विधान है तो क्या छेकानुप्रास, श्रुत्यनुप्रास आदि-आदि इसके अंतर्गत नहीं आयंगे?

वृत्त्यनुप्रास से ही तो रसानुकूल ध्वनिमय परिवेश के निर्माण का एक काव्य-विधान है, इसकी सीमा के अन्तर्गत ही अनुप्रास के सभी भेदों को स्वीकार कर लेना अधिक वैज्ञानिक लगता है।

सेठ कन्हैया लाल पोद्दार ने भी स्वीकार किया है कि श्रुत्यनुप्रास और अन्त्यानुप्रास को वृत्त्यनुप्रास के भेद के रूप में ही स्वीकार करना चाहिए।

श्रुत्यनुप्रास

वाग्यंत्र के एक ही स्थान से उच्चरित श्रुतिगोचर, सादृश्यमय व्यंजन ध्वनियों की आवृत्ति से उत्पन्न, ध्वनि-सौंदर्य को श्रुत्यनुप्रास कहते हैं।

इस अलंकार का महत्त्व अन्त्यानुप्रास के सहकारी के रूप में और भी बढ़ जाता है। इसमें कण्ठ, तालु आदि किसी एक ही स्थान से उच्चरित होने वाले वर्णों की आवृत्ति होती है।

इस अलंकार का सर्वप्रथम उल्लेख जयदेव के 'चन्द्रालोक' में स्फुटानुप्रास नाम से मिलता है। 'साहित्यदर्पण' में विश्वनाथ ने इस अलंकार की विवेचना की है। आधुनिक काव्यशास्त्रीय आचार्यों ने इसे स्वीकार किया है।

श्रुत्यनुप्रास की सार्थकता समास-बहुला ध्वनि-गांभीर्यपूर्ण संस्कृत भाषा में अक्षुण्ण रहती है। हिन्दी में इसका प्रयोग उतना नहीं मिलता है। फिर भी पद्माकर की कविता में इसका उदाहरण देखा जा सकता है—

"आरस सों आरत, सँभारत न सीस पट,
गजब गुजारति गरीबन की धार पर।
कहै पद्माकर सुगंध सरसावै सुचि,
बिथुरि बिराजैं बार हीरन के हार पर॥"

इसमें ध्वनियों का ऐक्य नहीं होता, सादृश्य होता है। 'आरस' के साथ 'आरत', 'सँभारत' के साथ 'सीस पट' आदि में ध्वनि-सादृश्य है।

इसमें ध्वनि का सादृश्य— 'छन्द-नन्द' की तरह नहीं होता; 'छंद-बंध' की तरह होता है। हिन्दी में द और ध का ध्वनि-सादृश्य होता है। हिन्दी के उच्चारण की अन्तःप्रकृति कुछ ऐसी है कि इसमें पंक-पंख, रंग-संघ, सच्चा-अच्छा, लट-लठ, सात-साथ, माप-माफ आदि में ध्वनि-सादृश्य उपस्थित हो जाता है। इसी तरह प का फ से, ज का झ से, ड का ढ से, द का ध से, ब का भ से— ध्वनि-सादृश्य हो जाता है। हिन्दी के कवियों ने इस तरह के ध्वनि-सादृश्य की सहायता से अनेक तुकों तथा अन्त्यानुप्रासों की रचना की है। जैसे— आंका-शाखा, लूट-फूट, वेग-मेघ, नाच-गाछ-मांछ, प्रतिवादी-उपाधि, जप-कफ। इन श्रुतिग्राह्य सदृश ध्वनियों से ही व्यंजनों की आवृत्ति होती है या व्यंजनों का अनुप्रास रच उठता है।

लाटानुप्रास

शब्द और अर्थ दोनों की आवृत्ति होते हुए भी तात्पर्य की भिन्नता जहाँ होती है, वहाँ लाटानुप्रास होता है।

इसमें अर्थ वही रहता है; उसी अर्थ की आवृत्ति होती है किन्तु अभिप्राय मात्र भिन्न हो जाता है। जैसे—

"पीय निकट जाके, नहीं घाम चाँदनी आहि।
पीय निकट जाके नहीं, घाम चाँदनी आहि॥"

जिसका प्रिय पास है, उसके लिए घाम या धूप भी धूप नहीं रहती, चाँदनी हो जाती है। जिसका प्रिय पास नहीं है, उसके लिए चाँदनी भी दोपहरी की धूप जैसी हो जाती है।

इस तरह अन्वय भेद से तात्पर्य में भिन्नता हो जाती है। अर्थ की आवृत्ति हुई है, शब्द की भी आवृत्ति हुई है किन्तु अभिप्राय भिन्न हो गया है।

इस अलंकार का नाम लाटानुप्रास क्यों पड़ा? लाट शब्द का अर्थ है गुजरात। हो सकता है गुजरात में इस तरह भिन्न अभिप्राय से शब्द और अर्थ की पुनरुक्ति का

प्रचलन रहा हो। या यह भी हो सकता है कि गुजरात के किसी आलंकारिक ने इसकी कल्पना की हो।

इस अलंकार में अनेक प्रकार की आवृत्तियाँ होती हैं— शब्द की, पद की, वाक्य की। इसमें एकार्थक शब्दों की ही आवृत्ति होती है; जैसे— कश्मीर तो कश्मीर ही है; जादू ने तो वास्तव में जादू कर दिया; लड़का तो लड़का ही है; गदहे सब दिन गदहे ही रहेंगे आदि-आदि।

इसका विवेचन भामह ने अनुप्रास के अन्तर्गत किया है और उद्भट ने इसे स्वतंत्र रूप में स्वीकार किया है। मम्मट ने इसका स्वरूप स्थिर करते हुए कहा है—

'शाब्दस्तु लाटानुप्रासो भेदे तात्पर्यमात्रतः।'

अर्थात् लाटानुप्रास समानार्थक किन्तु भिन्न तात्पर्य वाले शब्दों के सादृश्य में होता है। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ के अनुसार— "तात्पर्य मात्र के भेद से शब्द-अर्थ दोनों की पुनरुक्ति को लाटानुप्रास कहते हैं"— "शब्दार्थयोः पौनरुक्त्यं भेदे तात्पर्यमात्रतः लाटानुप्रासः इत्युक्तः।" (सा० द०)

इस अलंकार का एक और उदाहरण भूषण का है—

"औरन के जाँचे कहा, नहि जाँच्यो सिवराज।
औरन के जाँचे कहा, जो जाँच्यो सिवराज॥"

दूसरों के यहाँ याचना करने से क्या यदि शिवाजी से याचना नहीं की। और यदि शिवाजी से याचना की तो फिर दूसरों से याचना करने की आवश्यकता ही कहाँ रही?

इस तरह अन्वय से तात्पर्य में भिन्नता उपस्थित हो गयी। इस अलंकार में पुनरुक्तिपूर्ण कथन-शैली की तात्पर्य-भिन्नता बड़ी ही प्रभावशालिनी होती है।

"वे घर हैं वन ही सदा जो ह्वै बन्धु-वियोग।
वे घर हैं वन ही सदा जो नहिं बन्धु-वियोग॥"

यदि बन्धु-वियोग हमेशा होता रहता है तो घर भी निर्जन वन की तरह हँसी-खुशी से रिक्त लगता है; यदि वन में ही घर के सब लोग हैं और परिवार के सदस्यों का हमेशा समागम रहता है तो वह वन भी घर ही है। इसमें पदों की आवृत्तियों में तात्पर्यभिन्नता है।

इस तरह अब स्पष्ट है कि एकार्थक शब्दों की पुनरुक्ति में यदि तात्पर्यगत भिन्नता हो तो लाटानुप्रास होता है।

अन्त्यानुप्रास

कविता में पादान्त के साथ पादान्त का और चरणान्त के साथ चरणान्त का जब ध्वनि-साम्य हो तो उसे अन्त्यानुप्रास कहते हैं।

अन्त्यानुप्रास को तुक भी कह सकते हैं। इसमें स्वर-ध्वनि की भी मर्यादा है। अन्य अनुप्रासों में व्यंजन ध्वनियों की ही मर्यादा होती है। परन्तु इसमें स्वर से विच्छिन्न करने पर व्यंजन की ही मर्यादा घट जाती है। कहना तो यह चाहिए कि हिन्दी कविता में शुद्ध स्वर ध्वनियों के अन्त्यानुप्रास ही अधिक मात्रा में मिलते हैं। तुक या अन्त्यानुप्रास को अँगरेजी में Rhyme (राइम) कहते हैं।

स्मिथ ने इसकी परिभाषा यों दी है—

"Likeness between the vowel sounds in the last metrically stressed syllables of two or more lines, or sections of lines, and between all sounds, consonant or vowel, that succeed."

अर्थात् दो या दो से अधिक पंक्तियों या चरणों के अन्त में छांदसिक बल से युक्त वर्णों के बीच स्वर-ध्वनियों का साम्य और अनुगामी व्यंजन या स्वर की सभी ध्वनियों में साम्य अन्त्यानुप्रास (अलंकार) या तुक कहलाता है।

गूढ़ कल्पना सी कवियों की, अज्ञाता के विस्मय-सी
ऋषियों के गंभीर हृदय सी, बच्चों के तुतले भय-सी।

यहाँ (विस्) मय-सी, तथा भय-सी में अन्त्यानुप्रास है। इसी तरह कारा-धारा; पानी-रानी-ठानी-मानी-कहानी-सुहानी इत्यादि तुकों से हिन्दी कविता लिखी जाती थी। अब तो खैर मुक्तछंद ने हिन्दी-कविता को चक्र-तक्र-नक्र आदि के निरर्थक—अनर्गल प्रलाप से बचा लिया है।

आचार्य रामदहिन मिश्र ने इसके पाँच भेद बताये हैं—

१. सर्वान्त्य—सवैया में।

२. समान्त्य—विषमान्त्य—सोरठा के पहले-तीसरे तथा दूसरे-चौथे चरणों में।

३. समान्त्य— समान चरणों में।

४. विषमान्त्य— विषम चरणों में।

५. समविषमान्त्य— चौपाई में।

यह अलंकार लय और तुक के ध्वनि-सौन्दर्य पर आश्रित होने के कारण छंदः-योजना में सहायक है।

श्लेष

जहाँ एक शब्द से अनेक अर्थों की प्रतीति हो, वहाँ श्लेष अलंकार होता है।

'श्लेष' शब्द श्लिष धातु से व्युत्पन्न है। श्लिष का अर्थ है चिपकना, मिलना अथवा संयुक्त रहना। एक शब्द के साथ जब अनेक अर्थ चिपके रहते हैं, तो वहाँ श्लेष अलंकार की स्थिति मानी जाती है। इस बात को जरा भिन्न ढंग से कहें

तो कह सकते हैं कि जब अनेकार्थक शब्द का प्रयोग होता है तो श्लेष अलंकार माना जाता है। 'भारती, जय विजय करे' शीर्षक निराला के गीत की यह पंक्ति उल्लेखनीय है—

'स्तव कर बहु अर्थ भरे।'

सागर भारतमाता का स्तवन करता है। सागर का स्तवन बहु-अर्थ-भरा होता है; मतलब गूढ़-गंभीर तथा अनेक अर्थों वाला स्तवन होता है। दूसरा अर्थ यह भी है कि सागर भारतमाता का स्तवन करता है तो बहुत-से अर्थ (रत्न, मोती) चरणों पर चढ़ाकर स्तवन करता है। 'अर्थ' शब्द की अनेकार्थकता के कारण इस पंक्ति में श्लेष अलंकार है।

श्लेष अलंकार के दो भेद होते हैं—**शब्दश्लेष** और **अर्थश्लेष**। जहाँ चमत्कार शब्द पर आश्रित होता है, वहाँ शब्द-श्लेष और जहाँ चमत्कार अर्थ पर आश्रित होता है, वहाँ अर्थश्लेष। (अर्थश्लेष पर अर्थालंकार के अन्तर्गत विचार किया जा रहा है।)

शब्दश्लेष शब्दाश्रित कैसे है? ऊपर के उदाहरण में भी हम देखते हैं कि अगर 'अर्थ' शब्द हटा दिया जाय तो वहाँ से श्लेष की स्थिति ही मिट जाती है। इसे शास्त्रीय भाषा में हम यों कह सकते हैं कि यदि श्लिष्ट पदों के स्थान पर समानार्थक पद रख देने पर उनकी अनेकार्थकता नष्ट हो जाती है तो वहाँ शब्दश्लेष होता है। जहाँ शब्दपरिवृत्ति-सहिष्णुत्व नहीं रहता, वहीं शब्दश्लेष होता है।

श्लेष बड़ा व्यापक है। एक शब्द के साथ अनेक अर्थ तो लक्षणा, व्यंजना और ध्वनि के सहारे भी चिपके रहते हैं। इसलिए श्लेष नामक अलग अलंकार की आवश्यकता ही क्या है? दण्डी ने 'काव्यादर्श' में श्लेष के सम्बन्ध में यही बात कही है। उनका कहना है कि श्लेष सभी अलंकारों का शोभाकारक है; यदि अन्यान्य अलंकारों की स्थितियाँ हैं तो फिर श्लेष को पृथक् अलंकार मानना निरर्थक है।

परन्तु दण्डी के इस मत का खण्डन कई आचार्यों ने किया है। उनका कहना है कि शब्दशक्ति के आधार पर शुद्ध श्लेष की भी स्थिति हो सकती है। जहाँ केवल अभिधा के सहारे अनेकार्थक का प्रयोग होता है, वहीं श्लेष होता है। लक्षणा, व्यंजना और ध्वनि के सहारे श्लिष्ट शब्दों का प्रयोग तो प्रायः सभी अलंकारों में होता है। शुद्ध श्लेष की पृथक् सत्ता के पक्ष में यह तर्क अत्यन्त विचार-सम्मत जान पड़ता है। **आचार्य मम्मट** ने अपने **'काव्यप्रकाश'** में इसकी परिभाषा यों की है—

"वाच्यभेदेन भिन्ना यद् युग पद्भाषणस्पृशः।
श्लिष्यन्ति शब्दाः, श्लेषोऽसावक्षरादिभिरष्टधा॥"

अर्थात् अर्थ का भेद होने से भिन्न-भिन्न शब्द एक साथ उच्चारण से जब मिल कर एक हो जाते हैं तब वह श्लेष होता है। मम्मटाचार्य के अनुसार दो भिन्न

अर्थों के बोधक दोनों शब्द जतु-काष्ठ-न्याय से मिल कर चिपक जाते हैं। जतु-काष्ठ-न्याय का अर्थ है— लाख और लकड़ी का परस्पर मिलकर-चिपककर एक हो जाना। दो अर्थों वाला एक शब्द—वास्तव में दो शब्द है। लेकिन श्लेष अलंकार की स्थिति इसी कल्पना में निहित है कि दो अर्थों वाले दो शब्द वास्तव में अपने भिन्न-भिन्न स्वरूप को छोड़कर एक हो जाते हैं।

वक्रोक्ति

काव्यप्रकाशकार मम्मट वक्रोक्ति का लक्षण-निरूपण करते हुए कहते हैं—

"यदुक्तमन्यथा वाक्यमन्यथाऽन्येन योज्यते।
श्लेषेण काक्वा वा ज्ञेया सा वक्रोक्तिस्तथा द्विधा ॥"
(काव्यप्रकाश १०३।७८)

अर्थात् वक्ता द्वारा **अन्य अर्थ में कहा हुआ वाक्य यदि श्रोता द्वारा श्लेष से या कहने की कंठध्वनि से अन्य अर्थ में ग्रहण कर लिया जाय तो वक्रोक्ति नामक** अलंकार होता है।

साहित्य-दर्पणकार विश्वनाथ का वक्रोक्ति-लक्षण भी उपर्युक्त कथन से प्रायः अभिन्न ही है—

"अन्यस्यान्यार्थक वाक्यम् अन्यथा योजयद् यदि।
अन्यः श्लेषेण काक्वा वा सा वक्रोक्तिस्ततो द्विधा ॥" (साहित्यदर्पण)

अर्थात् यदि **वक्ता के अन्यार्थबोधक कथन का श्लेष या काकु से श्रोता भिन्न अर्थ करे तो वक्रोक्ति अलंकार होता है।**

यों तो वक्र उक्ति का अर्थ है—घुमा-फिराकर टेढ़े-मेढ़े ढंग से कहना; पर आलंकारिकों ने वक्ता तथा श्रोता की स्थिति को ध्यान में रख कर इसका अर्थ ही भिन्न कर दिया है। वक्ता यदि शृंगारपरक आशय व्यक्त कर रहा है, तो श्रोता श्लेष या काकु के द्वारा उसका वीररसपरक अर्थ ले लेता है। जहाँ **वक्ता का इष्टार्थ कुछ है और श्रोता उससे भिन्न तात्पर्य ग्रहण कर रहा है, तो उस स्थिति में यह अलंकार माना गया है।**

इस प्रकार अभिप्रेत अर्थ से भिन्न तात्पर्य के ग्रहण की प्रक्रिया श्लेष या ध्वनिविकारों या बोलने के लहजे पर आधारित की गयी है।

इस तरह वक्रोक्ति अलंकार के दो भेद स्वतः हो जाते हैं— **श्लेषाश्रित वक्रोक्ति और काक्वाश्रित वक्रोक्ति।**

श्लेषाश्रित वक्रोक्ति

श्लेष का अर्थ है छिपा रहना, चिपका रहना, प्रच्छन्न रहना, गर्भिताशय होना, भिन्नार्थक होना। जैसे हरि शब्द के कई अर्थ हैं— विष्णु, इन्द्र, सिंह, घोड़ा, बन्द

तथा मेढ़क। वक्ता 'हरि' नामक विष्णु के अभिप्रेत अर्थ को व्यक्त करने के लिए इस शब्द का इस्तेमाल करता है, किन्तु श्रोता अगर उसका अर्थ 'सिंह' के रूप में ग्रहण करे तो वहाँ श्लेषाश्रित वक्रोक्ति ही होगी।

श्लेषवक्रोक्ति हमेशा दो व्यक्तियों के संवाद के रूप में होती है। यह संवाद अन्यार्थपरक वाक्य का अन्य अर्थ लगा कर चल रहा हो, तभी यह वक्रोक्ति होती है। शिव-पार्वती-संवाद की यह वक्रोक्ति अर्थ-चमत्कार की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है—

"गौरवशालिनी प्यारी हमारी, सदा तुम्हीं एक इष्ट अहो।
हौं न गऊ, नहिं हौं अवशा, अलिनी हूँ नहीं अस काहे कहो॥"

इस पद्य में शिव अपनी प्रिया पार्वती को **'गौरवशालिनी'** कहते हैं। तो पार्वती उसका भिन्न अर्थ लगा देती हैं। उनका अर्थ शब्द के श्लिष्ट संधि-विच्छेद पर आधारित है— गौ: + अवशा + अलिनी = गौरवशालिनी। वह कहती हैं कि मैं न तो गऊ हूँ, न तो अवशा हूँ और न भ्रमरी (अलिनी) हूँ; मुझे आपने 'गौरव-शालिनी' कैसे कहा ?

'गौरवशालिनी' शब्द के भंग करके यह अर्थ निकाला गया है। इसलिए उपर्युक्त उदाहरण सभंगश्लेषमूला वक्रोक्ति का है।

सभंगश्लेषमूला वक्रोक्ति का दूसरा उदाहरण—

"मान तजो गहि सुमति बर, पुनि-पुनि होत न देह।
मानत जोगी जोग को, मोहि न जोग-सनेह॥"

पहले वाक्य में वक्ता कह रहा है कि हे वर ! सुन्दर मति गहकर (सुन्दर बुद्धि से काम लेकर) मान त्याग कर दो।

तो दूसरे वाक्य में श्रोता का अन्यार्थ ग्रहण से सम्बन्धित उत्तर है— "योगी योग को मानते हैं, मुझे जोग से स्नेह नहीं है।" इस तरह **मान तजो गहि** को मिला दिया गया है और **मानत जोगहि** ग्रहण कर अन्यार्थ व्यक्त किया गया है।

अभंगश्लेषमूला वक्रोक्ति

किसी शब्द के श्लिष्ट अर्थ की प्राप्ति के लिए शब्द का भंग किये बिना, शब्द में तोड़फोड़ किये बिना जहाँ श्रोता अन्यार्थ ग्रहण करे, वहाँ यह वक्रोक्ति होती है। इस वक्रोक्ति का स्पष्ट और सीधा उदाहरण 'नूरजहाँ' में है—

"एक कबूतर देख हाथ में पूछा कहाँ अपर है ?
उसने कहा 'अपर' कैसा ?? वह उड़ गया सपर है।"

नूरजहाँ को जहाँगीर ने दो कबूतर दिये थे। एक ही कबूतर देखकर वह पूछता है— कि दूसरा कहाँ है ? (अपर = दूसरा; अपर = बिना परवाला, बिना पंखवाला) तो नूरजहाँ ने 'अपर' शब्द से अन्य अर्थ ग्रहण किया और दूसरे कबूतर को उड़ाकर दिखाती हुई वह बोली कि कबूतर बिना पंख वाला कहाँ है, वह तो सपर है।

राधा-कृष्ण-संवाद का एक उदाहरण सभंगश्लेषमूला वक्रोक्ति के चमत्कार से पूर्ण है। राधा ने पूछा—

"को तुम हो, इत आये कहाँ ?"

श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया— **मैं, घनश्याम।**

इस पर राधा ने 'घनश्याम' शब्द का श्लिष्ट अर्थ अर्थात् बादल लिया और कहा—

"हो तो कित हूँ बरसो।"

अगर तुम घनश्याम हो, तो तुम्हारी यहाँ क्या जरूरत, कहीं जाकर बरस जाओ।

संवादशैली में रोचकता और रस लाने के लिए श्लेषमूला वक्रोक्ति का प्रयोग मध्यकालीन साहित्य में धड़ल्ले से हुआ है।

काक्वाश्रित वक्रोक्ति या काकुमूला वक्रोक्ति

बोलने के लहजे से जो कंठध्वनि में विकार उत्पन्न होता है, उसी से कभी-कभी वक्रोक्ति का चमत्कार प्रस्फुटित होता है। राम के वनगमन प्रसंग में सीता भी हठ कर रही हैं कि मुझे साथ ले चलें। तो काकु से सीता का आग्रह प्रकट होता है—

"मैं सुकुमारि नाथ वन जोगू।
तुमहि उचित तप मो कहँ भोगू॥"

सीता से राम कहते हैं कि तुम सुकुमारी हो, वन जाने के योग्य नहीं, तुम्हें कष्ट होगा। इस पर सीता कहती हैं कि मैं तो सुकुमारप्रियतम की ही सुकुमारी हूँ न ? तो फिर सुकुमार कैसे वन के योग्य हो गये ? अर्थात् (कंठगत ध्वनि-विकार के कारण) वह भी वन जाने के योग्य कठोरता अपने में नहीं रखते। फिर सीता कहती हैं कि आपको तप उचित है, तो फिर मुझे क्या भोग उचित है ? अर्थात् (काकु के कारण) मुझे भी तप ही उचित है।

काकुमूला वक्रोक्ति का बड़ा ही उत्कृष्ट चमत्कार तुलसीदास की चौपाइयों में मौजूद है—

"मानस-सलिल-सुधा-प्रतिपाली।
जियइ कि लवन-पयोधि-मराली॥
बर रसाल वन विहरन सीला।
सोह कि कोकिल विपिन करीला॥"

प्रश्न है— मानसरोवर के अमृत समान जल में पलने वाली हंसिनी क्या लवण के समुद्र में जी सकती है? (अर्थात् नहीं जी सकती है)। आम्र मंजरियों की मधुगंध वाले रसालवन में विहार करने वाली कोकिला क्या करील के जंगल में शोभित हो सकती है? (अर्थात् नहीं शोभित हो सकती है)। यहाँ भी काकु से ही अन्यार्थ ग्रहण किया जाता है।

तुलसीदास ने काकु-वक्रोक्ति के चमत्कारों से काव्य-सौंदर्य को अमृतमय बनाने की चेष्टा की है। कौशल्या के प्रति यह युक्ति बड़ी मार्मिक है—

"राम लखन सिय बन कहँ दीन्हा,
पठै अमरपुर पति हित कीन्हा।
लीन्ह विधवपन अपजसु आपू,
दीन्हेहु प्रजहिं लोक संतापू।
मोहि दीन्ह सुखु सुजसु सुराजू,
कीन्ह कैकई सब कर काजू।"

अर्थात् कौशल्या ने राम, लक्ष्मण और सीता को वन भेज दिया, पति को अमरलोक (स्वर्ग) भेज कर उनका हित किया (अर्थात् अहित किया), स्वयं विधवा हो गयीं, उन्होंने प्रजा को शोकसंताप दिया और मुझे क्या दिया? सुख (अर्थात् असुख), सुयश (अर्थात् कुनाम), सुराज (अर्थात् कुराज्य) और कैकई को सब तरह का कार्य अर्थात् अकार्य (हानि) दे दिया।

अर्थ का यह वैपरीत्य वक्ता के कंठगत ध्वनि-विकारों से या काकु से परिलक्षित होता है।

शब्दालंकार के अंतर्गत जिस तरह के कथन में वक्रोक्ति के अंतर्गत का चमत्कार माना जाता है, वह शब्द की श्लिष्टता तथा वक्ता की कंठध्वनि की विशेषताओं पर ही निर्भर है। इसलिए शब्दालंकार के अंतर्गत इसका अंतर्भाव ठीक ही है। यह ध्यान रखने की बात है कि कुन्तक ने जिस तरह के वक्रतापूर्ण अभिधान को काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकृत किया है, उसका अंशमात्र ही इस अलंकार के अंतर्गत आ पाता है। यहाँ वक्रोक्ति शब्द से अत्यंत सीमित अर्थ लिया गया है।

यमक

यमक की परिभाषा आचार्य भामह ने यों दी है—

"तुल्यश्रुतीनां भिन्नानामभिधेयैः परस्परम्।
वर्णनां यः पुनर्वादो यमकं तन्निगद्यते॥"

(काव्यालंकार।१७।)

अर्थात् सुनने में एक समान किन्तु अर्थों में परस्पर भिन्न वर्णों का पुनर्कथन (पुनर्वाद) या आवृत्ति से यमक अलंकार होता है।

यमक की उपर्युक्त परिभाषा इस आधार पर की गयी, चूँकि आचार्य भामह ने **समस्दपादयमक** और **हेय यमक** की अलग स्थितियाँ स्वीकृत की थीं। किन्तु **आचार्य मम्मट** की परिभाषा ही आज सर्वस्वीकृत है। उनके **काव्यप्रकाश** में निम्नलिखित परिभाषा है—

"अर्थे सत्यर्थभिन्नानां वर्णानां सा पुनः श्रुति ॥"

(काव्यप्रकाश—११७।८३।)

अर्थात् अर्थ होने पर भिन्नार्थक वर्णों की उसी क्रम से पुनः आवृत्ति या श्रवण यमक अलंकार है। आचार्य मम्मट की इस परिभाषा की व्याख्या आचार्य विश्वेश्वर ने यों की है—"यहाँ लक्षण में **'अर्थेसति अर्थभिन्नानां'** यह कहा गया है। केवल **'भिन्नार्थानां'** यह नहीं कहा गया है। इसका कारण यह है कि यदि **'भिन्नार्थानां'** यह कहा जाता तो आवृत्त पद का दोनों स्थलों पर सार्थक होना आवश्यक हो जाता। क्योंकि दोनों के सार्थक होने पर ही एकार्थकता या भिन्नार्थकता हो सकती है। यमक-स्थल में यह आवश्यक नहीं है कि आवृत्त वर्ण दोनों स्थलों पर सार्थक ही हों। इसलिए लक्षण में केवल 'भिन्नार्थानां' न लिखकर 'अर्थेसति अर्थभिन्नानां' यह रखा गया है।"

आचार्य मम्मट द्वारा निरूपित यमक के लक्षण में मूल बात यह कही गयी है कि सार्थक क्रमबद्ध आवृत्ति भी हो सकती है और निरर्थक क्रमबद्ध आवृत्ति भी हो सकती है। दोनों स्थितियों में यमक अलंकार होगा। समश्रुति वाले पदों की, सार्थक या निरर्थक होने पर, क्रम से आवृत्ति होने पर ही यमक का चमत्कार देखा जा सकता है। भिन्न क्रम से आवृत्ति में यमक कभी नहीं होता।

सेठ कन्हैया लाल पोद्दार की परिभाषा भी आचार्य मम्मट के द्वारा निरूपित लक्षण पर आधारित है। उनके अनुसार—**"निरर्थक वर्णों की अथवा भिन्न-भिन्न अर्थ वाले सार्थक वर्णों की क्रमशः आवृत्ति या उनके पुनः श्रवण को यमक कहते हैं।"**

(काव्यकल्पद्रुम, पृष्ठ १७)

यमक शब्द का व्युत्पत्तिगत अर्थ है युग्म या जोड़ा। इस अलंकार के नामकरण के मूल में यही धारणा मालूम पड़ती है कि इसमें तुल्य आकार परन्तु भिन्न अर्थ के दो शब्दों की पुनरुक्ति होती है। भिन्नार्थ के साथ वर्णावृत्ति क्रम से होती है, इसीलिए यमक नाम की सार्थकता भी प्रकट हो जाती है।

यमक और लाटानुप्रास की परिभाषाएँ देखकर उलझन न हो, इसलिए यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि लाटानुप्रास में शब्दों या वाक्यों की आवृत्ति तो होती है, पर अर्थ में कोई भेद नहीं होता; अन्वय से पूरी उक्ति का अर्थ बदल सकता है। किन्तु यमक में वर्णावृत्ति क्रम से होती है तथा उसका अर्थ सर्वत्र भिन्न होता है।

परिभाषा को ध्यान में रखने पर यमक में तीन प्रकार की आवृत्तियाँ संभव हैं— (१) सर्वत्र निरर्थक वर्णावृत्ति, (२) सर्वत्र सार्थक (भिन्न-भिन्न अर्थ-सहित) वर्णावृत्ति तथा (३) एक बार निरर्थक वर्णावृत्ति और दूसरी बार सार्थक वर्णावृत्ति की उभय-स्थिति।

यहाँ प्राचीन आलंकारिकों की परिभाषाओं को ध्यान में रखकर वाक्य-विन्यास के भीतर यमक की तीन स्थितियाँ संभव मानी गयी हैं। पर शब्दों को तोड़-मरोड़ कर अर्थ खींचने वाली प्रवृत्ति मात्र विलास-क्रीड़ा-युग का शब्द-चमत्कार ही कही जायगी। इसलिए यमक का स्वस्थ तथा कवित्वपूर्ण उदाहरण केवल वहीं माना जाना चाहिए जहाँ केवल सार्थक वर्णों की क्रम से आवृत्ति हो।

सार्थक वर्णों की क्रम से आवृत्ति के उदाहरणों से जो यमक स्वतः आ जाता है, उसके प्रभूत प्रमाण हमारे साहित्य में क्या, रोजाना बोलचाल में भी मिल जाते हैं। 'नूरजहाँ' में सार्थक वर्णों की क्रम से आवृत्ति का उदाहरण यों है—

किसी सोच में हो विभोर साँसें कुछ ठंढी खींचीं।
फिर झट गुल कर दिया दिया को दोनों आँखें मीचीं॥

पहले दिया तथा दूसरे दिया की आवृत्ति से यमक अलंकार हुआ है। पहला दिया क्रिया-सूचक है, दूसरे दिया का अर्थ दीपक है।

आँख लगती है तब आँख लगती ही नहीं।
प्यास रहती है लगी सजल नयन में॥

'आँख लगना' की क्रमशः वर्णावृत्ति में अर्थ की भिन्नता है, इसलिए यहाँ यमक अलंकार है। पहले 'आँख लगना' का अर्थ है प्रेम होना, दूसरे आँख लगना का अर्थ हैं नींद आना।

जब जब वै सुधि कीजियै तब तब सब सुधि जाँहि।
आँखिनु आँखि लगी रहै, आँखैं लागति नाँहि॥

यहाँ पहले वाक्य में 'सुधि' शब्द की क्रम से आवृत्ति होने के कारण, तथा दूसरे वाक्य में आँखिनु आँखि लगी रहै की आवृत्ति से अभंग पद यमक की स्थिति है। नायिका अपनी सखी से कह रही है कि जब-जब मैं उनकी याद (सुधि) करती हूँ तो मेरी चेतना (सुधि) जाती रहती है और जब आँखें उनको देखती रहती हैं (आँखिनु आँखि लगी रहै), तब नींद ही नहीं आती है (आँखै लागति नाँहि)।

रत्नाकर के एक प्रसिद्ध छंद में यमक की स्थिति द्रष्टव्य है—

कहैं रत्नाकर रुचिर सों सों रुँधैगी धरा
लोथनि पै लोथनि भोलि उठि जायगी।

जीत उठि जायगी अजीत पाण्डु-पूतन की
भूप दुरजोधन की **भीति उठि जायगी** ॥

इस उदाहरण में **भीति उठि जायगी** की क्रम से भिन्नार्थक होने के कारण आवृत्ति है। इसलिए यमक अलंकार है। अर्थ है—(भीष्म कह रहे हैं) पृथ्वी रक्त से भींग जायेगी और लोथों या लाशों की भित्ति (भीति) उठ खड़ी होगी अर्थात् लोथों का ढेर एकत्र हो जायगा और अजेय पाण्डवों की विजय नहीं होगी, फलतः राजा दुर्योधन का भय (भीति) भी भाग खड़ा होगा। इस तरह **भीति उठ जायगी** के दो अर्थ हो जाते हैं— दीवार का खड़ा हो जाना तथा भय भाग जाना। सार्थक वर्ण वाले स्वरव्यंजन-समुदाय की क्रमशः आवृत्ति है तथा भिन्नार्थकता भी वाच्य है।

बिहारी का एक प्रसिद्ध दोहा यमक अलंकार का चमत्कार व्यक्त करने में समर्थ है—

वर जीते सर **मैन** के, ऐसे देखे **मैंन**।
हरिनीके नैनान तें, **हरि नीके** ये **नैन** ॥

(मैन = मदन, कामदेव; मैंन = मैं नहीं; हरिनी के = मृगी के; हरि नीके = अच्छे कृष्ण, नीके हरि)

अर्थ है— कामदेव के सर जीत गये, ऐसा मैंने नहीं देखा। मृगी के नैन से कृष्ण के नैन कहीं अच्छे हैं।

मैन तथा हरिनीके की क्रमशः आवृत्ति, सो भी सार्थक वर्णों की और उस पर से भिन्नार्थकता के साथ—इन्हीं कारणों से यहाँ सार्थक वर्णावृत्ति का यमक अलंकार है।

कवि देव का यह छंद भी यमक का चमत्कार प्रस्फुटित करता है—

अनुराग के रंगनि रूप तरंगनि अंगनि मोद मनो उफनी।
कवि 'देव' हिय **सियरानी** सबै **सियरानी** को देख सोहागसनी ॥

यहाँ दूसरी पंक्ति में सार्थक वर्णावृत्ति क्रम से है तथा 'सियरानी' का पहले अर्थ होता है **सकुचा जाना** और फिर अर्थ होता है **सीतारानी**।

पहली पंक्ति में भी निरर्थक वर्णों की क्रमशः आवृत्ति है, इसलिए दोनों पंक्तियों में **यमकालंकार** है।

भूषण के प्रसिद्ध छंद '**ऊँचे घोर मन्दर के अन्दर रहनवारी ऊँचे घोर मंदर के अन्दर रहाती हैं**' में पादावृत्ति यमक का उदाहरण मौजूद है। इस पुस्तक में शब्दालंकार के विश्लेषण-क्रम में यह उदाहरण दिया गया है।

'कनक-कनक ते सौ गुनी मादकता अधिकाय' वाले बिहारी के दोहे में सार्थक वर्णावृत्ति वाले यमक का चमत्कार है।

कवित्व की दृष्टि से यमक का महत्त्व

आचार्य भामह ने 'काव्यालंकार' में यमक की विशेषताएँ बतलाते हुए यमक अलंकार के चमत्कार की कसौटी ही सामने रखी है। उनके अनुसार श्रेष्ठ यमक का चमत्कार तभी निःसृत होता है जबकि उसमें समासवत्ता का गुण हो, पद-संधियों में सुश्लिष्टता का गुण हो जिससे पदों में अन्तर करके भिन्नार्थकता की प्रतीति की जा सके; भाषा में प्रसाद गुण हो तथा श्रवण-सुखद उच्चारण की ध्वन्यात्मक क्षमता हो।

इस तरह विशेष प्रकार के वर्ण-विन्यास से ही उच्चारण-सौकर्य और श्रवण-सुखदता का गुण आ सकता है। इस अलंकार में वर्णों को 'निपुणता से विन्यस्त' करने पर ही चमत्कार की सृष्टि होती है। भाषा की नमनीयता का प्रमाण इस अलंकार से मिलता है, इसमें शक नहीं।

अर्थालंकार

शब्दालंकार के प्रसंग में इस बात का विवेचन हो चुका है कि **शब्दालंकार** का नामकरण **ध्वन्यर्थालंकार** होना चाहिए। काव्य में कलात्मक अंकन के वैशिष्ट्य को ध्यान में रखते हुए इस बात का उल्लेख पुनः आवश्यक है कि शब्दालंकारों से कवि दो तरह के अभीष्ट कार्यों को सिद्ध कर लेता है—

(१) ध्वनि-संकेतों के द्वारा पृष्ठभूमि को अप्रत्यक्ष रूप से उभारना तथा **(२) नादगुण के द्वारा भाषा में प्रेषण की सम्भावनाएँ विकसित करना।**

यहाँ **अर्थालंकार** के वर्गीकरणगत नामकरण का महत्त्व बतलाना आवश्यक है। **अर्थालंकार** से यह मालूम होता है कि अर्थ पर ही अलंकार आश्रित है, शब्द पर नहीं। अगर किसी शब्द के बदले उसका पर्याय रख दिया जाय तो भी अलंकारत्व को कोई हानि नहीं पहुँचती; आलंकारिकों की भाषा में जहाँ **शब्द-परिवृत्ति-सहिष्णुत्व** है वहाँ अर्थालंकार और जहाँ नहीं है, वहाँ शब्दालंकार होता है। **तुम्हारा मुख चन्द्रमा की तरह है**— जैसे कथन में उपमालंकार है; यदि चन्द्रमा शब्द हटाकर हम यह कहें कि **तुम्हारा मुख शशि की तरह है**, तो भी अलंकार बना रहता है, उपमा की आलंकारिकता को कोई हानि नहीं पहुचती। इस तरह हम देखते हैं कि जो अलंकार **शब्द-परिवृत्ति-सहिष्णुत्व की क्षमता रखते हैं वे अर्थालंकार के अन्तर्गत आते हैं।**

'अग्निपुराण' के एक श्लोक में **अर्थालंकार** के नामकरण की सार्थकता थोड़ी भिन्न है। श्लोक यद्यपि परिभाषामूलक ही है, पर इसमें व्याख्या का पूरा अवकाश भी है—

"अलङ्करणमर्थानामर्थालङ्कार इष्यते,
तं विना शब्दसौन्दर्यमपिनास्ति मनोहरम्।"

(अग्निपुराण ३४४।१)

अर्थात् अर्थों को अलंकृत करने वाले कथन अर्थालंकार कहे जाते हैं। अर्थालंकार के विना शब्द-सौन्दर्य मनोहर नहीं हो सकता।

अर्थ पर आश्रित होना अथवा अर्थ के चमत्कार पर आधृत—दोनों वातें मूलतः एक ही तथ्य की पुष्टि करती हैं। आचार्य मम्मट ने अन्वय तथा व्यतिरेक के द्वारा शब्दालंकार और अर्थालंकार का अन्तर स्पष्ट करना चाहा था। उनके अन्वय-व्यतिरेक सिद्धान्त के मूल में भी ये दोनों वातें समाहित हैं। इसलिए कहना यह चाहिए कि **अर्थ पर आश्रित चमत्कार जहाँ हो, वहाँ अर्थालंकार होता है।**

कुछ आचार्यों ने अर्थालंकारों के मूल में मानवीय मनस्तत्त्व का महत्त्वांकन किया है। उनके अनुसार अर्थालंकार विवेक-प्रेरित कथनशैली का ही काव्यशास्त्रीय नामकरण है। उनके इस वक्तव्य का आशय हम तब ठीक से समझ सकेंगे जब अर्थालंकारों के भेद-सम्बन्धी आधारों की परीक्षा करेंगे।

जैसे— किसी को झूम कर चलते देखकर हम झट से कह देते हैं— **यह साँढ़ की तरह चल रहा है। किसी की मधुर मुस्कान को देखकर हम कह देते हैं— उसकी हँसी बिजली की तरह छिटक रही है; या चाँदनी की तरह बरस रही है।**

इस तरह के कथन मूलतः सादृश्य पहचानने के विवेक से प्रेरित होते हैं। ऐसे कथनों के मूल में सादृश्य ही काम करता रहता है। हमारा विवेक दो वस्तुओं के सादृश्य का बोध करा देता है और हमारी कल्पना इन दोनों को मिला देती है। इस तरह सादृश्य पर आधारित अलंकारों की एक कोटि बन जाती है। ऐसे अलंकार केवल रूप-साम्य से नहीं उद्भूत होते हैं, बल्कि प्रभावसाम्य और धर्मसाम्य से भी उद्भूत होते हैं। **रूपसाम्य के बहुत अधिक उदाहरण रीतिकाव्य में मिल जाते हैं और प्रभावसाम्य के उदाहरणों से तो छाया-वादी कविताएँ भरी पड़ी हैं।** धर्मसाम्य सभी युगों की कविताओं में मिलते हैं।

जो विवेक हमें सादृश्य दिखला कर दो वस्तुओं को एकत्र करने की कल्पना के लिए उत्प्रेरित करता है, वही विवेक दो वस्तुओं के विरोध को स्पष्ट और दृष्टि-गोचर भी कराता है। इस तरह विरोध की भावना जगने से हम विवेक की सहायता से विरोध का स्पष्ट प्रमाण पाते हैं और हमारी कल्पना इस विरोध को लक्ष्य कर दोनों वस्तुओं के पार्थक्य की सूचना देती है। निराला की कविता की वे पंक्तियाँ आर्यजाति के प्राचीन गौरव की याद दिलाती हुई तथा अँगरेजों के अशक्त रूप का संकेत करती हुई विरोध का प्रमाण प्रस्तुत करती हैं—

"शेरों की माँद में आया है सियार,
जागो फिर एक बार।"

इस तरह अर्थालंकार का एक भेद मात्र विरोध के विवेक पर आश्रित है।

कभी-कभी ऐसा होता है कि बैलगाड़ी देखकर हमें गाँव की याद हो आती है, मछुए का जाल देखकर नदी-तट पर भोगे हुए सांध्य अवकाश के क्षणों की याद हो आती है, छात्रावास को देखकर विगत छात्रावास जीवन की विभिन्न घटनाएँ याद आ जाती हैं, किसी मित्र को देखकर उसके साथ रहने वाला कुत्ता याद आ जाता है आदि-आदि। मनोविज्ञान की पारिभाषिक शैली में इसे **सामीप्य साहचर्य का स्मरण** कहते हैं। इस तरह के स्मरण पर आधारित वक्तव्य की कथनशैली में भी अलंकारों की कल्पना की गयी है। ऐसे अलंकार सान्निध्य पर आधारित बताये गये हैं। **अलंकारशास्त्र में जिसे सान्निध्य कहते हैं, मनोविज्ञान के स्मरण-नियमों के अंतर्गत उसे ही समीपता का नियम** (Law of contiguity) कहते हैं। नागार्जुन द्वारा

लिखित 'सिन्दूर तिलकित भाल' शीर्षक कविता, या निराला द्वारा लिखित 'यमुना के प्रति' शीर्षक कविता अथवा दिनकर द्वारा लिखित 'मेरे नगपति ! मेरे विशाल' शीर्षक कविता इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं।

इस प्रकार मानसिक संसर्गों से उद्भूत कथनशैलियों के विभिन्न प्रकार हैं और इन्हें ही अलंकार-शास्त्र ने विभिन्न अलंकारों के अंतर्गत काव्यशास्त्रीय कोटियों में विभाजित कर दिया है।

इसी तरह विवेक-प्रेरित तथा मानसिक संसर्गों से उद्भूत **शृंखलामूलक, न्यायमूलक** तथा **गूढ़ार्थप्रतीतिमूलक** अर्थालंकार-कोटियों की कल्पना की गयी है।

इस तरह अर्थालंकार के अंतर्गत जिस अर्थ का चमत्कार रहता है, वह अर्थ मूलतः मानसिक संसर्गों से उद्भूत कथन के आशय में ही विद्यमान रहता है। यह अर्थालंकार हमारी रोजाना बोलचाल की भाषा में आता रहता है। हम सचेष्ट दृष्टि से अगर देखें तो अलंकार का रहस्य अपने-आप खुलता चला जायगा। इस प्रकार अर्थालंकार पाँच कोटियों में विभक्त है—

साम्यमूलक, विरोधमूलक, शृंखलामूलक, न्यायमूलक तथा **गूढ़ार्थप्रतीतिमूलक**।

फिर साम्यमूल अर्थालंकारों के भी कई भेद-प्रभेद हैं। इनमें प्रमुख स्वीकृत भेद ये हैं—

१. **अभेदप्रधान साम्यमूल अर्थालंकार**— जिन अलंकारों में दो वस्तुओं का अभेद साम्य दिखाया जाता है, वे अभेदप्रधान वर्ग के अंतर्गत आते हैं। ऐसे अलंकार मूलतः दो वस्तुओं के एक-से वर्णन अथवा भेदरहित वर्णन से उद्भूत होते हैं। इस वर्ग के अंतर्गत प्रमुख अलंकार ये हैं— **रूपक, अपह्नुति, सन्देह, भ्रान्ति, उल्लेख** और **परिणाम**।

२. **भेदप्रधान साम्यमूल अर्थालंकार**— दो वस्तुओं में साम्य बतलाते हुए भी भिन्नता की स्थिति बतलाने वाले कथनों में इस कोटि के अलंकार होते हैं; जैसे— **प्रतीप, तुल्योगिता, दृष्टान्त, निदर्शना, प्रतिवस्तूपमा, दीपक, दीपकावृत्ति, सहोक्ति, विनोक्ति** और **व्यतिरेक** इसके प्रमुख उदाहरण हैं।

३. **भेदाभेदप्रधान साम्यमूल अर्थालंकार**— इस वर्ग के अलंकारों का मूल वैसे कथनों में निहित हैं, जिनके द्वारा यह बतलाया जाता है कि दो वस्तुओं में सम्पूर्ण समता है, फिर भी वे आपस में भिन्न हैं। ये अलंकार निम्नलिखित हैं—**उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा** और **स्मरण**।

४. **प्रतीतिप्रधान साम्यमूल अर्थालंकार**— वे कथन जिनके द्वारा यह स्पष्ट किया जाता है कि दो वस्तुओं में समता की प्रतीति मात्र होती है, वास्तव में समता है नहीं, ऐसे अलंकारों के जनक हैं। **उत्प्रेक्षा** और **अतिशयोक्ति** इस वर्ग के अंतर्गत माने जाते हैं।

५. **गम्यप्रधान साम्यमूल अर्थालंकार**— इस वर्ग के अंतर्गत उन अलंकारों की

गणना की जाती है, जिनके कथन में समता का भाव वाच्य होता है, पर अन्य अर्थ व्यंग्य रहते हैं। **अप्रस्तुतप्रशंसा, व्याजस्तुति, व्याजनिन्दा, आक्षेप, पर्यायोक्ति और प्रस्तुतांकुर** आदि इस वर्ग के अंतर्गत परिगणनीय अलंकार हैं।

६. **अर्थ-वैचित्र्य-प्रधान साम्यमूल अर्थालंकार**— यह वर्ग उन अलंकारों का है, जिनका मूल वैसे कथनों में निहित है जिनमें समता के साथ अर्थ-सम्बन्धी वैचित्र्य भी विद्यमान हो। **समासोक्ति, परिकरांकुर और अर्थश्लेष** इसके अंतर्गत माने गये हैं।

विरोधमूलक अर्थालंकार

विरोधात्मक वर्णनों के कारण इस अलंकार-वर्ग का नामकरण **'विरोधमूलक'** किया गया है। इस अलंकार का मूलाधार उन कथनों में विद्यमान है, जिनके द्वारा यह बताया जाता है कि दो वस्तुओं में कार्य-कारण-सम्बन्धी विच्छेद के फलस्वरूप विरोध उपस्थित हो गया है। **विरोधाभास, विभावना, असंगति, सम, विषम, अधिक, अन्योन्य, विशेष, विचित्र, व्याघात, अन्यातिशयोक्ति, अन्योन्य और विशेषोक्ति** अलंकार इसी वर्ग के अंतर्गत गिनाये जाते रहे हैं।

शृंखलामूलक अर्थालंकार

दो या दो से अधिक वस्तुओं का इस प्रकार क्रमिक और शृंखलाबद्ध वर्णन कि उनकी पारस्परिक संलग्नता दीख पड़े। ऐसे कथनों में ही ये अलंकार फलित होते हैं। **कारणमाला, एकावली, मालादीपक और सार** इसी वर्ग के अन्तर्गत परिगणनीय रहे हैं।

न्यायमूल अर्थालंकार

तर्कों, लोक-सिद्ध प्रमाणों तथा दृष्टान्तों पर आधारित कथनों में ये अलंकार स्वतः आते चले जाते हैं। इस वर्ग के अर्थालंकार तीन कोटियों में विभक्त किये गये हैं—

(क) तर्कन्यायमूल अर्थालंकार— वे हैं जिनके उद्भव के लिए कारण, प्रमाण आदि प्रस्तुत कर तर्कशैली के बल पर कुछ विशेषता प्रतिपादित की जाती है। **काव्यलिङ्ग, प्रतिषेध, विधि, हेतु, निरुक्ति और अनुमान** इसके अन्तर्गत माने गये हैं।

(ख) लोकन्यायमूल अर्थालंकार— लोक-व्यवहारों से प्राप्त व्यापक नियमों की तरह प्रचलित प्रमाणों को उपस्थित करने से कथन-प्रयोग में जो विशेषता उत्पन्न होती है, वही इन अलंकारों की जननी है। ये अलंकार हैं— **समाधि, प्रत्यनीक, तद्गुण, पूर्वरूप, अनुगुण, अतद्गुण, मीलित और उन्मीलित।**

(ग) वाक्यन्यायमूल अर्थालंकार— वाक्यों के चमत्कारपूर्ण क्रम-विन्यास

या दो वाक्यों के विशेष प्रकार के बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव-सम्बन्ध-स्थापन में ही इस वर्ग के अलंकार निहित होते हैं। इस वर्ग के अलंकार ये हैं— **यथासंख्य, पर्याय, परिसंख्या, समुच्चय, विकल्प, सम्भावना, काव्यार्थपत्ति, कारकदीपक, ललित, चित्र** और **मिथ्याध्यवसिति**।

गूढ़ार्थप्रतीतिमूलक अर्थालंकार

इस वर्ग को वस्तुमूलक अर्थालंकार भी कहते हैं। व्यंग्य से छिपाकर उलटी बात कहने में ही यह अलंकार-वर्ग निहित है। तह में स्थित व्यंग्यार्थ ही इस अलंकार-वर्ग का चमत्कार है, जिससे अर्थ अलंकृत होता है। इसके अलंकार हैं— **मुद्रा, गूढ़ोत्तर, सूक्ष्म, पिहित, व्याजोक्ति, गूढ़ोक्ति, स्वभावोक्ति, उदात्त** और **अत्युक्ति**।

इस प्रकार अर्थालंकार के वर्गीकरण में मूलाधारों पर ही ध्यान रखा गया हैं। अलंकारों के यद्यपि पृथक्-पृथक् समूह तो बन ही जाते हैं, पर ये समूह मूल तत्त्वों पर ही अवलम्बित हैं।

सादृश्य-योजना

(१)

जिस हिन्दी आलोचक के सम्बन्ध में आज तक यह कहा जाता रहा कि वह एकांगी अतिवादिता का शिकार है, उसी आलोचक की सैद्धांतिक विवेचना से हिन्दी का कला-चिंतन विकसित हुआ है—

"साहित्य शब्द द्वारा, चित्रों द्वारा मनुष्य को प्रभावित करता है। उसका प्रभाव दर्शन और विज्ञान से ज्यादा व्यापक इसीलिए होता है कि उसका सम्बन्ध इन्द्रिय-बोध से है। उसका माध्यम ही रूपमय है; कल्पना के सहारे वह तरह-तरह के रूप पाठक या श्रोता के मन में जगाता है। उसकी विषय-वस्तु भी रूपमय है। वह चिन्तन के निष्कर्ष ही नहीं देता, जीवन के चित्र भी देता है। दर्शन और विज्ञान से भिन्न उसकी निज़ी कलात्मक विशेषता जीवन के चित्र देने में है।"

—(रामविलास शर्मा, स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य, पृ० २५-२६)

साहित्य जीवन के चित्र देता है और यही उसकी निजी कलात्मक विशेषता है। आज तक रूढ़ ढंग से मैथ्यूआर्नाल्ड और उनकी तरह कई लोगों ने यह कहा कि साहित्य जीवन का दर्पण है, जीवन को प्रतिबिम्बित करने का साधन है आदि-आदि। पर उन कथनों से भिन्न यह कथन है।

रामविलास शर्मा के उपर्युक्त कथन को यदि हम **बँगला के एक श्रेष्ठ आलोचक श्री मोहितलाल मजूमदार** के कथन से जोड़ दें तो सादृश्य-योजना का महत्त्व स्वतः स्पष्ट हो जायगा। **'साहित्य-विचार'** नामक अपनी बँगला पुस्तक में श्री मोहितलाल मजूमदार ने प्रारंभ में ही कहा है— "कवि और ऋषि, वैज्ञानिक और दार्शनिक—सब जाने कितने रूपों में इस (सृष्टि) की व्याख्या करते हैं; किन्तु इन सब में कवि ही श्रेष्ठ व्याख्याकार हैं, क्योंकि वे सृष्टि की व्याख्या एक और सृष्टि के द्वारा ही करते हैं।" [साहित्य-विचार (बँगला) पृ० १]

कवि सृष्टि की व्याख्या एक और सृष्टि के द्वारा ही करता है—यह बात जरा गंभीर ढंग से सोचने लायक है।

कविता में सादृश्य-विधान की सार्थकता का रहस्य यही है। कवि जिस वस्तु या रूप की भावना जगा कर हमें तल्लीन करना चाहता है, वह वस्तुजगत् की निजी सत्ता से भिन्न है; और यह कविसृष्टि का ही चमत्कार है।

प्रभातकालीन किरणों के वर्णन में जयशंकर प्रसाद ने कहा—

"किरण तुम क्यों बिखरी हो आज ?
रँगी हो किसके अनुराग ?
स्वर्ण-सरसिज-किंजल्क-समान,
उड़ाती हो परमाणु-पराग !
धरा पर झुकी प्रार्थना-सदृश,
मधुर मुरली-सी फिर भी मौन !"

(२)

किरणें धरा पर झुकी प्रार्थना-सदृश हैं। मात्र इस सादृश्य के कारण अर्थ की व्यंजकता बढ़ जाती है। किरणों और धरा पर झुकी प्रार्थना— दोनों का प्रभावसाम्य लक्षित करना कवि का उद्देश्य है। पर **धरा पर झुकी प्रार्थना-सदृश**— वाक्यखंड से लिपटा हुआ है शैव संस्कार, मन्दिर का दृश्य, मौन अभ्यर्थना में विनत, झुकी हुई, भक्तों की पंक्तियाँ— नीरव परिवेश, आदि कई बातें।

इस तरह हम देखते हैं कि कवि शब्दों के द्वारा नयी सृष्टि ही रच देता है।

यहाँ **किरण** के लिए **प्रार्थना** उपमान है; अप्रस्तुत है। और उस पूरी पंक्ति में सादृश्य-योजना है। अर्थ की गंभीर व्यंजकता पूरी पंक्ति में निहित सादृश्य-योजना पर निर्भर करती है, न कि एक शब्द पर।

अभी तक सादृश्य-योजना के सम्बन्ध में काव्यशास्त्रज्ञों ने मात्र 'उपमान' या 'उपमान शब्द' पर बल दिया। जबकि पूरे वाक्य को महत्त्व मिलना चाहिए था। सादृश्य-व्यंजकता वाक्य का वैशिष्ट्य हो जाती है। भाषाशास्त्रियों ने वाक्य को ही आशय की अंतिम इकाई के रूप में स्वीकार किया है, इस बात पर भी ध्यान देना चाहिए था।

(३)

कविसृष्टि के द्वारा सृष्टि की व्याख्या होती है; यह तभी सम्भव है जब कविसृष्टि में सादृश्य-कल्पना का पूर्ण योग हो। कविता में सादृश्य-कल्पना दो उद्देश्यों से की जाती है— (१) वर्ण्य वस्तु का स्वरूप-बोध कराने के लिए, (२) भाव की तीव्रता के लिए। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है— **"पर इन सदृश वस्तुओं की योजना से केवल स्वरूप-बोध ही नहीं होता, भावोत्तेजना भी प्राप्त होती है। बल्कि यों कहना चाहिए कि उत्तेजित भाव ही इन सदृश वस्तुओं की कल्पना कराता है।"**

(रसमीमांसा, पृ० २८१)

कबीर जब कहते हैं—

"माया महा ठगिनी हम जानी।
तिरगुन फाँस लिये कर में बोलत मधुरी बानी॥"

तो माया जैसी अगोचर वस्तु को वह ठगिनी के सादृश्य द्वारा स्पष्ट करना चाहते हैं। यहाँ उनका लक्ष्य **स्वरूप-बोध** के साथ-साथ **भावोत्तेजना** भी है। निर्गुण अलौकिक ईश्वर को जब संत कवि लौकिक उपमानों में बाँधकर दिखाते हैं तो उनका उद्देश्य स्वरूप के साक्षात्कार के साथ-साथ भाव को तीव्र बनाना भी होता है।

सादृश्य-योजना में **भावोत्तेजना** पर ध्यान रखने वाला कवि ही सफल कवित्व का निर्वाह कर सकता है। जहाँ सदृश वस्तुएँ भाव-प्रेरित होकर आती हैं, वहीं सादृश्य-योजना सार्थक कही जा सकती है।

उदाहरण के लिए भारतीय विधवा की दयनीय अवस्था से सम्बन्धित उपमान करुणा-प्रेरित होकर **निराला** की कविता में आये हैं—

"वह इष्टदेव के मन्दिर की पूजा-सी
वह दीपशिखा-सी शान्त, भाव में लीन,
वह क्रूर कालतांडव की स्मृति-रेखा-सी
वह टूटे तरु की छुटी लता-सी दीन
दलित भारत की विधवा है।"

यहाँ सादृश्य-योजना भाव-प्रेरित है। इसलिए आभ्यन्तर प्रभाव की व्यंजकता से पूर्ण सादृश्य-विधान ही काव्य के लिए उपयुक्त है; मात्र रूपसाम्य या आकार-साम्य को दिखलाने वाला सादृश्य-विधान कभी-कभी कवित्व की मर्यादा से नीचे गिरा हुआ भी हो सकता है।

मैथलीशरण गुप्त जब यह कहते हैं कि राम लक्ष्मण के पीछे वैसे ही चलते हैं, जैसे भादो के पीछे आश्विन, तो वहाँ सादृश्य-विधान बड़ा भोंड़ा और व्यर्थ-सा लगता है। 'काव्यदोष' के अन्तर्गत संस्कृत के आचार्यों ने इस प्रकार के सादृश्य-विधान की निरर्थकता को बार-बार कोसा है।

(४)

प्रभावसाम्य

छायावाद-युग की कविताओं के सादृश्य-विधान पर विचार करते समय **प्रभावसाम्य** को ध्यान में रखना चाहिए। यों सादृश्य या साधर्म्य के भीतर भी प्रभावसाम्य ही मुख्य रूप से कार्य करता रहता है, पर छायावादियों ने प्रभावसाम्य के स्वतंत्र अस्तित्व को और भी पुष्ट और प्रामाणिक बना दिया है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का एक लम्बा उदाहरण यहाँ देना अपेक्षित है, क्योंकि **प्रभावसाम्य** के सम्बन्ध में सूक्ष्मता और गंभीरता से उन्होंने विचार किया है—

"हमारे यहाँ साम्य मुख्यतः तीन प्रकार का माना गया है। सादृश्य (रूप या आकार का साम्य), साधर्म्य (गुण या क्रिया का साम्य) और केवल शब्दसाम्य (दो

भिन्न वस्तुओं का एक ही नाम होना)। इनमें से अंतिम तो श्लेष की शब्दक्रीड़ा दिखलाने वालों के ही काम का है। रहे सादृश्य और साधर्म्य। विचार करने पर इन दोनों में प्रभाव-साम्य छिपा हुआ मिलेगा। सिद्ध कवियों की दृष्टि ऐसे ही अप्रस्तुतों की ओर जाती है जो प्रस्तुतों के समान ही सौन्दर्य, दीप्ति, कांति, कोमलता, प्रचण्डता, भीषणता, उग्रता, उदासी, अवसाद, खिन्नता इत्यादि की भावना जगाते हैं। काव्य में बँधे चले आते हुए उपमान अधिकतर इसी प्रकार के हैं। केवल रूपरंग, आकार या व्यापार को ऊपर से देखकर या नाप-जोखकर, भावना पर उनका प्रभाव परखे बिना, वे नहीं रखे जाते थे। पीछे कवि-कर्म के बहुत कुछ श्रमसाध्य या अभ्यासगम्य होने के कारण जब कृत्रिमता आने लगी तब बहुत से उपमान केवल बाहरी नाप-जोख के अनुसार भी रखे जाने लगे। **कटि की सूक्ष्मता दिखलाने के लिए सिंहिनी और भिड़** सामने लायी जाने लगी।

छायावाद बड़ी सहृदयता के साथ प्रभावसाम्य पर ही विशेष लक्ष्य रखकर चला है। कहीं-कहीं तो बाहरी सादृश्य या साधर्म्य अत्यंत अल्प या न रहने पर भी आभ्यन्तर प्रभाव-साम्य लेकर ही अप्रस्तुतों का सन्निवेश कर दिया जाता है।

ऐसे अप्रस्तुत अधिकतर उपलक्षण के रूप में या प्रतीकवत् (Symbolic) होते हैं— जैसे सुख, आनन्द, प्रफुल्लता, यौवनकाल इत्यादि के स्थान पर उनके द्योतक ऊषा, प्रभात, मधुकाल; प्रिया के स्थान पर मुकुल; प्रेमी के स्थान पर मधुप; श्वेत या शुभ्र के स्थान पर कुंद, रजत; माधुर्य के स्थान पर मधु, दीप्तिमान या कांतिमान के स्थान पर स्वर्ण; विषाद या अवसाद के स्थान पर अन्धकार, अँधेरी रात या संध्या की छाया, पतझड़; मानसिक आकुलता या क्षोभ के स्थान पर झंझा, तूफान; भाव-तरंग के लिए झंकार; भाव-प्रवाह के लिए संगीत या मुरली का स्वर इत्यादि। (हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ६७०-७१)

छायावादी कविताओं की सादृश्य-योजना के मूल में व्याप्त प्रभाव-साम्य पर ध्यान रखने से ही सारे दुरूह अर्थ-कपाट खुलते चले जाते हैं। अधिकतर स्थलों पर छायावादी कवियों ने मूर्त्त विषयों के उपमान-स्वरूप अन्तर्वृत्तियों को रखा है और अन्तर्वृत्तियों के उपमान-स्वरूप मूर्त्त वस्तुओं को। 'छाया' को देखकर पंतजी कहते हैं—

"गूढ़ कल्पना-सी कवियों की,
अज्ञाता के विस्मय-सी
ऋषियों के गंभीर हृदय-सी,
बच्चों के तुतले-भय-सी।"

छाया मूर्त्त है किंतु उसके उपमान हैं— कल्पना, विस्मय, हृदय और भय। इस तरह मूर्त्त के उपमान-स्वरूप अमूर्त्त उपमान आये हैं। पंत की ही एक और

पंक्ति द्रष्टव्य है—

"गिरिवर के उर से उठ-उठ कर,
उच्चाकांक्षाओं-से तरुवर हैं,
झाँक रहे नीरव नभ पर।"

उठे हुए पेड़ों का साम्य मानव-हृदय की उन उच्च आकांक्षाओं से है, जो इस लोक से परे जाती हैं। यहाँ भी मूर्त्त वस्तु के लिए अमूर्त्त वस्तु का सादृश्य-विधान है।

'निराला' की 'विधवा' शीर्षक कविता में आये हुए उपमान इस दृष्टि से मननीय हैं।

छायावादी कवि कभी-कभी अमूर्त्त विषयों के उपमान अमूर्त्त ही रखते हैं। उदाहरण के लिए प्रसाद जी की यह पंक्ति प्रसिद्ध रही है—

"जो घनीभूत पीड़ा थी
मस्तक में स्मृति-सी छायी"

पीड़ा स्मृति की तरह छायी हुई थी। अंतर्वृत्तियों की उपमा अंतर्वृत्तियों से ही दी गयी है।

(५)

इस तरह सादृश्य-विधान के अंतर्गत चार प्रकार की योजनाएँ मिलती हैं, जिनके द्वारा भावोत्तेजन होता है—

१. मूर्त्त के उपमान-स्वरूप मूर्त्त का सादृश्य,
२. मूर्त्त के उपमान-स्वरूप अमूर्त्त का सादृश्य,
३. अमूर्त्त के उपमान-स्वरूप अमूर्त्त का ही सादृश्य,
४. अमूर्त्त के उपमान-स्वरूप मूर्त्त का सादृश्य।

पहले प्रकार के सादृश्य के उदाहरण

१. वे किसान की नई बहू की आँखें,
ज्यों हरीतिमा में बैठे दो विहग बंद कर पाँखें। —निराला

२. स्नेह-निर्झर बह गया है,
रेत ज्यों तन रह गया है। —निराला

३. बालू के ढूह हैं
ज्यों बिल्लियाँ सोयी हुईं।
उनके पंजों से लहरें दौड़ भागतीं।
—नलिन विलोचन शर्मा

४. उसी तपस्वी-से लम्बे थे,
देवदारु दो-चार खड़े। —प्रसाद

५. दिन अच्छा है,
बीच खेत में अड़े साँढ़ की तरह खड़ा है।
उस मनचीते,
वृषभ दिवस को जी भर देखो। —केदारनाथ अग्रवाल

६. अभी गिरा रवि ताम्र कलश-सा,
गंगा के उस पार। —पंत

दूसरे प्रकार के सादृश्य के उदाहरण

(मूर्त्त का अमूर्त्त से)

१. (ग्राम-युवती का चित्रण है)
वह काम-शिखा-सी रही सिहर,
नट की कटि में लालसा-भँवर। —पत

२. अंधकार की गुहा-सरीखी
इन आँखों से डरता है मन। —पंत

३. दृढ़ जटाजूट हो विपर्यस्त प्रतिकार से खुल
फैला पृष्ठ पर, बाहुओं पर, वक्ष पर विपुल
उतरा ज्यों दुर्गम पर्वत पर नैशान्धकार। —निराला

४. बिखरी अलकें ज्यों तर्कजाल। —प्रसाद।

तीसरे प्रकार के सादृश्य के उदाहरण

(अमूर्त्त का अमूर्त्त से)

१. पत्रों के आनत अधरों पर
सो गया निखिल वन का मर्मर;
ज्यों वीणा के तारों में स्वर। —पंत

२. पुहुप वास ते पातरा
ताते तत्त्व अनूप। —कवीर

(इसमें निराकार ईश्वर के लिए पुष्प वास का सादृश्य वर्णित है।)

३. स्वप्न-सदृश निद्रा भी टूटी,
वन-विहंग के कलरव से। —पंत

चौथे प्रकार के सादृश्य के उदाहरण

(अमूर्त्त का मूर्त्त से)

१. इन्द्रधनु-सा आशा का सेतु,
अनिल में अटका कभी अछोर। —पंत

२. तड़ित्-सा सुमुखि तुम्हारा ध्यान,
प्रभा के पलक मार उर चीर।

३. जुगनुओं से उड़ मेरे प्राण
खोजते हैं तब तुम्हें निदान। —पंत

४. (परिवर्त्तन अमूर्त्त विषय है और वासुकी सहस्र फण मूर्त्त)
अहे वासुकि सहस्र फण !
लक्ष अलक्षित चरण तुम्हारे चिह्न निरन्तर
छोड़ रहे हैं जग के विक्षत वक्षःस्थल पर ! —पंत

५. ओ चिन्ता की पहली रेखा;
अरी विश्व-वन की व्याली। —प्रसाद

यहाँ चिन्ता अमूर्त्त है और विश्व-वन की व्याली मूर्त्त है।

सादृश्य-विधान के इन चार प्रकारों में ही सभी तरह की सादृश्य-कल्पनाएँ अंतर्भूत हो जाती हैं।

सादृश्य-योजना और रमणीयता

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा है— **"यदि कहीं सादृश्य-योजना का उद्देश्य बोध कराना मात्र है तो वह काव्यालंकार नहीं। ×× अलंकार में रमणीयता रहनी चाहिए।"** (रसमीमांसा, पृ० २९३)। उदाहरण के लिए, यदि कोई आँख की उपमा आँख से ही देता है तो इसमें सादृश्य की रमणीयता नहीं है; बोध की स्थूलता मात्र है। 'नील गाय गाय के सदृश होती है'— जैसे सादृश्य-कथन में भी बोध-वृत्ति ही प्रमुख है; रमणीयता नाम मात्र को भी नहीं है। **विद्याधर** ने इसके सम्बन्ध में कहा है— **"साधर्म्यं कविसमयप्रसिद्धं कांतिमत्त्वादि न तु वस्तुत्व प्रमेयत्वादि ग्राह्यम्।"** अर्थात् साधर्म्य के विधान में यदि केवल वस्तुत्व या प्रमेयत्व हो तो वहाँ अलंकार नहीं होता है। यही कारण है कि आँखों के साथ आँखों का सादृश्य-कथन करने पर अलंकार नहीं होता क्योंकि यहाँ उपमेय और उपमान—दोनों ही समजातीय तथा वैचित्र्यहीन हैं। दूसरा कारण यह भी है कि यहाँ उपमान और उपमेय विषम तथा विजातीय न होने के कारण पाठकों की कल्पना उद्दीप्त नहीं कर पाते।

जब कोई अलंकार हमारे भावानुभव में वृद्धि करने की सामर्थ्य रखता है, तभी उसकी सार्थकता हो पाती है। मान लीजिए कि किसी ने साँझ के ढलते सूरज को

देखकर यह कहा—

"साँझ के आकाश की तश्तरी में
फ्राय किये हुए अंडे की तरह सूरज।"

साँझ के मनोरम आकाश की शोभा से स्वभावतः हमारे मन में आनन्दानुभूति जगती है। पर फ्राय किये हुए अंडे को देखकर हमारी सौन्दर्य-चेतना में कोई वृद्धि नहीं होती। इस तरह सूरज और अंडे के सादृश्य की कल्पना से हमारे सौन्दर्यप्रिय हृदय को कोई आनन्द नहीं मिलता।

इस तरह के सादृश्य-विधान का प्रकृत रमणीयता से कोई सम्बन्ध नहीं होता; नयेपन के नाम पर चमत्कारवादी कथन से सादृश्य की रमणीयता नहीं जगती।

सादृश्य-योजना में रमणीयता के लिए दो बातों पर ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है— (१) विसदृश वस्तुओं में सादृश्य का सम्बन्ध-सूत्र स्थापित किया जाय और (२) उपमेय से सम्बद्ध सौन्दर्यानुभूति को तीव्र कराने वाला अधिक रमणीय उपमान लाया जाय।

जहाँ उपमेय और उपमान के व्यापार में औचित्य तथा रमणीयता से युक्त बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव का अभाव रहता है, वहाँ अलंकार का हाड़-कंकाल ही नजर आता है, उक्ति की प्रभावोत्पादकता भूल कर भी नहीं आती।

उपमा

दो वस्तुओं में भेद होने पर भी उनके साधर्म्य-कथन को उपमा कहते हैं।

'उपमा' शब्द का व्युत्पत्तिगत अर्थ है 'समीप लाना', 'समता दिखलाना', 'तुलना करना'। दो विजातीय वस्तुओं में किसी समान धर्म के कारण साम्यसूत्र स्थापित करना ही उपमा है। चाँद और मुख—दोनों विजातीय वस्तुएँ हैं। किन्तु मुख चाँद की तरह है; मुख चन्द्रमा-सा है; मुख चन्द्रमा-सा शीतल है; मुख चन्द्रमा-सा सुन्दर है— जैसे सादृश्य-व्यंजक कथन उपमालंकार के ही उदाहरण हैं। इसी तरह **नेत्र कमल-सा है; रात किसी विरही की लम्बी साँस की तरह है; हिमालय शिव के जमे हुए अट्टहास की तरह है; दिन वृषभ की तरह है; प्रकाश महर्षि की तरह है; आँखें गुलेंती की तरह तनी हैं और मुख थलकमल-सा खिला हुआ है— आदि सादृश्यमूलक कथनों में उपमालंकार ही है।**

उपमालंकार के विश्लेषण-क्रम में सबसे उल्लेखनीय तथ्य यह है कि दो वस्तुएँ एक-दूसरी से बहुत भिन्न होती हैं, कभी आकार-प्रकार में, कभी गुण में, कभी क्रिया में, कभी अवस्था में। **पर दो वस्तुओं की विसदृशता का उल्लेख किये बिना यदि दोनों के मूल में अवस्थित किसी भी प्रकार के साम्य से सम्बन्ध-सूत्र स्थापित करने वाली उक्ति कही जाती है, तो वहाँ निश्चित रूप से उपमालंकार होता है।**

दूसरी बात यह ध्यान देने योग्य है कि इस प्रकार के सादृश्य का **कथन एक ही वाक्य में रहता है; ऐसा नहीं कि उपमेय पहले वाक्य में है और उपमान चौथे वाक्य में।** उपमेय और उपमान का सादृश्य एक ही वाक्य में बतला दिया जाता है।

तीसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उपमान तथा उपमेय में भेद बना रहता है; कहीं भी अभेद नहीं स्थापित हो पाता। रूपक से इसे भिन्न करने के लिए यह बात स्मरणीय है।

काव्यशास्त्र की संक्षिप्त शैली में यही कहा जाता है कि **उपमेय तथा उपमान के समान धर्म के सम्बन्ध का वर्णन ही उपमालंकार है।**

फिर सरल ढंग से समझने के लिए यह भी कहा जा सकता है कि अधिक गुण वाली वस्तु उपमान होती है और न्यून गुण वाली वस्तु उपमेय होती है। जैसे चन्द्रमा अधिक गुणों से सम्पन्न है इसलिए उपमान और मुख चन्द्रमा की तुलना में न्यून गुणों से युक्त है, इसलिए उपमेय। किन्तु सौंदर्य की रमणीयता इन दोनों का ही प्रधान गुण है, इसलिए समान धर्म वही है।

वह कुत्ते की तरह नीच है; वह गधे की तरह मूर्ख है; आदि कथनों में **वह** उपमेय है तथा **कुत्ता** और **गधा** उपमान हैं।

उपमा के चार अंग हैं। यह कोई आवश्यक नहीं है कि हर प्रकार की उपमा में चारों अंग विद्यमान हों; कोई-कोई अंग लुप्त भी रह सकता है; इसीलिए **लुप्तोपमा** नामक अलग प्रकार-श्रेणी भी बना दी गयी है। उपमा के ये चार अंग हैं—

१. जिसकी तुलना की जाय,
२. जिससे तुलना की जाय,
३. जिस साधारण धर्म से तुलना होती है तथा
४. जिस शब्द से तुलना प्रकट होती है।

उपमा के उपर्युक्त चार अंगों में पहला 'उपमेय' कहलाता है; दूसरा उपमान कहलाता है; तीसरा साधारण धर्म कहलाता है और चौथा वाचक कहलाता है।

पूस मास की धूप सुहावन
घिसे हुए पीतल-सी पांडुर
पूस मास की धूप सुहावन। —नागार्जुन

इस उदाहरण में पूस मास की धूप कवि का वर्ण्य विषय है। कवि का जो वर्ण्य विषय होता है, वही उपमेय होता है। इसलिए **पूस मास की धूप**—उपमेय है; इस धूप के रंग को रमणीय रूप में दिखलाने के लिए एक दूसरी वस्तु लायी गयी है। वह है **घिसा हुआ पीतल**। धूप की समता घिसे हुए पीतल से की गयी है। इसलिए **घिसा हुआ पीतल** उपमान है। इन दोनों में साम्य समान धर्म के कारण लक्षित किया गया है। समान धर्म है—**पांडुर रंग, पीला रंग**। और यह साम्य **सी** शब्द के द्वारा वाच्य कर दिया गया है। इसलिए **सी** वाचक शब्द है।

"हरि पद कोमल कमल-से"

यहाँ **हरिपद उपमेय** है, जिसकी तुलना कमल से की गयी है; इसलिए **कमल उपमान** है; **कोमल** होना दोनों के मूल में निहित **समान धर्म** है; तथा यह साम्य शब्द से स्पष्ट हुआ है, इसलिए **से वाचक** शब्द है।

अलंकारशास्त्र के अंतर्गत सादृश्यमूलक अलंकारों के चार अंगों की व्याख्या आवश्यक मानी गयी है। इसलिए **उपमान, उपमेय, साधर्म्य** तथा **वाचक शब्द** की व्याख्या की जाती है।

हे मुग्धे! तेरी हथेली **कोकनद के समान लाल** है!
इसमें अधिकगुणवत्तया संभावित **कोकनद**—उपमान है।
न्यूनगुणवत्तया संभावित **हथेली**—उपमेय है।

इन दोनों का **सौन्दर्य** या **मनोज्ञत्व**—साधारण धर्म है।
साधर्म्य का वाचक शब्द **समान**—उपमावाचक है।

उपमेय (The subject compared)— जिसकी तुलना की जाती है, जिसे उपमा का विषयीभूत बनाया जाता है; जो प्रकृत विषय या वर्णनीय विषय है। उपमेय को प्रस्तुत वस्तु भी कहते हैं। प्रस्तुत का अर्थ है प्रस्तावित अर्थात् प्रसंगतः प्राप्त। उपमेय को **वर्णनीय, प्रकृत, प्रस्तुत, प्राकरणिक, वर्ण्य, विषय** आदि भी कहते हैं। जैसे पूस मास की धूप, हथेली आदि उपमेय हैं।

उपमान (The object with which comparison is made)—जिसके साथ तुलना की जाती है, उसे उपमान कहते हैं। इसे अप्रस्तुत भी कहते हैं अर्थात् जो वस्तु प्रस्तावित नहीं है, जो बाहर से कवि-कल्पना द्वारा लायी गयी है, आहरण जिस वस्तु का हुआ है। हमलोग इसे आक्षिप्त वस्तु भी कह सकते हैं। प्रस्तुत से बहिर्भूत प्रत्येक वस्तु अप्रस्तुत है। उपमेय अथवा वर्णनीय विषय के द्वारा अर्थात् उपमेय के आश्रित गुण, भाव या रस के द्वारा जो आक्षिप्त होता है, जो बाहर से लाया जाता है, वस्तुतः वही उपमान है। इसे **अप्रस्तुत, अवर्ण्य, अप्रकृत, अप्राकरणिक** तथा **विषयी** भी कहते हैं। जैसे कोकनद, घिसा हुआ पीतल आदि।

साधारण धर्म (Common attribute)— जो धर्म उपमेय और उपमान में समान भाव से विद्यमान रहता है, उसे साधारण धर्म या साधर्म्य कहते हैं। इसकी सहायता से ही बाहर की विशेष वस्तु वर्णनाक्रम में आक्षिप्त होती है एवं दो विजातीय वस्तुओं की तुलना सम्पन्न होती है। यही उपमा का भित्ति-स्थानीय है। जैसे कोकनद वाले उदाहरण में **लाल**—यह समान धर्म है। धूप वाले उदाहरण में—पांडुर यह भी साधारण धर्म या समान धर्म है।

वाचक शब्द (The word implying comparison)— इसे सादृश्य-ज्ञापक शब्द या पद भी कह सकते हैं। यह उपमेय और उपमान को एक साथ साधर्म्य-सूत्र में बाँधता है। **यथा, इव, समान, सदृश, तुल्य, जैसे, ज्यों, सरीखा, सा, सी** आदि उपमावाचक शब्द हैं।

उपमा : प्राचीन आलंकारिकों के मत

उपमा शब्द का सादृश्य-कथन के रूप में उल्लेख अलंकारशास्त्र की प्रतिष्ठा से पूर्व ही मिलता है। यास्क ने 'निरुक्त' में उपमा शब्द को सादृश्य-पद्धति के रूप में माना है। काव्यशास्त्रीय दृष्टि से आचार्य भरत ने इसकी व्याख्या की—

"यत्किंचित्काव्यबन्धेषु सादृश्येनोपमीयते।
उपमा नाम विज्ञेया गुणाकृतिसमाश्रया॥" (नाट्यशास्त्र १७ : ४४)

अर्थात् काव्यबंधों में सादृश्य के आधार पर गुण-आकृति के आश्रय से जो तुलना की जाती है, वह उपमा कहलाती है। भरत की व्याख्या में गुणाकृति के आधार

पर सादृश्यमात्र ही उपमा है, परन्तु आकृति का अर्थ स्थूल सादृश्य है और गुण का अभिप्राय सूक्ष्म सादृश्य है। भरत ने उपमा के लिए एक वाक्य का होना कोई अनिवार्य नहीं माना है।

भामह अलंकारशास्त्र के प्रवर्त्तक माने जाते हैं। उन्होंने उपमा के लक्षण में कुछ ऐसे आधार प्रस्तुत किये हैं जो व्याख्या-भेद से प्रायः सबमें समान हैं। उनका लक्षण है—

"विरुद्धेनोपमानेन देशकाल क्रियादिभिः।
उपमेयस्य यत्साम्यं गुणलेशेन सोपमा॥"

अर्थात् उपमान में उपमेय से साम्य कम हो, विरोध अधिक। उपमान और उपमेय का देश, काल, क्रिया आदि के आधार पर जहाँ गुणलेश से साम्यविधान हो, वहीं उपमा होती है। आचार्य भामह ने उपमा के साम्यगत चमत्कार पर बल दिया है। उनके अनुसार दो समान वस्तुओं के औपम्यविधान में कोई मनोरम सौन्दर्य नहीं लक्षित होता। उपमान और उपमेय के विरोधी होने पर, उनके गुणलेश से ही जहाँ साधर्म्य-कथन हो, वहीं उपमा का वैशिष्ट्यपूर्ण चमत्कार अवस्थित रहता है। **दो भिन्न वस्तुओं के विरोध पर ध्यान न देकर साम्य का कथन करना ही उपमा का बीजमंत्र है।** दण्डी ने इस गुणलेश के साम्य को वास्तविक न मानकर, उद्भूत माना है। उपमा का स्वरूप स्थिर करते हुए उन्होंने लिखा है—

"यथाकथञ्चित् सादृश्यं यत्रोद्भूतं प्रतीयते।
उपमा नाम तस्याः प्रपञ्चोऽयं प्रदर्श्यते॥"

अर्थात् जहाँ काव्य में किसी भी प्रकार से दो पदार्थों में सादृश्य वर्णित किया जाय, वहाँ उपमा नामक सादृश्यमूलक अलंकार होता है। आचार्य वामन ने भी भामह के लक्षण को ही सर्वोपरि स्थान दिया है—

'उपमानेनोपमेयस्य गुणलेशतः साम्यमुपमा।'

अर्थात् उपमान और उपमेय में गुणलेश का साम्य ही उपमालंकार है। भामह के वक्तव्य की ध्वनि उद्भट में भी मौजूद है—

'यच्चेतोहारि साधर्म्यमुपमानोपमेययोः।'

फिर रुद्रट ने वक्ता की रुचि तथा स्वभाव से उपमान के व्यवहार पर ध्यान दिया है—

"सम्यक् प्रतिपादयितुं स्वरूपतो वस्तु तत्समानमिति।
वस्त्वन्तरमभिदध्याद् वक्ता यस्मिंस्तदौपम्यम्॥"

अर्थात् औपम्य में वक्ता की प्रवृत्ति की छाया झाँक जाती है। वक्ता अपनी रुचि के अनुकूल अप्रस्तुत को लाता है। प्रस्तुत और अप्रस्तुत में वह अपने स्वभाव, अपने संस्कार, अपने सौंदर्यबोध तथा अपनी रुचि के अनुसार ही गुण-विशेष पर ध्यान केन्द्रित करता है। इसीलिए उद्भट ने 'वस्त्वन्तरम्' को स्पष्ट कर दिया है। रुद्रट ने फिर 'उभयोः समानैकं गुणादिसिद्धं भवेद्यथैकत्र' कहकर भामह के कथन को ही साक्ष्य-रूप में प्रमाणित किया है। भामह द्वारा प्रतिपादित 'गुणलेश' ही रुद्रट का भी आधारभूत तत्त्व है। आचार्य मम्मट ने भी भामह से ही प्रेरणा ग्रहण की है। मम्मट ने भामह के 'विरुद्ध' शब्द को तात्पर्यमंडित करने के लिए 'भेद' में बदल दिया है। मम्मट के अनुसार—

'साधर्म्यमुपमा भेदे।'

अर्थात् उपमान और उपमेय में भेद होने पर भी उनके साधर्म्य का वर्णन करना उपमालंकार है। मम्मट के दृष्टिकोण से उपमान और उपमेय का भेद अनिवार्य है; किन्तु दोनों की भिन्नता या भेद-स्थिति में भी समान धर्म से सम्बद्ध होना ही उपमा का लक्षण है। मम्मट ने साधर्म्य का उल्लेख किया है, सादृश्य का नहीं। यहाँ तर्क-संगत विलक्षणता यह है कि साधर्म्य की स्थिति में सादृश्य गुण-विशेष के रूप में विद्यमान रहता है। फिर उपमान और उपमेय का साधर्म्य निरूपित होता है, कार्य-कारण आदि का नहीं। साधर्म्य-सूत्र से उपमान और उपमेय की ही सम्बद्धता होती है। आचार्य विश्वनाथ का कथन अधिक स्पष्ट है—

'साम्यं वाच्यमवैधर्म्यं वाक्यैक्य उपमा द्वयोः'

अर्थात् एक वाक्य में दो पदार्थों के वैधर्म्यरहित वाच्य-सादृश्य को उपमालंकार कहते हैं। यहाँ उपमान और उपमेय के विसदृश रूप को स्पष्ट किया गया है। दोनों में वैधर्म्य होता है किन्तु उपमालंकार में वैधर्म्य का कथन नहीं किया जाता, बल्कि सादृश्य का कथन या साधर्म्य का कथन किया जाता है। यह साधर्म्य वाच्य होता है, व्यंग्य नहीं। 'चन्द्रालोक' के रचयिता जयदेव का लक्षण भी काव्यशास्त्रीय दृष्टि से समीचीन है—

'उपमा यत्र सादृश्यलक्ष्मीरुल्लसति द्वयोः।'

अर्थात् उपमान-उपमेय—दोनों में जहाँ चमत्कारपूर्ण सौंदर्यमूलक सादृश्य वर्णित किया जाता है, वहाँ उपमालंकार होता है।

उपमा के भेद

उपमा के जितने भेद अलंकारशास्त्रीय ग्रंथों में गिनाये गये हैं, वे रूढ़ शास्त्रीयता के मानसिक विलास के प्रमाण तो अवश्य ही हैं। पर उन विभिन्न भेदों

की कल्पना भाषा की चित्रधर्मिता के प्रकारों पर ही आश्रित है। यह नहीं समझना चाहिए कि उपमा के भेद-निरूपण में शास्त्रीयता के वाग्विलास के अतिरिक्त कुछ है नहीं।

काव्यभाषा के सूक्ष्मतम रूप-प्रकारों और कथन-भंगिमा के ललित वाग्विकल्पों की परख सामान्य मस्तिष्क से संभव नहीं है। काव्यशास्त्र के पंडितों का यह श्रम निरर्थक नहीं है।

सबसे पहले यह विचारणीय है कि उपमा का भेद-निर्धारण किन आधारों पर हुआ है? दो वस्तुओं के बीच सादृश्य की स्थापना के क्रम में कथन के विभिन्न प्रकार सहज ही संभव हैं। कहीं ऐसा भी संभव है कि उपमान, उपमेय, समान धर्म तथा वाचक—सभी वर्त्तमान हों। कभी ऐसा भी संभव है कि उपमेय न हो, और उपमा के अन्य अंग मौजूद हों। कभी इस प्रकार का कथन भी हो सकता है जिसमें सादृश्यवाचक शब्द ही लुप्त हो। कभी ऐसा भी संभव हो सकता है कि सादृश्यवाचक शब्द के श्रवण मात्र से औपम्य की प्रतीति हो जाय, क्योंकि वहाँ सादृश्यवाचक शब्द उपमान के विशेषण के रूप में आया है। कभी ऐसा भी संभव है कि सादृश्यवाचक शब्द विकल्प से अपना अर्थ अन्वित करता हो; मतलब यह कि अर्थ-संधान होने पर ही सादृश्यवाचक शब्द के द्वारा औपम्य विधान की प्रतीति होती हो। कभी ऐसा भी हो सकता है कि एक वस्तु के रूप, गुण, क्रिया या अवस्था को स्पष्ट करने के लिए अनेक वस्तुओं को उपमान के रूप में लाकर उपमा की एक माला ही पिरो दी गयी हो। कभी ऐसा भी कथन हो सकता है जिसमें पहले आया हुआ उपमेय बाद में उपमान हो जाय।

कभी ऐसा भी औपम्यपूर्ण कवि-कथन हो सकता है, जिसमें अनेक समान धर्मों का समुच्चय या समूह हो; कभी ऐसा भी संभव है कि वाचक शब्द का साक्षात् प्रयोग न कर लाक्षणिक शब्द के द्वारा सादृश्य लक्षित कराया गया हो; अथवा, एक ही वस्तु को उपमेय और उपमान दोनों ही कहा गया हो, या उपमेय तथा उपमान को परस्पर एक-दूसरे के उपमान-उपमेय के रूप में कथित किया गया हो।

इस तरह औपम्यपूर्ण कथनों के भिन्न-भिन्न वाग्विकल्प संभव हैं। सादृश्य-मूलक वाग्विकल्पों के विभिन्न रूपों पर ही उपमा के सारे भेद आधारित हैं। ये भेद, शास्त्रकार के द्वारा जुटायी गयी दूर की कौड़ियाँ नहीं हैं। दो वस्तुओं में साम्य की धारणा बँधा कर हमारे हृदय-क्षेत्र का प्रसार करने वाली काव्यभाषा के सूक्ष्मतम प्रकारों का अनुसंधान ही निम्नलिखित उपमा-भेदों के नामकरण और निरूपण में फलित है—(१) पूर्णोपमा (श्रौती तथा आर्थी), (२) लुप्तोपमा (श्रौती तथा आर्थी) (३) मालोपमा, (४) रशनोपमा, (५) उपमेयोपमा, (६) समुच्चयोपमा, (७) लक्षणोपमा, (८) अनन्वय।

पूर्णोपमा

पूर्णोपमा में उपमेय, उपमान, वाचक शब्द तथा समान धर्म स्पष्टतया निर्दिष्ट होते हैं।

'पूर्णोपमा' शब्द के दो अर्थ हैं— (१) वह उपमा जो सभी दृष्टियों से पूर्ण हो; कवित्व, रमणीयता तथा निर्दोष चमत्कार के गुणों से युक्त, पूर्णता प्राप्त उपमा। (२) वह उपमा, जिसमें उसके सभी अंग विद्यमान हों, वह उपमा जो सभी अंगों से पूर्ण हो।

पद्माकर की निम्नलिखित उक्ति पूर्णोपमा का ही उदाहरण है—

"सुभग सुधाधर तुल्य मुख,
मधुर सुधा-से बैन।"

मुख— उपमेय; **सुधाधर** (चन्द्रमा)—उपमान; **सुभग**—समान धर्म तथा **तुल्य**—वाचक शब्द। फिर **बैन**—उपमेय; **सुधा**—उपमान; **मधुर**—समान धर्म तथा **से**—वाचक शब्द।

ऊपर के उदाहरण में उपमा के सभी अंग मौजूद हैं।

पूर्णोपमा के दो भेद

वाचक शब्द के प्रयोग और चुनाव पर पूर्णोपमा के दो भेद कल्पित किये गये हैं। साधर्म्य सूचित करने वाले वाचक शब्दों के चुनाव पर ही पूर्णोपमा दो भागों में बाँट दी गयी है। **एक प्रकार के साधर्म्य-वाचक शब्द वे हो सकते हैं, जिनके श्रवण मात्र से सादृश्य की प्रतीति हो जाती है; दूसरे प्रकार के वाचक शब्द वे हो सकते हैं, जिनके अर्थों का अनुसंधान करने पर ही सादृश्य की प्रतीति होती है। इस तरह श्रवण मात्र से सादृश्य-प्रतीति कराने वाले वाचक शब्दों का प्रयोग जिस पूर्णोपमा में होता है, वह श्रौती पूर्णोपमा कहलाती है। अर्थानुसंधान के द्वारा सादृश्य-प्रतीति कराने वाले वाचक शब्दों का प्रयोग जिस पूर्णोपमा में होता है, वह आर्थी पूर्णोपमा कहलाती है।**

संस्कृत भाषा के वाचक शब्दों की श्रवण और अर्थ-प्रकृति को ध्यान में रखकर ही काव्यशास्त्राचार्यों ने इस प्रकार का भेद कल्पित किया है। पर हिन्दी की भाषा-प्रकृति भिन्न है; हिन्दी में **'यथा'** का प्रयोग तो चलता है, पर **'इव'** जैसे शब्द हिन्दी के शब्द-प्रवाह से अलग हट गये हैं। फिर भी हिन्दी के वाचक शब्दों की श्रवण और अर्थप्रकृति को ध्यान में रखकर पूर्व-कल्पित पूर्णोपमा-भेद स्वीकारा जा सकता है।

श्रौती पूर्णोपमा

आचार्य मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' में यह कहा कि जहाँ **उपमान-उपमेय-भाव यथा, इव, वा आदि शब्दों के श्रवण मात्र से प्रतीत हो, वहाँ श्रौती उपमा होती**

है। पर यथा, इव, वा, के अतिरिक्त हिन्दी भाषा के सादृश्यवाचक शब्दों का उल्लेख किये बिना श्रौती उपमा का पूर्ण स्पष्टीकरण कैसे हो सकता है? **सी, से, सा, सों, लौं, जिमि, जैसे,** ज्यों आदि शब्दों के प्रयोग से सादृश्य की प्रतीति अत्यंत स्पष्टतापूर्वक हो जाती है। इन सादृश्यवाचकों को सुनते-सुनते हम इतने अभ्यस्त हो गये हैं, कि इनके श्रवण मात्र से हमें यह अंदाज हो जाता है कि यहाँ सादृश्य बताया जा रहा है। इन शब्दों के द्वारा सादृश्यबोध केवल अभिधाशक्ति द्वारा हो जाता है। इन वाचक शब्दों के साक्षात् संकेतित अर्थ इतने स्पष्ट और सहज निर्दिष्ट हैं कि हमें अर्थ-संधान नहीं करना पड़ता। इनके सुनते ही हमारे आगे सादृश्य अपने-आप प्रत्यक्ष हो जाता है।

इन सादृश्यवाचकों के श्रवण द्वारा हमारी कल्पना कोई दौड़ नहीं लगाती; हमारी बुद्धि को कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता है। ये शब्द एक वस्तु पर दूसरी वस्तु का तुरत आक्षेप कर देते हैं; आरोप का वस्तु-प्रतिवस्तु-भाव या बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव अनायास ही सिद्ध हो जाता है।

इन वाचक शब्दों के श्रवण मात्र से दो वस्तुओं का साम्य अभिहित हो जाता है। वस्तुतः वाचक शब्द तो Copula या संयोजक का काम करते हैं—दो वस्तुओं में। इसीलिए **श्रौत। पूर्णोपमा** की कल्पना की गयी है।

(क) **सोनजुही-सी जगमगै,** अँग-अँग **जोबन जोति।**
सुरँग कुसुंभी चूनरी, दुरँग देह-दुति होति॥

जोबन जोति—उपमेय, **सोनजुही**—उपमान; **जगमगै**—साधारण धर्म और **सी**—वाचक।

यहाँ उपमा के चारों अंगों के विद्यमान होने से पूर्णोपमा है और **सी** के प्रयोग से श्रौती उपमा है तथा **जगमगै** क्रिया साधारण धर्म है।

(ख) **नील गगन-सा शान्त हृदय** था सो रहा।

हृदय—उपमेय; **नील गगन**—उपमान; **शान्त**—साधारण धर्म और सा—वाचक शब्द। यहाँ भी श्रौती पूर्णोपमा है।

(ग) चन्द्रमुखी न हलै न चलै
निरवात निवास में दीपसिखा-सी। —मतिराम

(घ) ऐसा न हो कि मैं फिरूँ खोजता तुमको,
है मधुप ढूँढ़ता यथा मनोज्ञ सुमन को।
—मैथिलीशरण गुप्त (साकेत)

(ङ) बैठी है सीता सदा राम के भीतर,
जैसे विद्युद्द्युति घनश्याम के भीतर। —गुप्त (साकेत)

(च) जो पै श्री वल्लभ प्रकट न होते, बसुधा रहती सूनी,
दिन-दिन प्रति छिन-छिन राजत है ज्यों कुन्दन पर चुनी। —कुम्भन दास

(छ) चाव-चढ़ी कामिनी लौं जामिनी दबाए लेति। —रत्नाकर

हेमन्त की यामिनी (रात्रि)—उपमेय है, **चाव चढ़ी कामिनी**—उपमान है; **दबाए लेती**—साधारण धर्म है और लौं वाचक है।

श्रौती पूर्णोपमा के उपर्युक्त जितने भी उदाहरण आये हैं, उनमें प्रायः सब जगह वाचक शब्द उपमान के विशेषण के रूप में प्रयुक्त होकर षष्ठी विभक्ति की तरह उपमेय-उपमान का सम्बन्ध आक्षिप्त कर देते हैं।

आर्थी पूर्णोपमा

तुल्य, सम, सदृश, समान, सरिस, सरीखा आदि सादृश्यवाचक शब्दों के प्रयोग से आर्थी उपमा होती है। उपमा के सभी अंगों के मौजूद रहने पर यदि उपर्युक्त वाचक शब्दों का प्रयोग होता है तो आर्थी पूर्णोपमा होती है।

यहाँ यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि **सा, से, सी, जैसा, ज्यों** आदि सादृश्यवाचक शब्दों से तुल्य, सम, सदृश आदि भिन्न कैसे हैं ?

भिन्नता का एक ही आधार तर्कसंगत मालूम पड़ता है। वह है **अर्थानुसंधान तथा अन्वय**।

इनकी स्थिति किसी एक के साथ अन्वित नहीं होती। ये कभी उपमेय के साथ सम्बद्ध मालूम पड़ते हैं और कभी उपमान के साथ। इसलिए इनका किसी एक के साथ जुड़ा रहना निश्चित नहीं होता है। **सा, जैसा** आदि वाचक जिस शब्द के साथ लगे रहते हैं, उसे शब्दशक्ति के सहारे उपमान जान लिया जाता है। किन्तु तुल्य, सदृश, सरिस, समान आदि वाचक जिस शब्द के साथ लगे रहते हैं, उनका उपमान होना अनिवार्य नहीं है। इन सादृश्यवाचक शब्दों के प्रयोग में **उपमेयोपमान** का बोध अर्थ पर विचार करने के बाद ही होता है। इसलिए **तुल्य, सदृश, समान, सरिस, सम, सरीखा** आदि सादृश्यवाचकों के प्रयोग से आर्थी उपमा होती है। मम्मट के अनुसार **उपमा में तुल्य आदि शब्दों के प्रयोग में साधर्म्य की प्रतीति आक्षेपगम्य (शब्दलभ्य या साक्षात् नहीं) होने पर आर्थी उपमा होती है।**

उदाहरण—

(क) गिरिजा-पद मृदु कंज सम वंदत हौं सुख कंद।

यहाँ **गिरजा-पद**—उपमेय, **कंज**—उपमान, **मृदु**—साधारण धर्म तथा **सम-आर्थी उपमा के वाचक शब्द** हैं। इसीलिए पूर्णोपमा है।

(ख) सायँक सम मायक नयन, रँगे त्रिविध रंग गात।
झखौ बिलखि, दुरि जात जल, लखि जलजात लजात।

पहली पंक्ति में सम के प्रयोग से आर्थी पूर्णोपमा है।

(ग) लोचन कुवलय से विशाल, आनन विधु सा शोभाकर।
चरण कमल सम कोमल, लोहित नवपल्लव दल सम कर ।।

यहाँ 'लोचन कुवलय **से** विशाल' में श्रौती पूर्णोपमा है; पर अन्य वाक्यखण्डों में **'सम'** के प्रयोग से आर्थी पूर्णोपमा है।

(घ) सुनि के प्रेम वचन लगी आंच सी जिय।
पिघरि चल्यौ नवनीत-मीत नवनीत-सदृश हिय ।।

दूसरी पंक्ति में **पिघलना** समान धर्म है, हृदय उपमेय, नवनीत उपमान तथा सदृश आर्थी उपमा का वाचक शब्द।

(ङ) पीपर पात सरिस मन डोला।
(च) मधुकर सरिस सन्त गुणग्राही।

ऊपर के दोनों उदाहरण 'रामचरितमानस' से हैं। यहाँ **सरिस** के प्रयोग से आर्थी उपमा होती है तथा उपमा के चारों अंगों के मौजूद रहने के कारण पूर्णोपमा है।

लुप्तोपमा

उपमेय, उपमान, साधारण धर्म तथा वाचक शब्द में से किसी एक के भी लोप होने से लुप्तोपमा होती है।

लुप्तोपमा में उपमा के तीन अंगों तक के लोप की कल्पना की गयी है। उपमेय के लोप से **उपमेय-लुप्तोपमा** होती है, उपमान के लोप से **उपमान-लुप्तोपमा** होती है, साधारण धर्म के लोप से **साधर्म्य लुप्तोपमा** होती है और वाचक शब्द के लोप से **वाचकलुप्तोपमा** होती है।

वामन ने लुप्तोपमा का स्पष्ट लक्षण निरूपित करते हुए कहा—'लोपे लुप्ता।' अर्थात् उपमा के किसी भी अंग के लोप से लुप्तोपमा होती है। विश्वनाथ ने कहा—"लुप्ता सामान्यधर्मादिरेकस्य यदि वा द्वयोः।" अर्थात् उपमान, उपमेय, साधर्म्य तथा वाचक में से यदि एक या दो या तीन का लोप होता है तो लुप्तोपमा होती है।

आचार्यों ने लुप्तोपमा को भी श्रौती तथा आर्थी में विभाजित किया है। पर सादृश्यवाचक शब्द के आने पर यदि उपमान लुप्त रहता है या उपमेय लुप्त रहता है या साधर्म्य लुप्त रहता है तो सम्बन्ध-स्थापन किस प्रकार संभव है ?

इसलिए सम्बन्ध-स्थापन का आक्षेप पाठकों की कल्पना पर पूर्णतया आश्रित होने के कारण लुप्तोपमा को इन दो भेदों में बाँटना अवैज्ञानिक-सा प्रतीत होता है।

मम्मट ने लुप्तोपमा के भाषातात्त्विक भेदों की परिकल्पना की है। उनके अनुसार वाक्यगा और समासगा लुप्तोपमाएँ होती हैं, फिर समास के विविध भेदों

के अनुसार तथा प्रत्यय के रूपों के अनुसार अनेक उपभेद गिनाये गये हैं। पर मम्मट की यह कल्पना संस्कृत की भाषा-प्रकृति को ध्यान में रख कर की गयी है। हिन्दी वाक्य-पद्धति के अनुसार मम्मट के वे भेद स्वतः खंडित हो जाते हैं।

१. **उपमेय-लुप्तोपमा**— नेत्र का वर्णन कवि कर रहा है। आँखें मछली की तरह चंचल हैं, पंकज की तरह लाल हैं। पर कहीं भी उपमेय (नेत्र या आँख) का शब्दतः कथन नहीं किया गया है—

(अ) **चंचल हैं ज्यों मीन, अरुनारे पंकज-सरिस।**
निरखि न होय अधीन, ऐसो नर-नागर कवन ॥

प्रथम चरण में— मीन—उपमान; **चंचल**—साधर्म्य; **ज्यों**—वाचक (श्रौती) शब्द।

द्वितीय चरण में— पंकज—उपमान; **अरुनारे**—साधारण धर्म; तथा **सरिस**—वाचक (आर्थी)। पर कहीं भी **उपमेय** नहीं आया है। इसलिए उपर्युक्त उदाहरण में **उपमेय-लुप्तोपमा** है।

(आ) कोटि जतन कोऊ करौ, तन की तपनि न जाय।
जौ लौं **भीजे चीर** लौं, रहै न प्यौ **लपटाय** ॥

अर्थ है— कोई लाख यत्न करे पर तन की तपन नहीं मिटती है, जब तक कि नायिका को भींगे हुए वस्त्र की तरह देह से लिपटा न लिया जाय।

यहाँ दूसरी पंक्ति में ही उपमा है। **'जब तक भींगे वस्त्र की तरह लिपटा न लिया जाय'**—इस कथन में उपमेय कहीं भी नहीं है।

भीजे चीर— उपमान है; **लपटाय**—क्रियाबोधक साधारण धर्म है तथा **लौं**—वाचक शब्द है। पर नायिका का उल्लेख सर्वनाम-रूप में भी उपलब्ध नहीं होता है। इसलिए यहाँ **उपमेय-लुप्तोपमा** मानी गयी है।

(इ) **अति उत्तम ज्यों चंद**

यहाँ भी मुख (उपमेय) का कथन नहीं किया गया है।

(ई) पड़ी थी बिजली-सी विकराल। (साकेत)

यहाँ उपमेय (कैकेयी) का कथन नहीं किया गया है। इसलिए उपमेय-लुप्तोपमा है।

उपमेय-लुप्तोपमा केवल सिद्ध कवियों की वाणी से ही प्रसूत होती है। इस अलंकार के साथ खतरा यह बना रहता है कि कहीं दूसरे उपमेय का आक्षेप होकर अर्थ न बिगड़ जाय, या कविता दुरूह न हो जाय। इसलिए केवल सिद्ध कवियों से ही औपम्यसूत्र की धारणा बँधाने वाली ऐसी कथनशैली संभव है।

फिर पाठकों या श्रोताओं से भी **उपमेय-लुप्तोपमा** बड़ी रसज्ञता की माँग करती है। जब तक प्रसंग-प्रेरित वर्णनों पर मन केन्द्रित नहीं होता, उपमेय को खोज निकालना कठिन कार्य ही है। दूसरी बात यह कि पाठक या श्रोता को आलंकारिक परम्पराओं का भी समुचित ज्ञान होना चाहिए। आँख के लिए भी कुछ उपमान रूढ़ हो गये हैं, मुख के लिए भी, नायिका के लिए भी। इस तरह रूढ़ आलंकारिक उपमानों का जिसे ज्ञान है, वह उपमेय को भी आक्षिप्त कर लेगा।

२. **उपमान-लुप्तोपमा**—जहाँ **उपमा के चारों अङ्गों में से केवल उपमान का लोप हो वहाँ उपमान-लुप्तोपमा होती है।**

उपमान-लुप्तोपमा का काव्यशास्त्रीय दृष्टि से एक भी शुद्ध उदाहरण हिन्दी में नहीं मिलता। सेठ कन्हैया लाल पोद्दार ने भी 'काव्यकल्पद्रुम' में इस बात का उल्लेख किया है कि श्रौती उपमा के अंतर्गत उपमान-लुप्तोपमा नहीं हो सकती। पर आचार्य रामदहिन मिश्र, लाला भगवान दीन और प्रोफेसर देवेन्द्र नाथ शर्मा ने अपनी-अपनी अलंकार-पुस्तकों में इसके जो उदाहरण दिये हैं, वे अशुद्ध उदाहरण हैं। डॉ सुधीन्द्र ने 'काव्य-श्री' नामक अपनी पुस्तक में (भाग—२, पृ० ४७) इसी बात का पुष्ट प्रतिपादन किया है।

उपमान-लुप्ता के निम्नलिखित उदाहरण गलत हैं—

(अ) "वाके से चंचल नयन जग काहू के हैं न।"

(आ) "सुन्दर नन्दकिशोर सो जग में मिलें न और।"

(इ) "तीन लोक झांकी ऐसी दूसरी न झांकी जैसी
झांकी हम झांकी जैसी जुगल किशोर की।"

(ई) "चंपक सो सुन्दर कुसुम ढूंढ़हु मिले है नाहिं।"

ऊपर के सभी उदाहरणों में तो **उपमान का निषेध है, उपमान का लोप नहीं।** संस्कृत के अलंकारशास्त्रियों की पारिभाषिक शब्दावली में **लोप और निषेध** का पार्थक्य समझ लेना चाहिए। उपमा का जो मूल आधार है—'भेद-सहित साधर्म्य-कथन, या दो वस्तुओं में सादृश्य-स्थापन'—वह यहाँ है ही नहीं। इसलिए उपमान का यहाँ लोप नहीं है, बल्कि उपमान का निषेध है।

३. **साधर्म्य-लुप्तोपमा— जहाँ उपमेय, उपमान तथा वाचक शब्द हों, पर साधारण धर्म का कथन न हो, वहाँ साधर्म्य-लुप्तोपमा होती है।**

साधर्म्य लुप्तोपमा कवित्वपूर्ण भंगिमा से युक्त होती है, इसमें कोई शक नहीं। केवल उपमान-उपमेय के भीतर निहित गुण, क्रिया या अवस्था का स्वतः बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव प्रस्फुटित हो जाता है; साधर्म्य-कथन के बिना भी साम्य की यह व्यंजना अद्भुत होती है। दण्डी के **'काव्यादर्श'** में इसे **वस्तूपमा** की संज्ञा दी गयी है।

(अ) कुंद इन्दु सम देह उमा रमन करुना अयन।

तुलसीदास (रामचरितमानस)

यहाँ शिव के शरीर की गौरवर्णा कांति का वर्णन कवि का अभीष्ट है। पर वह कहीं भी यह नहीं कहता है कि शिव का शरीर कुन्द इन्दु के समान गौरवर्ण है। साधर्म्य का कथन किये बिना भी साधर्म्य का आक्षेप हो जाता है। **शिव का शरीर**—उपमेय है; **कुन्द इन्दु**—उपमान है, **सम**—वाचक शब्द है तथा **गौरवर्ण की कान्ति** जैसे धर्म का कथन नहीं किये जाने के कारण यह **धर्म-लुप्ता लुप्तोपमा** है।

(आ) तापस वाला-सी गंगा निर्मल। —पंत

(इ) पीले पत्तों की शय्या पर
तुम विरक्ति-सी, मूर्च्छा-सी।

—पंत ('छाया' शीर्षक कविता)

(ई) जीवन की गोधूली में
कौतूहल-से तुम आये। —प्रसाद

(उ) कनक-से दिन, मोती-सी रात
सुनहली साँझ, गुलावी प्रात। —महादेवी

(ऊ) धूप—
माँ की हँसी के प्रतिबिम्ब-सी
शिशु-वदन पर। —अज्ञेय

धर्म-लुप्ता लुप्तोपमा के सम्बन्ध में आधुनिक काव्यान्दोलन ने सबसे विलक्षण कार्य किया है। छायावादी कविताओं में साधर्म्य-लुप्तोपमा के बहुत अधिक उदाहरण भरे पड़े हैं। सो भी एक-से-एक उत्कृष्ट। छायावादी कविताओं में इतने अमूर्त्त, सूक्ष्म तथा भावाभिव्यंजक उपमान लाये गये कि अलग से साधर्म्य-कथन की आवश्यकता ही नहीं रह गयी। उपमान ने ही दो कार्यों को अपने में अंतर्भूत कर लिया — (१) उपमेय के भावोत्तेजन के लिए सदृश रूप में खड़ा होकर तथा (२) साधर्म्य के कथन को व्यंजित कर।

इसलिए अलग से साधारण धर्म के कथन की कोई आवश्यकता ही नहीं रह गयी। **प्रभावसाम्य** को ध्यान में रख कर ही उषा, साँझ, प्रात, मधु, लहर, किरण, कलरव, झंकार, यामिनी, संगीत, चेतना, लोभ, विरक्ति, छाया, तरंग, चाँदनी आदि को उपमान के रूप में प्रयुक्त करते-करते **उपलक्षण** या **प्रतीकवत्** वना दिया गया है।

४. **वाचक-लुप्तोपमा**— जहाँ उपमेय, उपमान, साधर्म्य आदि का शब्दतः कथन हो किन्तु वाचक पद लुप्त हो, वहाँ **वाचक लुप्तोपमा** होती है।

उदाहरण—

(अ) नील-सरोरुह स्याम तरुन अरुन वारिज नयन ।
करौ सो मम उर धाम सदा छीर सागर सयन । —तुलसीदास

यहाँ **क्षीरसागर में शयन करने वाले** (विष्णु)—उपमेय है; **नील सरोरुह**—उपमान है; **श्याम**— साधारण धर्म है; फिर **नयन**—उपमेय है; **वारिज**—उपमान है; **अरुण**—साधारण धर्म है—पर वाचक शब्द लुप्त है। उपमा-वाचक शब्द के लुप्त होने से उपर्युक्त उदाहरण में **वाचक-लुप्तोपमा** अलंकार है।

(आ) **चन्द्र मनोहर गात**— यहाँ भी उपमा-वाचक शब्द का लोप है; पर **गात**—उपमेय, **चन्द्र**—उपमान और **मनोहर** साधारण धर्म का कथन किया गया है।

(इ) शलभ-चंचल मेरे प्राण

यहाँ भी 'से, जैसे या सम' का कथन नहीं है। लुप्तोपमा की परिभाषा में यह कहा जा चुका है कि किसी-किसी उदाहरण में उपमा के एक अंग, दो अंग तथा तीन अंग तक का लोप हो सकता है। इसी आधार पर लुप्तोपमा के निम्नलिखित भेद भी कल्पित किये गये हैं—

५. **वाचकधर्मलुप्ता**— जिसमें वाचक शब्द और साधारण धर्म—दोनों का लोप हो; जैसे—

(अ) मुनि कुल वधू झरोखनी झाँकति
रामचन्द्र छबि चन्द्र वदनियाँ।

(आ) दोनों भैया मुख शशि हमें लौट आके दिखाओ।

(इ) विधु वदनी मृगशावक लोचनि।

(ई) करत प्रजारंजन सदा नृप-कुंजर अवदात।

टिप्पणी— **वाचकधर्मलुप्तोपमा** और **रूपक** के पारस्परिक पार्थक्य को समझ लेना आवश्यक है। रूपक में भी वाचक और साधर्म्य का कथन नहीं किया जाता है, इसलिए भ्रांति की बहुविध संभावनाएँ हैं। परन्तु यह याद रखने से भ्रांति कभी नहीं हो सकती— **वाचक धर्मलुप्तोपमा** में सदा उपमेय की प्रधानता होती है; पर रूपक में सदा उपमान की प्रधानता होती है। उपमेय के धर्म की प्रधानता से ही **उपमा** की सिद्धि होती है; पर रूपक के लिए यही तत्त्व बाधक है।

ऊपर के जितने उदाहरण हैं, सब में उपमेय की प्रधानता है तथा उपमेय के धर्म, गुण, क्रिया या अवस्था से ही रमणीयता प्रस्फुटित होती है।

६. **धर्मोपमानलुप्ता**— जिसमें धर्म और उपमान दोनों ही लुप्त हों, वह धर्मोपमानलुप्तोपमा अलंकार है। जैसे—

(अ) आजु पुरन्दर सम कोउ नाहीं।

यहाँ **उपमान** तथा **साधारण धर्म** दोनों लुप्त हैं।

(आ) रे अलि, मालति कुसुम सम खोजत मिलिहै नांहि।

(इ) गज-सी गति अवरेखु।

(ई) तदपि कहूँ कोई नहीं काव्यानन्द समान।

ऊपर के जितने उदाहरण आये हैं, वे परिभाषा के अनुसार शुद्ध नहीं ठहरते हैं। कारण यह है कि धर्मोपमानलुप्ता की कसौटी कुछ भिन्न ही है। ऊपर के सभी उदाहरणों में तो उपमान का लोप नहीं, बल्कि निषेध है। इसलिए **धर्मोपमान-लुप्ता** की कल्पना तो ठीक है, पर ऐसी काव्योक्ति के शुद्ध उदाहरण नहीं मिलते।

७. **वाचकोपमेयलुप्ता**— जिसमें वाचक शब्द और उपमेय दोनों का लोप हो, उसे वाचकोपमेयलुप्ता लुप्तोपमा कहते हैं। जैसे—

(अ) चपल चंचला देखु। (पद्माकर)

(आ) छबि सो रति आचरति है चली अवलोकहु लाल। (रसमंजरी)

(इ) इत तैं उत, उत तैं इतै, छिन न कहू ठहराति।
जक न परति, चकई भई, फिर आवति फिरि जाति।

८. **वाचकोपमानलुप्ता**— जिसमें वाचक शब्द और उपमान—दोनों का लोप हो; जैसे—

(अ) दाड़िम दसन सुसित **अरुन है मृग नयन बिसाल।** (रसमंजरी)

यहाँ **दसन**— उपमेय, **सित-अरुन**— साधारण धर्म हैं। पर वाचक और उपमान लुप्त हैं।

(आ) सुनि केवट के वैन प्रेम लपेटे अटपटे।

(इ) अरुण नयन उर बाहु विशाला।

९. **धर्मोपमानवाचकलुप्ता**— इसमें धर्म, उपमान और वाचक— तीनों लुप्त रहते हैं— केवल उपमेय का कथन होता है और सादृश्य की व्यंजना होती है। जैसे—

(अ) खो गया मेरा खग अनजान मृगेक्षणि।

१०. **वाचक-धर्म-उपमेयलुप्ता**—इसमें वाचक, धर्म तथा उपमेय—तीनों लुप्त रहते हैं, केवल उपमान का कथन किया जाता है। जैसे—

(अ) मत्त गयंद हंस तुम सोहै कहा दुरावति हम सों

इसमें **गयंद** और **हंस** उपमान हैं। केवल उपमान आये हैं। यहाँ वाचक, धर्म तथा उपमेय— तीनों का कथन नहीं है।

फिर भी **वाचक-धर्मोपमेयलुप्ता** उपमा से रूपकातिशयोक्ति की भिन्नता सहज ही ध्यातव्य है। रूपकातिशयोक्ति में उपमेय का निगरण या अध्यवसान अनिवार्य है; पर यहाँ आवश्यक नहीं है।

लुप्तोपमा के इन विभिन्न भेदों में व्यर्थ का विस्तार तो अवश्य ही है, पर भाषा की बारीकियों तथा वस्तु-प्रतिवस्तु-भाव के प्रयोग-सम्बन्धी विभिन्न पक्षों पर बड़ी गम्भीरता से विचार किया गया है, यह भी भूलने की चीज नहीं है।

मालोपमा

एक ही उपमेय के लिए अनेक उपमानों के गुम्फन को मालोपमा कहते हैं।

'मालोपमा' नामकरण से ही इस अलंकार की मूल प्राणभित्ति स्पष्ट हो जाती है। **माला के रूप में उपमानों की शृंखला**—जिस अलंकार में होती है, उसे मालोपमा कहेंगे। आचार्य विश्वनाथ ने 'काव्य प्रकाश' के रचयिता मम्मट के मत का ही समर्थन करते हुए लिखा—

"मालोपमा यदेकस्योपमानं बहु दृश्यते।"

अर्थात् मालोपमा में एक उपमेय के लिए अनेक सदृश उपमानों के सादृश्य की माला गुंफित की जाती है।

मालोपमा कवि-चित्त के असंतोष के क्षणों में प्रसूत होती है। कवि अपने वर्ण्य विषय को किसी एक उपमान के सहारे व्यक्त करने में असमर्थ होता है, तब उसे अनेक उपमानों की सहायता से वर्ण्य विषय को स्पष्ट करना आवश्यक-सा लगता है। या फिर वर्ण्य विषय ही इतना सार्वभौमिक, शाश्वत तथा उदात्त हो कि वह पार्थिव उपमानों के छोटे-छोटे फलक पर अँट ही नहीं पा रहा हो।

मालोपमा का एक उदाहरण 'उग्र' जी की निम्नलिखित पंक्तियों में है—

(अ) **मेरी एक माँ थी। मसजिद की तरह बूढ़ी, आम की तरह पकी, दया की तरह उदार, दुआ की तरह मददगार, प्रकृति की तरह करुणामयी, खुदा की तरह प्यारी और कुरानपाक की तरह पाक।**

यहाँ **माँ उपमेय** है और **मसजिद, आम, दया, दुआ, प्रकृति, खुदा** तथा **कुरान-पाक उपमान** हैं। एक उपमेय की साम्य-स्थापना सात उपमानों के साथ की गयी है।

मालोपमा का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण प्रसाद जी की एक कविता में मौजूद है—

(आ) किरण तुम क्यों बिखरी हो आज ? रँगी हो तुम किसके अनुराग ?
स्वर्ण-सरसिज-किंजल्क समान उड़ाती हो परमाणु-पराग
धरा पर झुकी प्रार्थना-सदृश, मधुर मुरली-सी फिर भी मौन
किसी अज्ञात विश्व की विकल वेदना दूती-सी तुम कौन ?

—प्रसाद

किरण के लिए **सरसिज-किंजल्क, प्रार्थना, मधुर मुरली** तथा **वेदना-दूती**— ये चार उपमान आये हैं। इन चार उपमानों के माध्यम से किरण के असली रूप के साक्षात्कार के लिए कवि हमारी कल्पना को उन्मुक्त विचरने का अवकाश देता है; इन विभिन्न उपमानों के वातायन से उपमेय की ही भाँति धर्म-गुण वाली वस्तुएँ अपने सौन्दर्य से हमें मुग्ध कर लेती हैं।

मालोपमा की यह सबसे बड़ी विशेषता है।

(इ) जिय बिनु देह, नदी बिनु वारी, तैसेहिं नाथ पुरुष बिनु नारी।

—तुलसी

(ई) इन्द्र जिमि जंभ पर, वाड़व सुअंभ पर,
रावण सदंभ पर रघुकुल राज हैं। —भूषण

(उ) कभी लोभ-सी लम्बी होकर,
कभी तृप्ति-सी होकर पीन। —पंत

छाया के प्रति ये पंक्तियाँ हैं। छाया— **उपमेय** है और उसके लिए **लोभ, तृप्ति जैसे** उपमानों की माला तैयार की गयी है। पंत की 'छाया' शीर्षक कविता इस दृष्टि से उल्लेखनीय वैशिष्ट्य रखती है।

(ऊ) कोई चाहे या न चाहे
धूल-सी इस जिन्दगी को
फूल-सा खिलना पड़ेगा।
कोई चाहे या न चाहे
मूक-सी इस जिन्दगी को
शंख-सा बजना पड़ेगा।
कोई चाहे या न चाहे
पंगु-सी इस जिन्दगी को
वायु-सा चलना पड़ेगा। —केदारनाथ अग्रवाल

ऊपर के उदाहरण में **जिन्दगी** उपमेय है और उसके लिए **धूल, फूल, मूक, शंख, पंगु** तथा **वायु** उपमान के रूप में आये हैं। इन उपमानों की एक माला तैयार की गयी है जिससे प्रस्तुत की भावोत्तेजन-क्षमता बढ़ गयी है।

अलंकारशास्त्र के आचार्यों ने **मालोपमा** के प्रमुख तीन भेद माने हैं। मालाकार रूप में एक उपमेय के लिए आये सभी उपमानों का यदि साधारण धर्म एक ही हो तो **समानधर्मा मालोपमा**; मालाकार रूप में एक उपमेय के लिए आये उपमानों का समान धर्म यदि भिन्न-भिन्न हो तो **भिन्नधर्मा मालोपमा** तथा मालाकार रूप में एक उपमेय के लिए आये उपमानों का समान धर्म यदि लुप्त हो, या अकथित हो तो **लुप्तमालोपमा**।

समानधर्मा मालोपमा के उदाहरण—

(अ) सिंहिनी-सी काननों में,
योगिनी-सी शैलों में,
सफरी-सी जल में,
विहंगिनी-सी व्योम में,
जाती अभी और उन्हें
खोजकर लाती मैं।

—मैथिलीशरण गुप्त (यशोधरा)

यहाँ **उपमेय** यशोधरा है; तथा **उपमान** सिंहिनी, योगिनी, सफरी, विहंगिनी आदि हैं। इन सबों का समान धर्म क्रियाबोधक **जाती** है। इसलिए यहाँ **समानधर्मा मालोपमा** है।

(आ) दुर्बलता-सी अँगड़ाई-सी अपराधी-सी भय से मौन।

भिन्नधर्मा मालोपमा के उदाहरण—

(क) कभी चौकड़ी भरते मृग-से
भू पर चरण नहीं धरते,
मत्त मतंगज कभी झूमते,
सजग शशक नभ को चरते।

यहाँ **बादल** उपमेय है तथा **मृग, मतंगज, शशक आदि उपमान** हैं, जिनके भिन्न-भिन्न धर्म हैं—

चौकड़ी भरना, झूमना, चरना आदि।

(ख) गूढ़ कल्पना-सी कवियों की,
अज्ञाता के विस्मय-सी,
ऋषियों के गंभीर हृदय-सी
बच्चों के तुतले भय-सी।

यहाँ **छाया** उपमेय है तथा **कल्पना, विस्मय, हृदय** और **भय** मालाकार उपमान हैं। साधारण धर्म भी भिन्न-भिन्न हैं—**गूढ़, अज्ञाता, गंभीर** तथा **तुतले** आदि साधारण धर्म हैं। इसलिए यहाँ भिन्नधर्मा मालोपमा है।

लुप्त मालोपमा के उदाहरण—

(क) तरुवर की छायानुवाद-सी,
उपमा-सी भावुकता-सी
अविदित भावाकुल भाषा-सी
कटीछँटी नवकविता-सी। —पंत (छाया)

(ख) मदिरा की मादकता-सी औ
वृद्धावस्था की स्मृति-सी। —पंत (छाया)

ऊपर के दोनों उदाहरणों में 'छाया' का नाम कहीं नहीं आया है। फिर साधर्म्य-कथन का भी प्रायः अभाव है। इसलिए **लुप्त मालोपमा** के ये उदाहरण माने गये हैं।

रशनोपमा

जब उपमेय अगले क्रम में उपमान हो जाय तो वहाँ रशनोपमा अलंकार होता है।

'रशना' शब्द का अर्थ है करधनी। जिस तरह करधनी में एक किंकिणी का दूसरी किंकिणी से क्रमशः सम्बन्ध रहता है, उसी तरह उपमेय-उपमान का अगले क्रम में भी सम्बन्ध रहता है। इस अलंकार के नामकरण में करधनी की किंकिणियों के क्रम का ध्यान रखा गया है।

'ललित ललाम' नामक काव्यशास्त्रीय ग्रंथ में **मतिराम** ने रशनोपमा का लक्षण-निरूपण यों किया है—

जहाँ प्रथम उपमेय सों होत जात उपमान,
तहाँ कहत रसनोपमा कवि मतिराम सुजान।
—(ललित ललाम : ५१)

जहाँ पूर्वकथित उपमेय अगले कथन में उपमान होता जाय अर्थात् पहला उपमेय दूसरे उपमेय का उपमान हो जाय और दूसरा उपमेय तीसरे उपमेय का उपमान बन जाय। अगर यही क्रम चलता चला जाय तभी रशनोपमा अलंकार होता है।

कथन-भंगिमा में उपमेयोपमान का यह परस्पर आदान-प्रदान चारुत्व का सृजन करता है, इसमें कोई शक नहीं। परिभाषा का सम्यक् अनुशीलन उदाहरण के द्वारा ही संभव है। गद्य का उदाहरण यों दिया जा सकता है—

"मेरी प्रिया के प्रेम के समान यह रसदार फल है, इस रसदार फल के समान मेरी प्रिया के मधुर कंठगीत हैं, और उसके कंठगीत के समान ही वसंत की अगवानी में आये पंछियों की मधुर ध्वनियाँ हैं।

यहाँ उपमेय **रसदार फल** आगे चलकर **कंठगीत** का उपमान बन जाता है और फिर **कंठगीत पंछियों की मधुर ध्वनियों** का उपमान बन जाता है।

पद्माभरण में पद्माकर ने उदाहरण दिया है—

(क) सुगुन ज्ञान सम उद्यमहु, उद्यम सम फल जान।
फल समान पुनि दान है, दान सरिस सनमान॥

सुगुण ज्ञान की तरह है, ज्ञान उद्यम की तरह, उद्यम फल की तरह है, फल दान

के समान है और दान सम्मान की तरह है। इस तरह पहले का उपमेय आगे चलकर उपमान बनता जाता है और इसी क्रम में उपमा की एक करधनी, उपमा की एक रशना बनती जाती है।

(ख) कुल सी मति, मति सो जु मन मन ही सो गुरु दान।

(ग) वच सी माधुरि मूरती मूरति सी कल कीति।
कीरति लौं सब जगत में छाइ रही तव नीति।

(घ) वंस सम बखत, बखत सम ऊँचो मन,
मन सम कर, करे सम करी दान के।

वंशकुल की तरह भाग्य है, भाग्य की तरह 'उच्चाकांक्षाओं वाला मन है, मन की तरह हाथ है और हाथ की तरह दान का हाथी है। यहाँ भी पिछला उपमेय क्रम से उपमान बनता चला गया है।

(ङ) मुकुर सम विधु, विधु सरिस मुख,
मुख सरोज समान।

(च) मति सी नति, नति सी बिनती, बिनती सी रति चारु।
रति सी गति, गति सी भगति, तो मैं पवन कुमारु॥

उपमेयोपमा

उपमान का उपमेय के रूप में तथा उपमेय का उपमान के रूप में परिवर्त्तन जहाँ वर्णित हो, वहाँ उपमेयोपमालंकार होता है।

यह सादृश्यगर्भ का भेदाभेदप्रधान अलंकार है। कुछ आलंकारिकों ने इसकी स्वतंत्र सत्ता मानी है; इसे उपमा के भेद के रूप में अन्तर्भूत नहीं किया है। पर लक्षण देखकर यह सहज ही कहा जा सकता है कि औपम्यमूलक वाग्विकल्प का ही यह एक प्रकार है। इसकी स्वतंत्र स्थिति उपमा से भिन्न नहीं होगी। **रशनोपमा** तथा **उपमेयोपमा** में वैपरीत्य के अलावा थोड़ा अन्तर है। **दण्डी, रुद्रट** तथा **भोज** ने इसे उपमा के अन्तर्गत ही माना है। देव के **'काव्य-रसायन'** में भी इसी सत्य का प्रतिपादन है। **'काव्यादर्श'** नामक अपने ग्रंथ में दण्डी इसका दूसरा ही नामकरण करते हैं। उनके अनुसार ऐसी औपम्यमूलक अभिव्यक्ति का नाम होना चाहिए 'अन्योन्योपमा'।

मम्मट ने इसका स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा है—

"विपर्यास उपमेयोपमा तयोः।"

अर्थात् **उपमान और उपमेय का परस्पर विपर्यस्त होना ही उपमेयोपमा अलंकार है।**

आलंकारिक अभिव्यक्ति में ही नहीं, बल्कि दैनिक बोलचाल में भी उपमान और उपमेय का ऐसा विपर्यय घटित होता है। मम्मट ने बड़ा ही रमणीक उदाहरण दिया है—

"अहो ! इस राजा की लक्ष्मी के समान बुद्धि और बुद्धि के समान लक्ष्मी, शरीर के समान कान्ति और कान्ति के समान शरीर, तथा धरणी के समान धैर्य एवं धैर्य के समान धरणी सदैव शोभित होती है।"

उपर्युक्त उदाहरण में राजा का प्रभावशाली होना वर्णित किया गया है। इसी क्रम में उपमेय और उपमान परस्पर विपर्यस्त होकर अर्थ का विस्तार प्रकट करते चले हैं।

इस अलंकार के मूल में यद्यपि रमणीयता तथा चमत्कार का लक्ष्य है, पर रीतिकालीन कवियों ने इसे शब्द-क्रीड़ा का माध्यम बना लिया। फिर भी भूषण का उदाहरण श्रेष्ठ बन पड़ा है—

(क) तेरो तेज सरजा समत्थ दिनकर सो है।
दिनकर सो है तेरे तेज के निकर सो ॥
—भूषण (शि० भू० : ५४)

(ख) तरल नैन तुव वचन से, स्याम तामरस तार,
स्याम तामरस तार से, तेरे कच सुकुमार ॥
—भिखारीदास (काव्यनिर्णय)

(ग) तो मुख सो ससि सोहत है बलि
सोहत है ससि सो मुख तेरो।

(घ) राम के समान शम्भु, शम्भु सम राम हैं।

(ङ) सोहैं सुरेस से रामनरेस, सुरेसहु रामनरेस सो राजै।
औधपुरी अमरावती सी, अमरावती औधपुरी-सी विराजै ॥

(च) मृगन के लोचन से लोचन हैं रोचन ये।
मृग दृग इनहीं से सोहैं पलापल हैं।
'सूरति' निहारि देखि, नीके एरी प्यारी जू के
कमल से नैन, नैन से कमल हैं। —सूरति मिश्र

समुच्चयोपमा

जहाँ अनेक समान धर्मों के समुच्चय द्वारा उपमेय और उपमान का सादृश्य वर्णित हो, वहाँ समुच्चयोपमा होती है।

इस अलंकार के नाम से ही इसका लक्षण-निर्देश हो जाता है। जहाँ दो

विजातीय वस्तुओं के अनेक साधर्म्यों का समुच्चय वर्णित किया जाता है, वहाँ इस अलंकार का रूप प्रमाणित होता है। जैसे हम यदि कहें कि **तुम चाँद से सुन्दर, शीतल, उज्ज्वल और मधुर हो**— तो इस कथन में चाँद और तुम में समता स्थापित करने वाले अनेक साधर्म्यों का समुच्चय उपस्थित हो जाता है; जैसे सुन्दरता, शीतलता, उज्ज्वलता और मधुरता—इन चार गुणों की समानता दोनों में है। ये चार गुण दो वस्तुओं की समता के प्रमाण हैं।

बिहारी का एक प्रसिद्ध दोहा है, जिसमें कृष्णप्रिया नायिका कहती है कि कृष्ण के रूप के जल में जब से उसकी आँखें डूबी हुई हैं, तब से रहट की घरियों की तरह उसके नैन कभी रूप-जल से भर जाते हैं, कभी डूब जाते हैं, कभी बूड़ जाते हैं और कभी तिरते हैं—

हरि-छवि-जल जब तें परे, तब तें छन बिछुरै न।
भरत, ढरत, बूड़त, तिरत, रहट-घरी लौं नैन॥

हरि-छवि-जल में रूपक है, पर **रहट-घरी लौं नैन** में उपमा है, जो साधारण धर्मों के समुच्चय (**भरत, हरत, बूड़त और तिरत**) द्वारा वर्णित है।

लक्ष्योपमा

यदि उपमा में साधर्म्य के वाचक शब्द का प्रयोग न होकर लाक्षणिक शब्द का प्रयोग हो तो वहाँ लक्ष्योपमा होती है।

लक्ष्योपमा शब्द से ही इस बात का पता चलता है कि लाक्षणिकता पर आश्रित उपमा को लक्ष्योपमा कहते हैं। पर आलंकारिकों ने यह माना है कि उपमेय और उपमान के सादृश्य-वाचक शब्द अभिधाशक्ति से ही अर्थ देते हैं। कभी-कभी ऐसा होता है कि **वाचक** के रूप में जो वाक्यखण्ड आता है, वह अभिधा-शक्ति के सहारे अर्थ नहीं दे पाता। ऐसी स्थिति में **लक्ष्योपमा** की कल्पना की गयी है। कुछ आलंकारिकों ने इसे **ललितोपमा** और कुछ ने **व्यंग्योपमा** माना है।

सा, से, सी, जैसा, जैसे, जैसी, यथा, इव, लौं, जिमि, ज्यों, सम, समान, सरीखा, सरिस आदि वाचक शब्द चूँकि दो विजातीय वस्तुओं के सादृश्य-स्थापन में संयोजक का काम करते हैं, इसलिए इनके साक्षात् संकेतित अर्थ से ही काम चल जाता है। पर यदि यह कहा जाय—**तुम्हारे नेत्र कमल को भी मात कर रहे हैं, तुम्हारे अधर मृणाल के तन्तुओं से प्रतियोगिता कर रहे हैं, आज का चाँद किसी बच्चे के द्वारा फेंके गये पीले बैलून की उड़ान चुरा रहा है, साँझ का सूरज कालरूपी कापालिक के रक्तसने खप्पर से होड़ बद रहा है**—तो ऐसे कथनों से साम्य का अर्थ लक्षणाशक्ति के सहारे ही निकलता है।

चूँकि लक्ष्योपमा में साधर्म्यसूचक वाचक शब्दों के वाच्यार्थ से काम नहीं

चलना, लक्ष्यार्थ तक पहुँचना पड़ता है, साक्षात् संकेतित अर्थ से भिन्न लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाता है, इसलिए इसका नामकरण उपयुक्त मानना चाहिए।

इस अलंकार में प्रधानता साधर्म्यसूचक पदों की लाक्षणिकता की है। अगर लाक्षणिक पद या शब्द का कथन वाचक के रूप में न किया जाय तो यह अलंकार नहीं होगा।

उदाहरण—

१. चिढ़ जाता था वसन्त का कोकिल भी
सुनकर यह बोली। —प्रसाद

यहाँ चिढ़ जाना ही लक्षक शब्द है जो साधर्म्यसूचक 'वाचक' के रूप में प्रयुक्त है।

२. सरसिज सोदर हैं तेरे दृग रमणीय।

'सोदर' लक्षक शब्द के रूप में साधर्म्यसूचन के लिए आया है। तुम्हारी आँखें कमल की सहोदरा हैं—कहने का अर्थ है—कमल और आँखों का साम्य लक्षित करना।

३. उन आँगुरियाँ अलि ! गन्ध चुराई,
गुलावन की छलि छीनि लई।

ये सभी उदाहरण ललितोपमा तथा व्यंग्योपमा के भी हैं।

ऐसो ऊँचो दुरग महावली को जामैं,
नखतावली सों बहस दीपावली करति है।

यहाँ राजा के भव्य भवन में जो दीपावली है, उसका साम्य नक्षत्रपंक्ति से दिखाया गया है। पर बहस करति है जैसे लक्षक वाक्यखण्ड के द्वारा साधर्म्य सूचित किया गया है।

४. उत बूँद अखंड इतै अँसुआ बरसा
बिरहीनि तै होड़ परी।

यहाँ होड़ लगी हुई है जैसे लक्षक वाक्यखण्ड के द्वारा साम्य की धारणा सौंपी गयी है।

अनन्वय

एक ही वस्तु का उपमेय तथा उपमान के रूप में वर्णन अनन्वय अलंकार कहलाता है।

इसे अनन्वयोपमा भी कहते हैं। अनन्वय का अर्थ है अन्वय या सम्बन्ध न

होना; अर्थात् एक वस्तु का सादृश्य दूसरी वस्तु से न होना। एक ही वस्तु स्वयं उपमेय तथा उपमान दोनों रूपों में वर्णित होती है। उस वस्तु का गुण या धर्म या क्रिया की दृष्टि से अकेला होना ही इस अलंकार का मूल है। हम आमतौर पर रोजाना बोलचाल में भी कहते हैं— **'आप तो आप ही हैं।'** आखिर **'दिल्ली दिल्ली ही है।'** **'आदेश आदेश ही है (Order is order)'**।

इस प्रकार जब हम किसी वस्तु को दूसरी वस्तु के सदृश न बताकर उसी के सदृश बताते हैं तो इससे उस वस्तु की अद्वितीयता प्रकट होती है। काव्यशास्त्रीय दृष्टि से इस अलंकार के अन्तर्गत वस्तु का द्वित्व नहीं होता; दो वस्तुएँ अपने-अपने साधर्म्य से पारस्परिक सम्बन्ध नहीं व्यक्त करतीं, बल्कि एक वस्तु अपनी अद्वितीयता के प्रमाणस्वरूप उपमान-रूप में भी व्यवहृत होती है। **शमशेर बहादुर सिंह** की एक प्रसिद्ध कविता है— **'बात बोलेगी, बात ही, मैं नहीं।'** इसमें भी अनन्वय की सार्थकता देखी जा सकती है।

इस अलंकार में विजातीय या सजातीय उपमान का अभाव रहता है। उपमेय ही आगे उपमान के रूप में **अवर्णनीय, अद्वितीय** आदि अर्थ के साथ दुहरा दिया जाता है।

दण्डी, रुद्रट तथा **भोज** ने इसे उपमा के अन्तर्गत माना है। पर **भामह, उद्भट, वामन, मम्मट, रुय्यक** तथा **विश्वनाथ** इसे स्वतंत्र अलंकार मानते हैं।

आलंकारिक वर्गीकरण के आधारों पर विचार करने से भी यह उपमा के अन्तर्गत ही अन्तर्भाव करने योग्य अलंकार है। **वामन ने कहा है**—

'एकस्योपमेयोपमानत्वेऽनन्वयः।'

अर्थात् एक ही वस्तु का उपमेय और उपमान रूप में वर्णन **अनन्वय** अलंकार कहलाता है। **मम्मट** के **'काव्यप्रकाश'** में लक्षण है—

"उपमानोपमेयत्वे एकस्यैवैकवाक्यगे अनन्वयः।"

अर्थात् एक ही वाक्य में, एक ही वस्तु के उपमान तथा उपमेय होने को अनन्वय अलंकार कहते हैं।

इस अलंकार में उपमेय अपने से भिन्न किसी भी विजातीय उपमान के साथ सादृश्य नहीं रख सकता। इस अलंकार में उपमेय ही अपना उपमान है।

उदाहरण—

१. आज गरीब निवाज मही पर तो सो तुही सिवराज विराजै।

२. मिली न और प्रभा रती, करी भारती और।
सुन्दर नन्द किसोर सौ, सुन्दर नन्द किसोर॥

३. निरवधि, गुन निरुपम पुरुष,
भरत भरत सम जानि ।

४. राम से राम, सिया सी सिया,
सिरमौर विरंचि विचारि सँवारे ।

५. सागर है सागर सदृश गगन गगन सम जानु,
है रन रावन राम को रावन राम समानु ।।

६. उस काल में दोनों में परस्पर युद्ध वह ऐसा हुआ ।
है योग्य बस कहना यही, अद्भुत वहीं वैसा हुआ ।।

७. यद्यपि भारत आरत है,
पर भारत सम भारत है ।
—मैथिलीशरण गुप्त (भारत-भारती)

ऊपर के सभी उदाहरणों में उपमेय ही उपमान के रूप में आवृत्त हुआ है ।

अनन्वय और लाटानुप्रास

एक ही शब्द की पुनरावृत्ति से अनन्वय को लाटानुप्रास न समझ लिया जाय, इसलिए दोनों के भेद को समझना आवश्यक है । **लाटानुप्रास** में शब्द का पर्याय नहीं प्रयुक्त हो सकता, पर अनन्वय में ऐसा सहज सम्भव है । लाटानुप्रास में समान अर्थवाली एक ही प्रकार की शब्दावली का प्रयोग होता है, पर उसके अन्वय में अन्तर पड़ने से अर्थ की भिन्नता भी परिलक्षित होती है । किन्तु अनन्वय में अन्वय होता ही नहीं और शब्द का पर्याय भी प्रयुक्त हो सकता है ।

उपमा की व्यापकता

उपमा सादृश्यमूलक अलंकारों का प्राणभूत उपजीव्य है । सादृश्य-कल्पना ही विभिन्न उक्तियों के छल से विभिन्न अलंकारों के रूप में दीख पड़ती है । अगर हम तर्कशास्त्र (Logic) की शब्दावली का प्रयोग करें तो यह कह सकते हैं कि उपमा वृहत्तर जाति (Genus) भी है और उपजाति (Species) भी । जब **उपमा** का हम सादृश्यमूलक अलंकारों की उपजीव्य कथनशैली के अर्थ में प्रयोग करते हैं तो यह Genus या वृहत्तर जाति है, जिसके अंतर्गत अनन्वय, प्रतीप, संदेह, भ्रांतिमान, परिणाम, स्मरण, रूपक, अतिशयोक्ति आदि अनेक अलंकार आ जाते हैं । पर जब हम 'उपमा' का सामान्य अर्थ में या एक अलंकार के अर्थ में प्रयोग करते हैं तो यह एक उपजाति (Species) मात्र है ।

'चित्रमीमांसा' नामक काव्यशास्त्रीय ग्रंथ के रचयिता **अप्पयदीक्षित** ने उपमा

का सम्यक् मूल्यांकन किया है। उनके अनुसार—"**ब्रह्मज्ञान से जैसे विचित्र विश्व का ज्ञान हो जाता है, ठीक वैसे ही उपमा के ज्ञान से भी सारे अलंकारों का ज्ञान हो जाता है।**"

यहाँ अप्पयदीक्षित ने 'सारे अलंकारों' के मूल में उपमा का ही बीज-विकास मान लिया है, ऐसा लगता है। सादृश्यमूलक अलंकारों के भीतर ही उपमा का भंगी-वैचित्र्य से प्रकार-भेद हुआ है, यह कहना सही हो सकता है। अप्पयदीक्षित के एक दूसरे वक्तव्य की मीमांसा भी आवश्यक है। उन्होंने उपमा के सम्बन्ध में औपम्यगर्भ कथनशैली में मंतव्य-प्रकाश किया है—

उपमैका शैलूषी संप्राप्ता चित्रभूमिका-भेदान् ।
रञ्जयन्ती काव्यरङ्गे नृत्यन्ती तद्विदां चेतः ॥

अर्थात् उपमा ही एकमात्र नटी है जो विभिन्न विचित्र भूमिकाओं में काव्यरूपी मंच पर नृत्य करती है एवं काव्यरसिकों का मनोरंजन करती है।

अप्पयदीक्षित के उपर्युक्त कथन का अर्थ ग्रहण कर यदि हम वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करें तो केवल सादृश्य एवं वैधर्म्यमूलक अलंकारों तक उपमा का आत्मीय प्रसार दीख पड़ता है। उपमा विभिन्न अलंकारों के निर्माण में नृत्य-विलास करती हुई दीख पड़ती है।

अप्पयदीक्षित ने २२ अलंकारों के उदाहरण दिये हैं और यह प्रमाणित किया है कि ये सभी अलंकार उपमा के ही उक्ति-भेद हैं। दो वस्तुओं के सादृश्य पर आधारित तुलना व्यक्त करने वाली कथनशैली के २२ भेद हैं—यह दिखलाना ही आलंकारिकों का उद्देश्य रहा होगा। अप्पयदीक्षित ने मुख और चन्द्र के पारस्परिक सादृश्य पर आधारित तुलना की व्यंजना करने वाले २२ कथन दिये हैं, जो २२ अलंकार ही हैं—

१. चन्द्र की तरह सुन्दर एवं मधुर मुख। (उपमा अलंकार)
२. चन्द्र की तरह मुख, मुख की तरह चन्द्र। (उपमेयोपमा)
३. मुख मुख की तरह, चाँद चाँद जैसा। (अनन्योपमा)
४. मुख की तरह चन्द्र। (प्रसिद्ध उपमान चन्द्र का मुख पर आरोप होने के कारण। (प्रतीप अलंकार)
५. चाँद को देखकर प्रिया का मुख याद आता है। (स्मरण अलंकार)
६. मुखचन्द्र को देख कौन आनन्दित नहीं होता ? (रूपकालंकार)
७. मुखचन्द्र को देखकर मन की तपन मिटती है। (परिणाम अलंकार)
८. यह मुख है या चन्द्र ? (संदेह अलंकार)
९. चन्द्र समझकर चकोर तुम्हारे मुख की ओर आकृष्ट हुआ है। (भ्रांतिमान् अलंकार)

१०. चन्द्र समझकर चकोरगण एवं कमल समझकर अलिसमूह तुम्हारे मुख के प्रति अनुरक्त होते हैं। (उल्लेख अलंकार)

११. यह चन्द्र है, मुख नहीं। (अपह्नुति अलंकार)

१२. मुख मानो चाँद ही है। (उत्प्रेक्षा अलंकार)

१३. यह रहा चाँद (मुख का उल्लेख किये बिना उपमान के द्वारा ही उपमेय का निर्देश होने के कारण)। (अतिशयोक्ति अलंकार)

१४. मुख द्वारा चन्द्र तथा कमल विजित हुए। (तुल्ययोगिता अलंकार)

१५. रात में चाँद और तुम्हारा मुख हर्षित होते हैं। (दीपक अलंकार)

१६. यह तुम्हारा मुख है, समझकर मैं प्रफुल्ल होता हूँ, और यह चाँद है, समझकर चकोर आनन्दित होता है। (प्रतिवस्तूपमा अलंकार)

१७. आकाश में चाँद और इस धरती पर तुम्हारा मुख। (दृष्टान्त अलंकार)

१८. मुख चन्द्रश्री धारण करता है। (निदर्शना अलंकार)

१९. तुम्हारा मुख निष्कलंक होने के कारण चाँद से बढ़कर है। (व्यतिरेक अलंकार)

२०. तुम्हारे मुख के समान चाँद भी रात में हर्षित होता है। (सहोक्ति अलंकार)

२१. नेत्रांकरुचिर मुख स्मिति-ज्योत्स्ना से उपशोभित है। (समासोक्ति अलंकार)

२२. तुम्हारे मुख के सामने चन्द्र निष्प्रभ है। (अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार)

केवल मुख (उपमेय) और चन्द्र (उपमान) का अवलम्बन कर २२ प्रकार के कथन संभव हुए हैं। इन सभी कथनों के मूल में सादृश्य-विधान है या दो वस्तुओं की तुलना का विधान है।

अप्पयदीक्षित ने इस प्रकार सभी सादृश्यमूलक अलंकारों को **उपमा का विवर्त्त-मात्र** माना है। उपमा का विवर्त्तमात्र कहने का अर्थ है—सभी अलंकार मूल रूप में उपमा हैं, जो उक्ति-भेद के छल से पृथक्-पृथक् रूपों में दीख पड़ते हैं।

रूपक

उपमेय पर उपमान के निषेधरहित अभेद आरोप को रूपक कहते हैं।

यह सादृश्यगर्भ अभेदप्रधान अलंकार है। रूपक शब्द का अर्थ है— सादृश्य को रूप प्रदान करना, अर्थात् रूपवान्, मूर्त्ति। इसी अर्थ को ध्यान में रखकर आलंकारिकों ने कहा कि रूपक में एक वस्तु पर दूसरी वस्तु के रूप का आरोप होता है; यह आरोप इतनी मात्रा में होता है कि वह अभेदप्रधान हो जाता है। दो वस्तुओं में भेद-प्रतीति प्रायः नहीं रह जाती।

रूपक के लक्षण और **वाचक धर्म लुप्तोपमा** के लक्षण में सतही दृष्टि से सोचने वाले आलंकारिकों को समानता का भ्रम होता है। **लाला भगवानदीन** ने **'अलंकार-मंजूषा'** नामक अपनी पुस्तक में लिखा है—

"पूर्णोपमा अलंकार में से वाचक और धर्म को मिटाकर उपमेय पर ही उपमान का आरोप करे अर्थात् उपमेय और उपमान को एक ही मान लें, यही रूपक अलंकार होगा।" (अलंकार-मंजूषा, पृ० ७१)। **यहाँ लाला भगवानदीन से एक मौलिक भूल हुई है। वह भूल गये हैं कि वाचकधर्मलुप्तोपमा अलंकार और रूपक में बहुत बड़ा भेद है।** इस बात को उदाहरण-स्वरूप हम यों समझा सकते हैं—

'नयन-पल्लव शिशिर-सिक्त'

इस कथन में **शिशिर-सिक्त** विशेषण के द्वारा केवल उपमान का धर्म सूचित किया गया है, उपमेय का धर्म तो **अश्रु-सिक्त** होगा। इस तरह उपर्युक्त उदाहरण में उपमान का धर्म ही विशेषण-रूप में उल्लिखित हुआ है। रूपक और वाचकधर्म लुप्तोपमा में अभिन्नता का भ्रम न हो जाय, इसलिए यह समझ रखना आवश्यक है कि रूपक में उपमान का धर्म ही प्रकाशित होता है, शब्दतः कथित होता है, उपमेय का धर्म नहीं। अगर पूर्वोल्लिखित प्रकार का कविकथन दीख पड़े तो इस बात की जाँच कर लेनी चाहिए कि उपमान का धर्म प्रकाशित हुआ है या उपमेय का? इसी जाँच से वाचकधर्म लुप्तोपमा और रूपक की भिन्नता खुल जायगी। अगर ऐसा धर्म प्रकाशित हो कि जहाँ उपमेय और उपमान—दोनों के साधर्म्य की व्यंजना होती हो तो वहाँ उपमा-रूपक-संकर अलंकार होगा। जैसे—

'नयन-पल्लव मनोहर'

यहाँ मनोहर होना नयन का भी गुण है और पल्लव का भी।

उपमा में उपमेय की प्रधानता होती है किन्तु रूपक में उपमान की प्रधानता होती है। अगर हम चाँद-सा मुख कहते हैं तो वहाँ मुख चाँद की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण विषय प्रतीत होता है। पर यदि हम **मुखचन्द्र** कहते हैं तो यहाँ चन्द्र ही अधिक महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है। इस तरह रूपक में उपमेय को अप्रधान कर दिया जाता है और आक्षिप्त वस्तु या उपमान को प्रधान कर दिया जाता है। **मुखचन्द्र प्रकाशित** है जैसे कथन द्वारा मुख को स्वीकृत कर चन्द्र में अंतर्भूत कर दिया गया है और एकमात्र चन्द्र का प्रकाशित होना धर्म ही वर्णित किया गया है।

रूपक की कुछ प्रमुख विशेषताएँ उल्लेख्य हैं—

(१) काल्पनिक अभेदारोप, (२) उपमान उपमेय का ग्रास नहीं करता, बल्कि उसे अपने गुण, क्रिया या अवस्था से आच्छन्न कर देता है, (३) रूपक में अभेद की प्रतीति अतिशयोक्ति की तरह नष्ट नहीं हो जाती, फिर भी यह अभेदप्रधान अलंकार है, अभेदसर्वस्व नहीं, (४) रूपक में उपमान की प्रधानता रहती है, जबकि उपमा में उपमेय की प्रधानता रहती है।

दो विजातीय वस्तुओं में गुण, धर्म, क्रिया और अवस्था के कारण जब अति-साम्य वर्णित किया जाता है, तो आरोप आवश्यक हो जाता है। आरोप का अर्थ है—एक वस्तु पर अन्य वस्तु को इस तरह स्थापित करना कि जिससे दूसरी वस्तु, पहली वस्तु को अपने रूप से रूपायित कर ले। इसी अनुरंजन के परिणाम-स्वरूप दो विजातीय वस्तुओं को एक वस्तु के रूप में कल्पित किया जाता है। इसे ही काल्पनिक अभेदारोप कह सकते हैं। उपमा में दो वस्तुओं के सादृश्य का वर्णन होता है और रूपक में एकरूपता का वर्णन। उपमा में दो वस्तुएँ अपनी-अपनी भिन्नता बनाये रखती हैं और रूपक में यह भिन्नता प्रायः समाप्त हो जाती है। वाचकधर्म लुप्तोपमा और रूपक में भ्रम न हो जाय, इसलिए पिछले पृष्ठ में भी विश्लेषण किया जा चुका है; इतना और स्मरण रखना काफी होगा कि वाचकधर्म लुप्तोपमा में **चन्द्रमुख** कहा जाता है और रूपक में **मुखचन्द्र** कहा जाता है।

परिभाषा में 'निषेधरहित' शब्द का उल्लेख हुआ है। इसलिए कि अपह्नुति तथा रूपक के लक्षण में समानता का भ्रम न हो जाय। अपह्नुति में उपमेय पर उपमान का निषेध-सहित आरोप होता है। यदि कहा जाय, **मुख नहीं, चन्द्र है, चन्द्र** तो यहाँ अपह्नुति अलंकार होगा। पर यदि सीधे 'मुखचन्द्र' कहा जाता है तो वहाँ निषेध-रहित अभेदारोप है, इसलिए रूपक है। **जीवन-सागर, मुख-कमल, सौंदर्य-सरोवर, यौवन-वसंत, रूप-कलिका, अधर-बिम्बफल, नर-तरु, यौवन-लतिका, दुःख-छाया, समीर-सागर, जीवन-समीरण, रूप-जल, छवि-जल, लावण्य-सर, प्रेम-पयोधि, रूप-तरंग, भाव-तरंग, पाणि-पद्म, कर-कमल, विपत्ति-बादल, तर्क-जाल, मन-मयूर, रूप-सुरा, प्रेम-मदिरा, कर-मेखला, मुण्ड-माला, विजय-मुकुट, क्रोधाग्नि** आदि रूपक पद हैं। ये समस्त रूपक के शब्द हैं। **'अंगुलियाँ पल्लव हैं', 'तारे जुगनू हैं', 'चाँदनी भस्म है'** आदि व्यस्त रूपक हैं।

रूपक पदों के सम्बन्ध में इस बात की चर्चा अपेक्षित है कि वे एक समय चमत्कार की सृष्टि कर आलंकारिक महिमा रखते हैं, पर प्रचलन हो जाने के बाद सारे-के-सारे रूपक शब्द चमत्कारपूर्ण गोचर अर्थवत्ता खो बैठते हैं और भाषा में सामान्य शब्द बन जाते हैं।

रूपक के सम्बन्ध में संस्कृत के आचार्यों के मत जान लेना भी आवश्यक है। **भरतमुनि के नाट्यशास्त्र** में भी रूपक का सादृश्यजीवी अलंकार के रूप में उल्लेख है भरतमुनि के अनुसार— **"रूपक में केवल गुण के आश्रय से किंचित् सादृश्य को अपने 'विकल्प' से रूप प्रदान किया जाता है।"** (नाट्यशास्त्र : ५६ : ५८) उनके, बाद भामह ने **'काव्यालंकार'** में उपमा से पहले ही रूपक का लक्षण दिया है—

"उपमानेन यत्तत्त्वमुपमेयस्य रूप्यते।
गुणानां समतां दृष्ट्वा रूपकं नाम तद्विदुः॥"
(काव्यालंकार : २१)

अर्थात् गुणों का साम्य देखकर उपमान के साथ उपमेय का जो तादात्म्य निरूपित कया जाता है, उसे रूपक कहते हैं।

दण्डी ने अपने **'काव्यादर्श'** में बहुत ही तुलनात्मक परिभाषा दी है— **"उपमैव तिरोभूतभेदा रूपकमुच्यते।"** (काव्यादर्श : २ : १४ तथा ६६) अर्थात् उपमा के तिरोभूत हो जाने पर रूपक होता है।

दण्डी के इस कथन की पुनरुक्ति 'अलंकार सर्वस्व' के ग्रंथकार **रुय्यक** के कथन में मिलती है—

"उपमैव तिरोभूतभेदा रूपकम्।"

उपमा के तिरोभूत होने से रूपक होता है। पर **रुय्यक** का एक और भी कथन उल्लेख्य है—

"विषयिणा विषयस्य रूपवतः करणाद् रूपकम्"

(अलंकारसर्वस्व, पृ० ३५)

अर्थात् विषयी के द्वारा विषय को रूपवत् करना रूपक है। इसी कथन का समर्थन 'एकावली' के ग्रंथकार ने किया है। रूपक शब्द से भी उपमेय और उपमान की रूपवत्ता का आग्रह प्रकट होता है। ज्ञात और अज्ञात वस्तुओं की एकरूपता का अन्वर्थ अभिधान रूपक अलंकार के रूप में स्वीकृत हुआ। **'काव्यप्रकाश'** के रचयिता **मम्मट** ने कहा—

"तद्रूपकमभेदोय उपमानोपमेययोः।"

अर्थात् उपमान और उपमेय का सादृश्यातिशयवश अभेद-कथन रूपक अलंकार है। **'निषेध-रहित'** लक्षण का उल्लेख मम्मट ने **'निरपह्नव'** शब्द के द्वारा किया है।

रूपक में अभेद की मात्रा— रूपक में अभेद-प्राधान्य की कितनी मात्रा होती है, इस प्रश्न के उत्तर भिन्न-भिन्न हैं। आलंकारिकों के बीच इस बात को लेकर मतभेद है। पाश्चात्य अलंकार Metaphor का अनुवाद **'रूपक'** शब्द से हम किया करते हैं। पर रूपक में अभेद-प्राधान्य की जितनी मात्रा है, उससे कई गुनी अधिक मात्रा Metaphor में है। **अतिशयोक्ति** अभेद-सर्वस्व अलंकार है। यह अतिशयोक्ति भी पाश्चात्य Metaphor के अंतर्गत आ जाती है। **समासोक्ति** भी Metaphor में अंतर्भूत हो जाती है।

रूपक के भेद— आलंकारिकों ने रूपक के भेद को ब्रह्म की तरह अनन्त बना दिया है। वे कभी सामासिकता के आग्रह पर बल देते हुए **समस्त रूपक** और **व्यस्त रूपक** जैसे दो भेद करते हैं; कभी विषय के अवयवों को ध्यान में रखते हुए **सावयव** तथा **निरवयव** रूपक जैसे भेद करते हैं; कभी अंगों को प्रधानता देते हुए **एकांग रूपक, द्वयंग रूपक, त्र्यंग रूपक** जैसे भेद करते हैं; आरोप-विषय-भूत वस्तुओं के पारस्परिक सम्बन्ध की संगति पर ध्यान देकर **युक्त रूपक** और **अयुक्त रूपक** जैसे भेद करते हैं; अंगी तथा अंग के रूपण के आधार पर **सम रूपक** तथा **विषम रूपक** जैसे भेद करते हैं; साधर्म्य तथा वैधर्म्य के आधार पर **उपमा रूपक** तथा **व्यतिरेक** रूपक जैसे भेद मानते हैं। इस तरह सादृश्यगर्भ कथन में काल्पनिक अभेदारोप की भिन्न-भिन्न भंगिमाएँ हो सकती हैं; इसीलिए इतने भेदों का अन्वेषण और नामकारण संभव हुआ है।

पर मेरे विचार से रूपक के तीन भेद ही प्रमुख हैं—**निरंग रूपक, सांग रूपक** एवं **परम्परित रूपक**। यहाँ इन तीनों के आधार पर ही रूपकात्मक कथनों का विवेचन होगा। **निरंग रूपक**

एक विषय या उपमेय के ऊपर केवल एक विषयी या उपमान का निषेध-रहित अभेदारोप जहाँ हो, वहाँ निरंग रूपक होता है।

निरंग रूपक का अर्थ है— बिना अंग वाला (निः + अंग = निरंग) रूपक। इसे **निरवयव** रूपक भी कहते हैं। इसमें केवल अंगी का आरोप होता है, उसके अंगों का नहीं। अर्थात् निरंग रूपक में केवल उपमेय और उपमान का अभेद एकात्म दिखाया जाता है, उसके अंगों का नहीं; बल्कि उसके अंगों के विषय में कुछ कहा ही नहीं जाता है। जैसे—

(अ) ओ चिंता की पहली रेखा
अरी विश्व-वन की व्याली। —प्रसाद (कामायनी)

ऊपर के उदाहरण में **चिंता** को **व्याली** कहा गया है और **संसार** को **वन** कहा गया है। **व्याली** के अन्य अंगों का आक्षेप नहीं है और न **वन** के अन्य अंगों का आक्षेप है। इस तरह उपमेय पर उपमान का निषेध-रहित अभेदारोप है तथा अंगों के बारे में कहीं कुछ उल्लेख नहीं है।

(आ) सुनकर जयद्रथ का कथन हरि को हँसी कुछ आ गयी।
गम्भीर श्यामल मेघ में विद्युच्छटा-सी छा गयी।
—मैथिलीशरण गुप्त (जयद्रथ-वध)

यहाँ श्रीकृष्ण की हँसी में केवल बिजली का आरोप है; उसके अन्य अंगों का उल्लेख नहीं है। यहाँ इसीलिए निरंग रूपक है।

रूपक के भेदों में सर्वाधिक प्रचलित यही है। **पाणि-पद्म, कर-कमल, मुख-चन्द्र, सौन्दर्य-सरोवर, भाव-झंकार** आदि समस्त पद भी इसी रूपक के उदाहरण हैं।

निरंग रूपक के दो भेद हैं— (१) केवल निरंग रूपक या शुद्ध निरंग रूपक और (२) माला निरंग रूपक।

शुद्ध या केवल निरंग रूपक— यदि एक उपमेय पर केवल एक ही उपमान का आरोप हो तो वहाँ शुद्ध निरंग रूपक होता है। जैसे—

(क) प्रिय पति, वह मेरा प्राण प्यारा कहाँ है?
दुःख जलनिधि डूबी का सहारा कहाँ है?
मुख लख जिसका मैं आज लौं जी सकी हूँ,
वह हृदय हमारा नेत्र-तारा कहाँ है?
—हरिऔध (प्रियप्रवास)

यहाँ दुःख पर जलनिधि का आरोप है; दुःख के लिए अन्य उपमान नहीं आये हैं। फिर नेत्र पर तारा का आरोप है। इस तरह यहाँ **शुद्ध निरंग** रूपक है।

(ख) कनक-छाया में जबकि सकाल
खोलती कलिका उर के द्वार।
सुरभि-पीड़ित मधुपों के बाल
तड़प बन जाते हैं गुंजार।
—पंत

यहाँ उर पर द्वार का आरोप है और मधुपों के बाल पर गुंजार का आरोप।

(ग) हरि मुख-पंकज, भ्रू-धनुष लोचन-खंजन मित्त।
अधर-बिम्ब कुंडल-मकर बसे रहत मो चित्त॥

यहाँ मुख पर पंकज, भ्रू पर धनुष, लोचन पर खंजन, अधर पर बिम्ब तथा कुंडल पर मकर का आरोप है। यह भ्रम हो सकता है कि उपमेय के अंगों का उपमान के अंगों पर आरोप है, इसलिए यहाँ सांग रूपक है। पर यह भ्रम ही है। यहाँ उपमेय के अंग तो अवश्य ही उल्लिखित हैं, पर उन पर जिन उपमानों का आरोप हुआ है वे किसी के अंग नहीं, स्वतंत्र और निरवयव हैं। इसलिए यहाँ केवल निरंग रूपक ही है।

(घ) वर धामन बाम चढ़ी बरसैं मुसकानि सुधा घनसार सनी।
सखियान के आनन इन्दुन तैं अँखियान की बन्दनवारि तनी ॥
—महाकवि देव (अलंकार-मंजरी)

यहाँ मुस्कान में सुधा, आनन्द में इन्दु के आरोप तक तो सांग रूपक का सिलसिला चल रहा था, पर **अँखियान की बन्दनवारि तनी** में उसका निर्वाह नहीं हो सका। इसलिए कि **बन्दनवार** चाँद का अंग नहीं है। यहाँ इसी कारणवश शुद्ध निरंग रूपक मानना चाहिए।

(ङ) रँगराती राते हिये, प्रीतम लिखी बनाय।
पाती काती बिरह की छाती रही लगाय ॥
—बिहारी (बिहारी-सतसई)

लाल रोशनाई से लिखी प्रियतम की पाती को, विरह के बंधन काटने वाली तलवार समझकर नायिका ने हृदय से लगा लिया है। यहाँ **पाती काती** में रूपक है। पत्र को नायिका ने तलवार समझ लिया है। यहाँ शुद्ध निरंग रूपक है, चूँकि उपमेय या उपमान के अन्य अंगों का उल्लेख नहीं है। हाँ **पाती काती** के विशेषण स्वरूप **रँगराता** (लाल रंग की) का उल्लेख है, जिससे स्पष्ट होता है कि तलवार रक्तसनी है।

(च) घन घेरो छुटिगो हरषि चली चहूँ दिसि राह।
कियो सुचैनो आय जग, सरद सूर नरनाह ॥
—विहारी (बिहारी-सतसई)

बादलों का घेरा छूट गया, चारों दिशाओं में हर्षित पथ चलने लगे (यात्री मुदित होकर चलने लगे; यात्रियों के आने-जाने से पथ हर्षित हो गया); और शरद-रूपी वीर नरेश ने आकर जगत् में सुचैन किया।

यहाँ केवल शरद पर वीर राजा का आरोप है, शरद के अन्य अंगों का वीर राजा के अन्य अंगों के साथ रूपकात्मक कथन नहीं है, इसलिए **केवल निरंग रूपक** है।

माला निरंग रूपक— यदि एक उपमेय पर अनेक उपमानों का निषेध-रहित अभेदारोप हो तो वहाँ माला निरंग रूपक होता है।

जिस तरह मालोपमा होती है, उसी तरह माला निरंग रूपक भी। मालोपमा में उपमा की सारी विशेषताओं से युक्त उपमानों की माला गूँथी जाती है; माला निरंग रूपक में भी निरंग रूपक की सारी विशेषताओं को लेकर एक उपमेय के लिए अनेक उपमानों की माला गुम्फित की जाती है। निराला की **'तुम और मैं'**

शीर्षक कविता में मालारूप निरंग रूपक के उदाहरण मौजूद हैं—

१. तुम तुंग हिमालय शृंग
और मैं चंचलगति सुर-सरिता,
तुम विमल हृदय उच्छ्वास
और मैं कान्त कामिनी कविता।
—निराला (तुम और मैं : परिमल)

पंत द्वारा लिखित 'नक्षत्र' शीर्षक कविता में भी माला निरंग रूपक के उदाहरण भरे पड़े हैं—

२. अहे अनभ्र गगन के जल-कण !
ज्योति-बीज, हिमजल के वन !
बीते दिवसों की समाधि हे !
प्रातः विस्मृत स्वप्न सघन !
—पंत ('नक्षत्र' शीर्षक कविता)

छायावाद-युग की कविताओं में मालारूप निरंग रूपक के बहुत-से उदाहरण हैं। कभी-कभी तो ऐसा भी मिलता है कि पूरी कविता इसी आलंकारिक स्थापत्य शैली से गठित-रचित है। जैसे निराला की 'तुम और मैं' शीर्षक कविता; या 'बादलराग' की एक दो कविताएँ। पंत की 'नक्षत्र' शीर्षक कविता भी इसी आलंकारिक स्थापत्य की विभूति से प्रकाशित है।

पद्माकर की 'गंगा-लहरी' में गंगा के सादृश्य-वर्णन के लिए अनेक उपमानों का निषेध-रहित अभेदारोप वर्णित है—

३. विधि के कमंडलु की सिद्धि है प्रसिद्ध यही,
हरिपद पंकज प्रताप की लहर है।
कहै पद्माकर गिरीस सीसमंडल की,
मुंडन की माल ततकाल अघहर है।
भूपति भगीरथ के रथ की सुपुन्य पथ,
जन्हु-जय-योगफल फैल को फहर है।
छेम की छहर गंगा रावरी लहर,
कलिकाल को कहर, जमजाल को जहर है।

पापमोचन करने वाली तथा त्रिविध ताप हरने वाली गंगा की स्तुतिवन्दना मालारूप निरंग रूपक की शैली में है। पूरा कवित्त ही रूपक के स्थापत्य में ढला हुआ है।

४. ओ चिंता की पहली रेखा,
अरी विश्व-वन की व्याली,
ज्वालामुखी स्फोट के भीषण,
प्रथम कम्प सी मतवाली।
हे अभाव की चपल बालिके,
री ललाट की खल रेखा।

—प्रसाद ('कामायनी')

यहाँ चिन्ता उपमेय है। उसका अन्य कोई भी अंग उल्लिखित नहीं हुआ है। इसलिए निरंग रूपक है। फिर चिन्ता पर अनेक उपमानों का आरोप है, इसलिए मालाकार निरंग रूपक है।

सांग रूपक

विश्वनाथ के 'साहित्यदर्पण' में लक्षण है—"यदि अंगी का सांग रूपण हो तो रूपक सांग कहलायेगा"—"अंगिनो यदि सांगस्य रूपणं सांगमेव तत्"
(साहित्य दर्पण : १० : ३०)।

अंग-सहित यदि अंगी उपमेय पर अंग-सहित अंगी उपमान का निषेध-रहित अभेदारोप हो तो सांग रूपक होता है।

उदाहरण देकर बात स्पष्ट की जा सकती है। मान लीजिए कि **नयन** पर **पंछी** का निषेध-रहित अभेदारोप हो तो उसके साथ घोंसले का जिक्र भी होगा, आकाश का जिक्र भी होगा। इसलिए यदि कहा जाता है— **नयन-पंछी पलकों के नीड़ से उड़कर रूप के आकाश में तैर रहे हैं**—तो यहाँ सांग रूपक होगा। चूंकि नयन भी अपने अंगों के साथ आया है और पंछी भी अपने अंगों के साथ आया है। प्रसाद जी के गीत की ये पंक्तियाँ सांग रूपक का उदाहरण हैं—

१. बीती विभावरी जाग री।
अम्बर-पनघट में डुबो रही तारा-घट उषा-नागरी।।

— जयशंकर 'प्रसाद'

या फिर निराला की ये पंक्तियाँ—

२. सौन्दर्य-सरोवर की वह एक तरंग
किंतु नहीं चंचल प्रवाह उद्दाम वेग
संकुचित एक लज्जित गति है वह
प्रिय समीर के संग।

—निराला ('वह' शीर्षक कविता : 'परिमल')

३. रुनित भृंग-घंटावली झरत दान मधुनीर।
मंद-मंद आवत चल्यो, कुंजर-कुंज समीर।।

—बिहारी (बिहारी-सतसई)

यहाँ घंटावली और मदजल के अंगों से युक्त हाथी उपमान है और भृंग तथा मकरंद से युक्त कुंजसमीर उपमेय है। अतः अंगों सहित उपमेय पर अंगों सहित उपमान का आक्षेप है। इसलिए सांग रूपक है।

४. उदित उदय-गिरि मंच पर रघुवर बाल-पतंग।
विकसे सन्त सरोज मन हरषे लोचन-भृंग॥
—तुलसीदास (रामचरितमानस)

५. मुद मंगलमय सन्त समाजू। जो जग जंगम तीरथ-राजू।
रामभगति जहँ **सुरसरिधारा**। **सरसइ ब्रह्म विचार**-प्रचारा।
विधि-निषेधमय कलिमलहरणी। **करम कथा रविनंदिनी बरणी**।
हरिहर कथा विराजति वेनी। सुनत सकल मुद मंगल देनी।
बट बिश्वासु अचल निज धर्मा। तीरथराज समाज सुकर्मा।
—तुलसीदास (रामचरितमानस)

रामभक्ति—सुरसरि-धारा (गंगा), ब्रह्मविचार—सरसइ (सरस्वती), हरिहर कथा—वेनी (त्रिवेणी), विश्वास—वट (अक्षयवट), सुकर्म—तीरथराज (तीर्थराज प्रयाग)।

६. प्रथम **यौवन मेरा मधुमास, मुग्ध उर मधुकर तुम मधु प्राण,**
शयन लोचन, सुधिस्वप्न विलास, मधुर तन्द्रा प्रिय ध्यान.
शून्य जीवन निस्संग आकाश, इन्दु-मुख इन्दु समान,
हृदय सरसी छवि पद्मविकास, स्पृहाएँ ऊर्मिल गान।
—पंत (गुंजन)

७. मेरे मस्तक के **छत्र मुकुट** वसुकाल **सर्पिणी के शतफन**।
मुझ चिरकुमारिका के ललाट में नित्य नवीन **रुधिर चन्दन**।
आँजा करती हूँ **चिता-धूम** का दृग में **तिमिर अंजन**।
शृंगार लपट की चीर पहन नाचा करती मैं छूम-छनन।
—दिनकर ('विपथगा' : हुंकार)

छत्र-मुकुट पर सर्पिणी के शतफण का आरोप है, रुधिर पर चंदन का आरोप है, चिताधूम पर तिमिर अंजन का आरोप है और शृंगार पर लपट का आरोप है। यहाँ क्रान्तिकुमारी अपने सभी अंगों के साथ यानी **कापालिका** के सभी अंगों से आक्षिप्त हुई है।

८. **रूप सलिल** अति **चपल चख, नाभि भँवर** गंभीर।
है **वनिता सरिता** विषम, जहँ मज्जत मतिवीर॥

यहाँ नायिका में नदी का, नायिका के रूप में सलिल का और नाभि में भँवर

का आरोप है—इसलिए यहाँ सांग रूपक है। नायिका अपने अंगों के साथ आकर नदी के प्रमुख अंगों में अंतर्भूत हो गयी है।

९. जद्यपि सुन्दर सुघट पुनि, सगुनो दीपक देह।
तऊ प्रकास करै तितौ, भरिये जितौ सनेह॥

—बिहारी (सतसई)

यहाँ नायिका के शरीर को दीपशिखावत् कहा गया है, उसके गुण को वत्ती कहा गया है, तथा प्रेम को तेल कहा गया है, इसलिए यहाँ श्लेष से पुष्ट सांग रूपक अलंकार है।

१०. सनि कज्जल चख झख लगन, उपज्यो सुदिन सनेह।
क्यों न नृपति ह्वै भोगवै, लहि सुदेस सब देह॥

—बिहारी (सतसई)

नायिका का नेत्र मीन लग्न है, काजल शनिग्रह है, अच्छे दिन स्नेह पैदा हो गया है नायक से और समस्त देह सुदेश साम्राज्य है, तो फिर वह नृपति होकर राज्य-भोग क्यों नहीं करेगी।

यहाँ ज्योतिष के उपमान सांगवत् आये हैं तथा नायिका भी अपने प्रमुख अंगों के साथ आयी है, इसलिए सांग रूपक है।

११. मंगल बिंदु सुरंग, मुख ससि केसर आड़ गुरु।
इक नारी लहि संग, रसमय किय लोचन जगत॥

—बिहारी (सतसई)

यहाँ भी समस्तवस्तुविषय सांग रूपक है।

११. चुवत सेद मकरंद कन, तरु-तरु तर विरमाय।
आवत दक्षिण देश ते, थक्यो बटोही वाय॥

—बिहारी (सतसई)

सांगरूपक के दो भेद किये जाते हैं— एकदेशविवर्त्ति और समस्तवस्तुविषय। एक देशविवर्त्ति का लक्षण इस प्रकार है— जहाँ कुछ आरोप शब्द द्वारा कथित हों और कुछ अर्थ पर निर्भर करते हों या उनका व्यंजकता-पूर्वक आक्षेप हो जाता हो। जैसे—

पलकों के नीड़ से,
सोने के नभ में,
उड़ जाते थे नयन वे।

—निराला

यहाँ नयन पर पंछी का आरोप शब्द द्वारा कथित नहीं है और सोने के नभ का उपमेय कथित नहीं है। सोने के नभ से उपमेय आक्षिप्त होकर निकलता है— **सुनहले, प्रसन्नतादायक रूप का प्रसार**। तो आरोप यहाँ आक्षिप्त हुए हैं। इसलिए यहाँ एकदेशविवर्त्ति सांग रूपक माना जायगा।

फिर '**रूप सलिल अति चपल चख**' वाले उल्लिखित दोहे में **चक्षु** का उपमान शब्द द्वारा कथित नहीं है। **किन्तु रूप के जल में चपल चक्षु** कहने से **मछली** का उपमान स्वयं आक्षिप्त हो जाता है, इसलिए यहाँ भी एकदेशविवर्त्ति सांग रूपक है।

समस्त वस्तु विषय सांग रूपक का लक्षण है— **जहाँ सभी आरोप शब्द द्वारा कथित हों; जहाँ अंगसहित उपमेय पर अंगसहित उपमानों का शब्द-द्वारा कथित निषेध-रहित अभेदारोप हो, वहाँ यह अलंकार होता है**। तुलसीदास की ये प्रसिद्ध पंक्तियाँ उपर्युक्त लक्षण की कसौटी पर खरी उतरती हैं—

नारि-कुमदिनी अवध सर, रघुवर-विरह दिनेस।
अस्त भये प्रमुदित भईं, निरखि राम राकेस॥

वनवास का कठोर कष्टकाल बीत जाने पर राम को अयोध्या की नारियों ने देखा और वे प्रसन्न हुईं— यही काव्यवस्तु है। पर कहा इस तरह गया है— नारियाँ कुमुदिनी हैं, अवध सरोवर है, रामचन्द्र का विरह सूर्य है, उस विरह-सूर्य के अस्त होने पर (वनवास काल बीतने पर) कुमुदिनी नारियाँ प्रमुदित हुईं। इस तरह सभी आरोप शब्द द्वारा कथित हैं। इसलिए **समस्त वस्तु विषय सांग रूपक** है।

सांग रूपक में कवित्व

सूरदास ने सांग रूपकों में कई पद ढाले हैं। 'पिया बिनु नागिन कारी रात', 'मेरे नयन कुरंग भये', 'देखो माई सुन्दरता को सागर' इत्यादि पद इस दृष्टि से उल्लेख्य हैं। निराला की कविता 'तरंगों के प्रति' में **एकदेशविवर्त्ति सांग रूपक** की ही प्रधानता है। पूरी कविता में नृत्य-रूपक बाँधा गया है। तरंगें नर्त्तकियाँ हैं और शैवाल जाल कटि की कछनी है जो नृत्यकाल में बाँधी गयी है। तरंगों की ध्वनि नृत्यकालीन ताल है।

निराला में रूपक की प्रधानता है। पन्त में उपमा की प्रधानता है। **सांग रूपक के द्वारा कवि की संप्रेष्य काव्य-वस्तु, अनेक मूर्त्त चित्रों के माध्यम से इन्द्रियानुभूति जगाकर भावोत्तेजन तथा विचारोद्बोधन करती है**। सांग रूपक गोचर अर्ध-भूमियों तक हमारे मानसिक प्रसार का माध्यम है। कवित्व की मूलभूत प्रकृति की रक्षा इसी के द्वारा होती है।

तुलसीदास ने सागर, मानसरोवर, प्रवाह, प्रलय, प्लावन इत्यादि प्राकृतिक

उपमानों के द्वारा ही रूपक का विकास किया है। पर सूरदास के काव्य में कुरंग, हरिण, नमकहराम, ढीठ, सुभट, बटमार, लोभी, चकोर, काग, मीन, मगर, भुजंग, मुक्तामाल, भ्रमर, नदी जल में डूबे मनुष्य, ग्राह, कामधेनु, गौ आदि अनेक प्रकार के अप्रस्तुत आये हैं।

सांग रूपक की दृष्टि से ये पंक्तियाँ आज की और नवीन लगती हैं—

कहा तुम इतनैहि को गरबानी।
जोवन रूप दिवस दस ही कौ, जल अँजुरी कौ पानी।
तृन की अगिनि, धूम कौ मन्दिर, ज्यों तुषार कन पानी।

यौवन रूप की क्षणिकता का बोध देने के लिए कवि बड़ा ही भावोत्तेजक रूपक खड़ा करता है कि यौवन रूप तो हथेली का पानी है, तृण की जल्दी ही बुझने वाली अग्नि है, धुएँ से भरा मन्दिर है और ओसकण है। फिर आगे चलकर सूरदास ने कहा कि '**ऊसर जमीन पर बरसाती नदी**' ही यौवन रूप है। क्षणिकता का यह चित्र भावोत्तेजन में सक्षम है।

परम्परित रूपक

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ के अनुसार— "**यत्र कस्य चिदारोपः परारोपण-कारणम् तत् परम्परितम्।**" **अर्थात् जहाँ एक आरोप दूसरे आरोप का कारण हो, वहाँ परम्परित रूपक होता है।** परम्परित रूपक के प्रतिष्ठापक मम्मट का लक्षण भी ऐसा ही है।

यहाँ परम्परित का अर्थ है शृंखला में संलग्न रहना, शृंखलित रहना, एक पर दूसरे का निर्भर रहना आदि। असल में परम्परित रूपक की विशेषता यही है कि आरोप, दूसरे पर सम्पूर्ण रूप से निर्भर करता है। यह सापेक्षता या निर्भरता ही इसे '**परम्परित**' कर देती है। अगर पहले आरोप को हटा दें तो दूसरा एकदम निरर्थक हो जायगा।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना भी आवश्यक है कि लक्षणानुसार परम्परित रूपक में कई आरोप, कई उपमान या कई अप्रस्तुत होते हैं। जब तक कई नहीं रहेंगे, तब तक यह परस्पर-निर्भरता या परम्परित होना कोई अर्थ नहीं रखता।

परम्परित रूपक के सम्बन्ध में एक शंका उठायी जा सकती है। वह यह कि मुख पर चाँद के आरोप के कारण, मुस्कान पर सुधा का आरोप करना पड़ता है। उपर्युक्त लक्षण के अनुसार यह परम्परित रूपक का उदाहरण होगा। क्या यह सांग रूपक का उदाहरण नहीं हो सकता? उपमेय और उपमान अपने-अपने अंगसहित सादृश्यसूत्र में बँधकर एकात्म हो गये हैं। निश्चय ही यह सांग रूपक का भी उदाहरण होगा। दूसरा उदाहरण देकर शंका पुष्ट की जा सकती है—

रूप-सलिल अति चपल चख, नाभि भँवर गम्भीर।
है वनिता सरिता विषम, जहँ मज्जत मति धीर॥

यहाँ नायिका में सरिता का, रूप में सलिल का और नाभि में भँवर का तथा चक्षु में आक्षिप्त अर्थानुसार मीन का आरोप है। **नायिका** को **सरिता** कहने के कारण या नायिका पर नदी का आरोप होने के कारण ही रूप पर सलिल का आरोप करना पड़ा है, चक्षु पर मीन का आरोप करना पड़ा है, नाभि पर भँवर का आरोप करना पड़ा है। इसलिए उपर्युक्त उदाहरण को हम **परम्परित रूपक** का भी उदाहरण मान सकते हैं। पर हिन्दी के सभी आलंकारिकों ने इसे **एकदेशविवर्त्ति सांग रूपक** का उदाहरण माना है।

इस तरह मेरी शंका निर्मूल नहीं है। **परम्परित रूपक के लक्षण का अंतर्भाव तो सांग रूपक के अंतर्गत हो जाना चाहिए।**

तीसरे उदाहरण की ही बात लें। डॉक्टर ओम् प्रकाश ने **'साहित्यकोश'** में पृ० ६७० पर परम्परित रूपक का उदाहरण दिया है—

"बाड़वज्वाला सोती थी इस प्रणय-सिन्धु के तल में,
प्यासी मछली-सी आँखें, थीं विकल रूप के जल में।"

—प्रसाद (आँसू)

प्रणय पर सिंधु का आरोप है, रूप पर जल का आरोप है, इसलिए आँखों पर मछलियों का आरोप करना पड़ा है। अतः यहाँ परम्परित रूपक है। बात जँचती है और ठीक भी है।

क्या यह भूल जाने की बात है कि **बाड़वज्वाला** का उपमेय अकथित है और नायिका की **विरह-वेदना** ही उपमेय के रूप में आक्षिप्त होती है। जब आक्षिप्त करने की आवश्यकता पड़ी—तो एकदेशविवर्त्ति सांग रूपक का उदाहरण इसे होना चाहिए। दूसरी बात यह कि **प्रणय** भी अपने अंगों के साथ या उपकरणों के साथ यहाँ प्रस्तुत है और सिंधु भी अपने अंगों के साथ या उपकरणों के साथ आरोपित हुआ है। इसलिए **अंगसहित निषेध-रहित अभेदारोप** के कारण यहाँ एकदेशविवर्त्ति सांग रूपक मानना चाहिए।

परम्परित रूपक के प्रतिष्ठापक मम्मट का अगर यह आशय हो कि एक उपमान से दूसरे उपमान का कार्य-कारण-सम्बन्ध होने पर परम्परित रूपक होता है, तो वहाँ बात ठीक बैठ जाती है। उदाहरण के लिए **तुलसीदास** की ये पंक्तियाँ उस लक्षण की कसौटी पर खरी उतरती हैं—

रामनाम सुन्दर करतारी।
संशय-विहग उड़ावनहारी॥

अर्थात् रामनाम सुन्दर ताली है, जिससे संशय का विहग उड़ जाता है। चूँकि रामनाम पर ताली का आरोप है, इसलिए संशय पर विहग का आरोप होने से उपमानों के बीच कार्य-कारण-सम्बन्ध की स्थापना हो जाती है।

ऊपर के उदाहरण में एक आरोप, दूसरे आरोप से कार्य-कारण-सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। इसलिए परम्परित रूपक है। फिर दूसरा उदाहरण—

मुनि लोचन चकोर, ससि राघव।

—तुलसीदास (गीतावली)

मुनियों के लोचन चकोर हैं, इस कारण राघव (राम) चन्द्रमा हैं। चूँकि लोचन पर चकोर का आरोप हो गया था, इसलिए राम पर सूर्य का आरोप सकारण ही निरर्थक हो जाता। अतः राम पर शशि का आरोप करना पड़ा। यहाँ भी एक आरोप से दूसरे आरोप का सम्बन्ध कार्य-कारणवश दृढ़बंध में है।

विशेष ध्यातव्यः परम्परित रूपक में कार्य-कारण के आधार पर उपमान-चयन होता है, अगर यह बात मानी जाय, तभी इसकी स्वतंत्र सत्ता हो सकती है।

उत्प्रेक्षा

जहाँ प्रस्तुत में अप्रस्तुत की संभावना का वर्णन हो, वहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार होता है।

'उत्प्रेक्षा' शब्द का अर्थ है—बलपूर्वक प्रधानता से देखना; अन्य यानी उपमान का उत्कटतापूर्वक ज्ञान।

प्रस्तुत में अप्रस्तुत की संभावना का अर्थ है—प्रस्तुत में अप्रस्तुत का प्रबल ज्ञान। वर्ण्य वस्तु में आक्षिप्त वस्तु का अभेद रूप में संशय घटित होना ही उत्प्रेक्षा की विशेषता है। इस संशय में उपमान पक्ष ही प्रबल होता है। डॉ० सुधीर कुमार दासगुप्त ने अपनी बँगला पुस्तक 'काव्य-श्री' में यह लिखा है— "वर्णनीय उपमेय का शिथिलीकरण एवं उपमान का दृढ़ीकरण ही अभेद रूप में संशय का मूल है।" डॉ० दासगुप्त ने स्पष्ट रूप में कहा है कि उत्प्रेक्षा में उपमेय शिथिल और उपमान दृढ़ होता है।

बिहारी के एक प्रसिद्ध दोहे में यह कहा गया है कि श्रीकृष्ण के शरीर पर पीतवस्त्र क्या है, मानो नीलमणि-शैल पर प्रभातकालीन धूप पड़ी हो। यहाँ उत्प्रेक्षा है। इस उदाहरण में ही उपमेय में उपमान की संभावना व्यक्त की गयी है। संभावना व्यक्त करते हुए बिहारी ने जिस उपमान की कल्पना की है, वह वास्तविक नहीं, काल्पनिक है। 'नीलमणि-शैल' नहीं होता—यह तो काल्पनिक उपमान है। इस तरह उपमेय वास्तविक और उपमान काल्पनिक होता है। वास्तविक वस्तु पर अवास्तविक वस्तु का आक्षेप करने से अभिनव काव्य-सौन्दर्य की सृष्टि होती है। संस्कृत के आचार्यों ने उत्प्रेक्षा के उसी उदाहरण को श्रेष्ठ माना है, जिसमें काल्पनिक उपमान की संभावना व्यक्त की गयी हो।

उपमा का प्राण सादृश्य है और उत्प्रेक्षा का प्राण संभावना है। यह संभावना काल्पनिक वस्तु की होती है।

उत्प्रेक्षा में संशय इतना प्रबल होता है कि उपमान ही वास्तविक प्रतीत होता है।

उपमा में अभेदारोप नहीं होता; रूपक में अभेदारोप होता है। पर उत्प्रेक्षा में एककोटिक ज्ञान प्रबल होता है; इसमें संशययुक्त कल्पना या संभावना होती है। इस दृष्टि से उपमा उत्प्रेक्षा की पूर्ववर्त्ती है और रूपक परवर्त्ती। उत्प्रेक्षा के वाचक

शब्द ये हैं—**मानो, मनहुँ, जनु, जिमि, ज्यों, इव, जैसे इत्यादि**। कभी-कभी वाचक शब्दों के प्रयोग के विना भी उत्प्रेक्षा का चमत्कार व्यक्त किया जाता है।

उत्प्रेक्षा के भेदों को लेकर आचार्यों में बड़ा मतभेद है। सामान्यतया मम्मट तक दो ही भेद माने जाते थे— वाच्योत्प्रेक्षा और प्रतीयमानोत्प्रेक्षा। पर विश्वनाथ ने इनके कई भेद-प्रभेद किये हैं। इनके बाद पंडितराज जगन्नाथ ने अपने 'रसगंगाधर' में यह कहा कि चमत्कार की विलक्षणता केवल हेतु, फल और स्वरूप में होती है। इसलिए उत्प्रेक्षा के तीन भेद माने गये। हिन्दी के आचार्यों ने प्रमुख रूप से इसके तीन भेद माने हैं— वस्तूत्प्रेक्षा, हेतूत्प्रेक्षा एवं फलोत्प्रेक्षा। पंडितराज जगन्नाथ ने जिसे स्वरूपोत्प्रेक्षा के नाम से अभिहित किया है, उसे ही हिन्दी में वस्तूत्प्रेक्षा माना गया है।

वस्तूत्प्रेक्षा

एक वस्तु में दूसरी वस्तु का प्रबल ज्ञान या संभावना का वर्णन होने से वस्तूत्प्रेक्षा होती है।

वस्तूत्प्रेक्षा में दो वस्तुओं का वर्णन होता है, यानी इसमें उपमेयोपमान भाव आवश्यक है। आचार्यों ने इसके भी दो भेद किये हैं—उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा और अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा। जहाँ उपमेय और उपमान—दोनों का शब्दतः कथन होता है, वहाँ विषय उक्त रहते हैं, इसलिए उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा। जहाँ उपमेय का शब्दतः कथन न हो यानी जहाँ विषय का कथन न हो, बल्कि उसका आक्षेप करना पड़े, वहाँ अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा होती है। इन दोनों को उक्तास्पदा और अनुक्तास्पदा भी कहते हैं।

उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा

विहारी का यह प्रसिद्ध दोहा उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा का उदाहरण है—

सोहत ओढ़ै पीत पटु, स्याम सलौनें गात।
मनौ नीलमनि सैल पर, आतपु परयौ प्रभात॥

—श्रीकृष्ण के श्याम-सलोने गात पर पीतपट बड़ा शोभित हो रहा है, मानो नीलमणि के पहाड़ पर प्रभात का आतप पड़ रहा हो। यहाँ उपमेय और उपमान —दोनों का शब्दतः कथन है। इसलिए इस उदाहरण में उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा मानी गयी है।

रैन तिमैहले धँन चढ़ी मुख छवि लखि नँदनंद।
धरी तींन उदयादि ते, जँनु चढ़ि आयौ चंद॥

—भिखारीदास

तिमहले पर कामिनी नायिका चढ़ी तो नायक ने उसकी मुखछवि देखी। ऐसा लगा मानो चन्द्रोदय की तीसरी घड़ी में चाँद ऊपर चढ़ आया हो। यहाँ भी उपमेय और उपमान—दोनों का शब्दतः कथन है, इसलिए उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा है।

सखि सोहत गोपाल के, उर गुंजन की माल।
बाहर लसत मनो पिय, दावानल की ज्वाल॥

—बिहारी

—मिलन-स्थल पर नायिका अपने नायक श्रीकृष्ण से मिलने नहीं जा सकी। श्रीकृष्ण वहाँ से लौटते हुए आ रहे हैं। इस बीच नायिका अपने स्वजन-परिजन के साथ घर में बैठी है। झरोखे से उसकी सखी श्रीकृष्ण को देख लेती है। इस पर कह कहती है कि श्रीकृष्ण के वक्ष पर लटकती हुई गुंजे की माला उन्हें शोभित कर रही है। ऐसा लगता है मानो उनके भीतर धधकती हुई दावाग्नि बाहर प्रकट होकर सुशोभित हो रही हो। गुंजे की माला में दावाग्नि की संभावना होने से वस्तूत्प्रेक्षा है और उपमेय-उपमान के शब्दतः कथन से उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा है।

लता भवन ते प्रगट भे, तेहि अवसर दोउ भाय।
मनु निकसे जुग कमल विधु, जलद-पटल बिलगाय॥

—तुलसीदास

—लताओं की ओट से राम-लक्ष्मण निकले, मानो मेघ का आवरण हटाकर दो चन्द्र एक साथ उदित हुए। यहाँ राम-लक्ष्मण में दो चन्द्र की संभावना है।

कुछ अन्य उदाहरण—

१. नील परिधान बीच सुकुमार
खुल रहा मृदुल अधखिला अंग;
खिला हो ज्यों बिजली का फूल
मेघवन बीच गुलाबी रंग। —प्रसाद

२. जान पड़ता नेत्र देख बड़े-बड़े
हीरकों में गोल नीलम हैं जड़े। —मैथिलीशरण गुप्त

३. गोरे मुख पर स्याम तिल, लगे बहुत अभिराम।
मानहुं चंद बिछाइक, प्रौढ़े सालग्राम॥

४. देखि समीप सरुप कैकेई। मानहुँ मीचु घरी गनि लेई॥

—तुलसीदास

५. इसके अनन्तर अंक में रक्खे हुए सुस्नेह से,
शोभित हुई इस भाँति वह निर्जीव पति के देह से,
मानो निदाघारंभ में संतप्त आतप-जाल से,
छादित हुई विपिनस्थली नव पतित किंशुक शाल से।

—मैथिलीशरण गुप्त

अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा

फिरत विपिन नृप देखि बराहू। जनु बन दुरेहु ससिहि ग्रसि राहू।

—तुलसीदास

—यहाँ वराह के दाँतों का उल्लेख नहीं हुआ है। विषय का उल्लेख किये बिना उसपर उपमान की संभावना की गयी है अर्थात् राहु के मुख में चन्द्रमा से उत्प्रेक्षा की गयी है।

बाजि बलि रघुबंसिन के मनो सूरज के रथ चूमन चाहैं।

—तुलसीदास

—यहाँ श्रीराम की बारात के घोड़ों का वर्णन किया गया है। कवि कह रहा है कि वे बलि घोड़े सूरज का रथ चूमना चाहते हैं। अर्थात् उछलने में बहुत ऊँचे हैं। यहाँ कवि का विषय है 'उछाल', पर उसका कथन किये बगैर उस पर उपमान की संभावना की गयी है।

बरसै जनु काजल गगन, तम लिपटत सब गात।
दीठि नीचि-सेवा सरिस, बिफल भई-सी जात॥

—यहाँ कवि का वर्ण्य विषय है अन्धकार; पर उसका कथन किये बगैर यह संभावना की गयी है कि मानो आकाश से काजल बरस रहा है।

मरकत-भाजन-सलिल-गत, इन्दु कला के वेष।
झीन झँगा में झलमलत, स्याम गात नख-रेख॥ —बिहारी

—नायक के झीने वस्त्र के भीतर से नायिका-कृत नख-रेखा झलमला कर शोभा दे रही है, मानो, नीलमणि के पात्र में भरे जल में द्वितीया के चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब पड़ रहा हो। यहाँ 'नख-रेख' कवि का वर्ण्य विषय है और उसका शब्दतः कथन नहीं है।

मानो नभ से आग बरसती।
खोले चोंच, हाँफती, जलकण को चिड़ियों की पाँति तरसती।

—यहाँ सूर्य की किरणों की प्रखरता कवि का वर्ण्य विषय है। पर उसका कथन किये बिना ही यह संभावना व्यक्त की गयी है कि मानो नभ से आग बरसती हो।

उस असीम नीले अंचल में
देख किसी की मृदु मुस्क्यान,
मानो हंसी हिमालय की है
फूट चली करती कल गान। —प्रसाद

—यहाँ कवि का वर्ण्य विषय है निर्झर। पर निर्झर का कथन कहीं भी नहीं है। निर्झर पर हिमालय की हँसी की संभावना का अभेद आरोप है। इसलिए यहाँ अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा है।

वह देखो, वन के अन्तराल से निकले,
मानो दो तारे क्षितिज-जाल से निकले। —मैथलीशरण गुप्त

—यहाँ भरत और शत्रुघ्न कवि के वर्ण्य विषय हैं। उन पर अप्रस्तुत दो तारों की सम्भावना व्यक्त की गयी है। अतः यहाँ अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा है।

हेतूत्प्रेक्षा

जहाँ अहेतु में हेतु मानकर संभावना का वर्णन हो, वहाँ हेतूत्प्रेक्षा होती है।

जो वस्तुतः कारण नहीं है, उसे ही यदि कारण के रूप में बतलाकर संभावना की जाय, तभी यह अलंकार होता है। हेतूत्प्रेक्षा के दो भेद किये जाते हैं—सिद्धास्पद और असिद्धास्पद। जहाँ उत्प्रेक्षा का विषय सिद्ध या सम्भव हो, वहाँ सिद्धास्पद और जहाँ उत्प्रेक्षा का विषय असिद्ध या असंभव हो, वहाँ असिद्धास्पद हेतूत्प्रेक्षा होती है।

सिद्धास्पद हेतूत्प्रेक्षा

नैन नीक नासा निरख, मानहु मनहिं लजाय।
नीर बसे वारिज सकल, कीर बसे वन जाय॥

—नायिका के सुन्दर नेत्र को देखकर मानो सभी कमल लज्जित हो गये और जल में जाकर बस गये; फिर नायिका की सुन्दर नासिका देखकर कीर (शुक) लज्जित हो गये और वे भी वन में रहने लगे।

यहाँ कमल और कीर के क्रमशः जल तथा वन में रहने के जो कारण बताये गये हैं, वे अहेतु में हेतु की सम्भावना ही हैं।

दुर्जन टले सज्जन मिले दो लाभ हों जो साथ ही,
तो वुध विवेकी चित्त में अह्लाद क्यों पावें नहीं।
रजनीश जाता है चला दिवसेश आता है यहाँ,
मानो इसी से पक्षियों का वृन्द गाता है यहाँ।
—रामचरित उपाध्याय

—चन्द्रमा चला जाता है और सूर्य आता है— इसी कारणवश पक्षियों का दल गाता है। यहाँ भी अहेतु में हेतु की सम्भावना की गयी है। (पक्षियों के गाने का कारण कुछ और ही है।)

असिद्धास्पद हेतूत्प्रेक्षा

मोर-मुकुट की चन्द्रकनि, यों राजत नँदनंद।
मनु ससि-सेखर के अकस, किय सेखर सत चंद।।

—कृष्ण ने मोरपंख लगा लिया है। (मोरपंख में) सैकड़ों चन्द्रमा श्रीकृष्ण ने इसलिए धारण किये हैं, चूँकि कृष्ण को शिव से ईर्ष्या हो गयी है।

यहाँ मोरपंख में लगे चन्द्रबिम्ब का जो कारण बताया गया है, वह असिद्ध या असम्भव है। इसलिए अहेतु में असम्भव हेतु की कल्पना करने के कारण यहाँ असिद्धास्पद हेतूत्प्रेक्षा है।

विरहिन के अँसुवान ते, भरन लग्यौ संसार।
मैं जान्यों मरजाद तजि, उमग्यौ सागर खार।।

—वियोगिनी नायिकाओं के आँसुओं से संसार भर गया, मानो मर्यादा त्याग कर खारे जल का समुद्र ही उमड़ पड़ा। यहाँ भी अहेतु में असिद्ध हेतु की संभावना है। अतः इस दोहे में असिद्धास्पद हेतूत्प्रेक्षा है।

करते हुए गर्जन गगन में दौड़ते हैं घन यथा,
हय, गज, रथादिक शब्द करते चल पड़े अगणित तथा।
उड़ने लगी सब ओर रज, होने लगी कंपित धरा,
मानो न सहकर भार यह ऊपर चली करके त्वरा।
—मैथिलीशरण गुप्त

—धरती धूल के रूप में ऊपर उड़ने लगी; इसका कारण यह बतलाया गया है कि हय, गज, रथ इत्यादि का वह भार न सह सकी। यह कारण असंभव है। अतः यहाँ असिद्धास्पद हेतूत्प्रेक्षा है।

फलोत्प्रेक्षा

जहाँ अफल में फल की संभावना का वर्णन हो, वहाँ फलोत्प्रेक्षा होती है। इसके भी दो भेद किये जाते हैं— सिद्धास्पद तथा असिद्धास्पद।

सिद्धास्पद फलोत्प्रेक्षा

तरनि तनूजा तट तमाल तरुवर बहु छाये।
झुके कूल सों जल परसन हित मनहुँ सुहाये।।
—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

—यमुना के तट पर उगे हुए तमाल वृक्ष मानो यमुना जल का स्पर्श करने के उद्देश्य से नीचे झुके हुए हैं। वास्तव में जल का स्पर्श करना—वृक्षों का उद्देश्य नहीं है। पर उनके अत्यधिक झुके होने के कारण कवि ने अफल में फल की संभावना का वर्णन किया है—और इस संभावना का आधार सिद्ध है, अतः यहाँ सिद्धास्पद फलोत्प्रेक्षा है।

असिद्धास्पद फलोत्प्रेक्षा

दमयंती कचभार प्रभा से पिच्छभार हत प्रभा निहार।
कार्तिकेय की सेवा करता है मयूर खलु संयम धार।।

—मयूर कार्तिकेय की सेवा फल के उद्देश्य से करता है। कवि का कथन है कि दमयंती के सुन्दर बालों की शोभा की समता की प्राप्ति की इच्छा से मयूर कार्तिकेय की सेवा करता है। यहाँ अफल में फल की संभावना का आधार असिद्ध है। अतः यहाँ असिद्धास्पद फलोत्प्रेक्षा है।

वहु भाँति सुनकर सुप्रशंसा और उसमें मन दिये,
सुरपुर गये हो नाथ क्या तुम अप्सराओं के लिए ?

—मैथिलीशरण गुप्त

—वीर का युद्ध में मारा जाना अप्सराओं की प्राप्ति के उद्देश्य से बताया गया है। अतः यहाँ भी अफल में जिस फल की संभावना की गयी है, उसका आधार असिद्ध है। अतएव गुप्तजी की इन पंक्तियों में असिद्धास्पद फलोत्प्रेक्षा है।

विशेष टिप्पणी

उत्प्रेक्षा का चमत्कार उपमान की संभावना में है। यहाँ संभावना कभी तो अर्थ के स्तर पर व्यक्त होती है और कभी बहुत स्पष्ट होती है।

जहाँ उपमेय में उपमान की संभावना एकदम स्पष्ट होती है, वहाँ निश्चित रूप से मानो, मनहुँ, जिमि, जनु, जैसे, ज्यों, इव इत्यादि वाचक शब्दों का प्रयोग होता है।

वाचक शब्दों के प्रयोग को ध्यान में रखकर ही उत्प्रेक्षा के दो भेद किये गये हैं—वाच्योत्प्रेक्षा और गम्योत्प्रेक्षा या प्रतीयमानोत्प्रेक्षा।

मध्यकाल में विद्यापति और सूरदास ने उत्प्रेक्षा के चमत्कार पर ही अपना कवित्व आश्रित किया है। जिस तरह कालिदास की उपमाएँ प्रसिद्ध हैं, उसी तरह विद्यापति और सूरदास की उत्प्रेक्षाएँ।

रीतिकाल में विहारी, पद्माकर और घनानन्द ने उत्प्रेक्षा के चमत्कार से वर्ण्य विषयों का स्पष्टीकरण किया है।

प्रतीप

प्रसिद्ध उपमान की निष्फलता का यदि वर्णन हो तो प्रतीप अलंकार होता है।

प्रतीप का अर्थ है विलोम, विपरीत, उलटा। इसके लक्षणों का सम्यक् निरूपण करने के बाद ही 'प्रतीप' नाम की सार्थकता स्पष्ट होगी।

आचार्य मम्मट ने दो प्रकार का प्रतीप बतलाते हुए दोनों के अलग-अलग लक्षण दिये हैं। उनका सूत्र है—

"आक्षेप उपमानस्य प्रतीपमुपमेयता।
तस्यैव यदि वा कल्प्या तिरस्कारनिबन्धनम्॥"

(काव्यप्रकाश: २०१/१३३)

अर्थात् उपमान की व्यर्थता का प्रतिपादन करने के लिए उपमान की सत्ता पर आक्षेप प्रथम प्रकार का प्रतीप अलंकार होता है और उपमान के अनादर के लिए यदि उसे ही उपमेय बना दिया जाय तो दूसरे प्रकार का प्रतीप अलंकार होता है।

आचार्य मम्मट दो ही प्रकार के कथनों में प्रतीप की स्थिति मानते हैं। एक कथन उस प्रकार का होता है जिसमें उपमान की व्यर्थता का प्रतिपादन होता है और दूसरे प्रकार का कथन वह होता है जिसमें प्रसिद्ध उपमान को उपमेय बना दिया जाता है। इस तरह अगर हम दोनों प्रकार के कथनों को एक ही प्रकार के कथन की पार्श्वछाया मान लें तो कह सकते हैं कि **प्रतीप में उपमान की निष्फलता वर्णित होती है।** निष्फलता शब्द में ही **व्यर्थता और अनादर** दोनों भाव आ जाते हैं। 'साहित्यदर्पण' के टीकाकार रामतर्कवागीश की टीका में भी उपमान के प्रतिकूल कथन तथा उपमेय के प्रकर्ष की प्रतीति के कथन के मूल में उपमान की निष्फलता का अभिधान माना गया है। प्रतीप के सम्बन्ध में आलंकारिकों के द्वारा निरूपित अन्य लक्षण भी हैं, जिनमें जयदेव और अप्पयदीक्षित के लक्षण प्रमुख हैं। जयदेव ने उपमान की हीनता के वर्णन में तथा अप्पयदीक्षित ने उपमान की उपमेय-रूप कल्पना में प्रतीप अलंकार की स्थिति मानी है।

ये सारे लक्षण-निरूपण **'उपमान की निष्फलता तथा उपमेय के प्रकर्ष'** पर ही

प्रकारान्तर से वल देते हैं। इस तरह प्रतीप में उपमा के क्रम का विलोम चमत्कार-पूर्वक व्यक्त किया जाता है। इसीलिए इसे **विपरीतोपमा** भी कहते हैं।

आचार्य मम्मट द्वारा दिया गया लक्षण कई प्रकार की व्याख्याओं का जनक है। ऊपर में उद्धृत उनके सूत्र का एक शब्द विचारणीय है, वह है 'आक्षेप'। इस आक्षेप शब्द की व्याख्या करते हुए आचार्य विश्वेश्वर ने कहा है कि जब उपमान का कार्य भले प्रकार से उपमेय ही सम्पादित करने में समर्थ है तो फिर उपमान की आवश्यकता ही क्या है? जहाँ इस तरह का **आक्षेप** उपमान पर लगाया जाय, वहीं प्रतीप होता है। उपमान की सत्ता पर इस तरह के आक्षेप में प्रथम प्रतीप होता है। फिर जो उपमान प्रसिद्ध है, उसे ही जब उपमेय बना दिया जाता है तो उपमान का तिरस्कार ही सूचित होता है। इस तरह यह दूसरा प्रतीप होता है।

इन लक्षणों से यह स्पष्ट है कि प्रतीप में वैपरीत्य घटित होता है। अर्थात् इस अलंकार में उपमा के ठीक विपरीत लक्षण घटित होता है। यहाँ उपमेय को उपमान के समान न कहकर, उपमान को उपमेय के समान कहा जाता है। एक उदाहरण देने से यह बात स्पष्ट होगी—

अमिय झरत चहुँ ओर सों, नयन ताप हरि लेत।
राधा जू को बदन अस, चन्द उदय केहि हेत?

अर्थात् चारों दिशाओं से अमृत झर रहा है, आँखों का ताप मिट रहा है। ऐसा हो भी क्यों नहीं, राधिका का मुख जो यहाँ शोभित है, तो फिर चाँद क्यों उदित हुआ है?

कवि यहाँ स्पष्ट रूप से कह रहा है कि जब राधा के सुन्दर मुख से ही अमृत झर रहा है, ऐसा अमृत जो दर्शन के लिए लालायित प्रेमी की आँखों का ताप हर लेता है; तो फिर चन्द्रोदय की आवश्यकता ही क्या रह गयी? इस तरह राधिका-मुख जो उपमेय है, उसकी उत्कृष्टता के समक्ष चन्द्रोदय यानी उपमान की निष्फलता का द्योतन किया गया है। इसलिए यहाँ स्पष्ट रूप से प्रतीप अलंकार है।

'कामायनी' की इस पंक्ति में भी प्रतीप अलंकार का चमत्कार बोल रहा है— 'उसी तपस्वी से लम्बे थे देवदारु दो-चार खड़े।' तपस्वी उपमेय है और देवदारु उपमान; पर उपमान को ही उपमेय बना दिया गया है—यानी देवदारु के समान वे तपस्वी नहीं थे, बल्कि तपस्वी के समान ही देवदारु खड़े थे।

प्रतीप में भी यद्यपि साम्य भावना ही रहती है, पर उपमेय का उत्कर्ष सूचित करने के विचार से कवि उपमान के उत्कर्ष का प्रत्याख्यान करता है—तथा उपमेय-उपमान का बँधा हुआ क्रम उलट-पुलट कर देता है।

प्रतीप और व्यतिरेक—इन दोनों में भ्रम न हो जाय इसलिए अन्तर स्पष्ट करना आवश्यक प्रतीत होता है। व्यतिरेक में जहाँ उपमेय का प्राधान्य दिखाया जाता

है, वहाँ प्रतीप में उपमान का प्रत्याख्यान किया जाता है। व्यतिरेक में भी उपमेय की उत्कृष्टता प्रतिपादित की जाती है किन्तु प्रतीप की तरह उसमें उपमेय-उपमान-क्रम में उलटफेर नहीं होता। व्यतिरेक में उपमेय की उत्कृष्टता की स्थापना उसके किसी गुण-कथन द्वारा होती है। फिर व्यतिरेक में कुछ वैधर्म्य भी आवश्यक होता है, पर प्रतीक में पूर्णतः साधर्म्य होता है।

प्रतीप के भेद

हिन्दी के अलंकार-ग्रंथों में प्रतीप के पाँच भेद माने गये हैं। पहला भेद इस आधार पर है कि जहाँ प्रसिद्ध उपमान को उपमेय रूप में कल्पित किया जाय। दूसरे भेद का आधार है—प्रसिद्ध उपमान को उपमेय रूप में कल्पित करके उपमेय का निरादर करना। तीसरे भेद का आधार है—उपमान को उपमेय रूप में कल्पित करके उपमान का निरादर करना। चौथे भेद का आधार है—उपमेय से उपमान की समता का खंडन करना। पाँचवें भेद या पाँचवें प्रतीप का आधार है—उपमेय की सामर्थ्य का वर्णन करके उपमान की व्यर्थता सूचित करना।

हम यदि आचार्य मम्मट और आचार्य विश्वनाथ द्वारा निरूपित लक्षणों और उदाहरणों को ही मानें तथा तार्किक दृष्टि से विचार करें तो पता चलेगा कि ये पाँच भेद व्यर्थ के तूल हैं। कुल मिलाकर दो ही भेद मानना तर्कसंगत लगता है। इसलिए हम प्रतीप के दो ही भेद मानते हैं।

प्रथम प्रतीप

जहाँ उपमान की व्यर्थता तथा उपमेय की सार्थकता सूचित हो, वहाँ प्रथम प्रतीप अलंकार होता है।

इस अलंकार का यह उदाहरण अत्यन्त प्रामाणिक है—

जहँ राधा आनन उदित निसि बासर आनन्द।
तहाँ कहाँ अरविन्द हैं कहा बापुरो चन्द॥

यहाँ राधा के आनन यानी उपमेय की समर्थता तथा अरविन्द और चन्द्र यानी उपमान की व्यर्थता प्रकट की गयी है। इसलिए उपर्युक्त दोहे में प्रतीप का चमत्कार स्पष्ट है।

भूषण का यह दोहा प्रथम प्रतीप के उदाहरण के रूप में प्रसिद्ध है—

गरब करत कत चाँदनी, हीरक छीर समान।
फैली इती समाज गत, कीरति सिवा खुमान॥

(शि० भू० : ४६)

गोस्वामी तुलसीदास द्वारा सीता की मुखशोभा के वर्णन में प्रतीप का ही चमत्कार प्रस्फुटित है—

बहुरि बिचार कीन्ह मन माहीं।
सीय बदन सम हिमकर नाहीं॥

सोमनाथ द्वारा लिखित यह उदाहरण मर्यादित चमत्कार की सृष्टि है—

तिय मुख तो मुख ही सों सदा रहै उजास अमन्द।
कहिये कहा बिरंचि सों वृथा रच्यो है चन्द॥

डॉ० विजयेन्द्र स्नातक ने सोमनाथ की इन पंक्तियों को पंचम प्रतीप का उदाहरण माना है। पर यदि प्रतीप की व्यर्थ बढ़ी हुई भेद-संख्या कम की जाय तो पंचम प्रतीप समूल प्रथम प्रतीप में अंतर्भुक्त हो जायगा। भूषण की निम्नलिखित पंक्तियों में भी पंचम प्रतीप का लक्षण देखा गया है। पर मेरे विचार से इस अलंकार के यदि दो ही भेद माने जायँ तो निम्नलिखित उदाहरण भी प्रथम प्रतीप का उदाहरण बन जायगा—

राव भावसिंह जू के दान की बड़ाई देखि,
कहा कामधेनु है, कछू न सुरतरु है।
— मतिराम (ललित ललाम : ६६)

भिखारी दास का निम्नलिखित छन्द प्रथम प्रतीप के ही अन्तर्गत आता है—

अलक पै अलि-वृन्द, भाल पै अरध चंद,
भौं पै धँनु, नैनँन पै वारों कंज-दल में।
—श्रृंगार निर्णय

बिहारी का यह प्रसिद्ध दोहा भी पंचम प्रतीप के उदाहरण के रूप में आता है। मम्मट द्वारा प्रस्तुत प्रतीप के दो भेद मानने पर बिहारी का यह दोहा प्रथम प्रतीप का उदाहरण है—

कहा कुमुद कहु कौमुदी, कितक आरसी जोति।
जाकी उजराई लखे, आँखि ऊजरी होति॥
—बिहारी

जिस नायिका की निर्मल आभा को देखने से आँखे भी उज्ज्वल हो जाती हैं, उस नायिका की निर्मल आभा (उजराई) के आगे, कुमुद, कौमुदी और आरसी ज्योति व्यर्थ हैं। यहाँ नायिका की निर्मल आभा उपमेय है, जिसके आगे कुमुद, कौमुदी, आरसी ज्योति इत्यादि उपमानों की व्यर्थता प्रकट की गयी है।

सोहति धोती सेत में, कनक वरन तन बाल।
सारद-बारद-बीजुरी-भा, रद कीजत लाल॥
—बिहारी

वह सोने के रंग वाली बाला जब श्वेत वस्त्र पहनती है तो बिजली की आभा को भी मात कर देती है। उपमेय के आगे उपमान की व्यर्थता प्रमाणित की गयी है, इसलिए प्रथम प्रतीप।

भूषण का निम्नलिखित छन्द भी शिवाजी के स्तवन के क्रम में प्रतीप के प्रथम भेद का ही सहारा लेता है। आलंकारिकों ने जिसे 'कैमर्थ्य' द्वारा उपमान की निरर्थकता वर्णित करना कहा है और इस तरह के कथन में पंचम प्रतीप माना है, उसे प्रथम प्रतीप के अन्तर्गत रखना ही श्रेयस्कर जान पड़ता है। भूषण भी उसी कैमर्थ्य के सहारे उपमान की निरर्थकता बतलाते हुए शिवाजी का स्तवन करते हैं—

कुन्द कहा, पय वृन्द कहा अरु चन्द कहा सरजा जस आगे ?
भूषण भानु कृशानु कहा सब खुमान प्रताप महीतल पागे ?
राम कहा द्विजराज कहा, बलराम कहा रन में अनुरागे ?
बाज कहा मृगराज कहा, अति साहस मैं सिवराज के आगे ?

दूसरा प्रतीप

जहाँ उपमान की उपमेय-रूप कल्पना का वर्णन हो, वहाँ दूसरा प्रतीप होता है।

दूसरे प्रतीप को पहचानने के लिए इस बात का हमेशा ध्यान रखना चाहिए कि इसमें उपमान ही उपमेय हो जाता है। जैसे कामायनी की यह पंक्ति एक तरह से उदाहरणों को पहचानने का एक अच्छा नमूना है—

'उसी तपस्वी से लम्बे थे देवदारु दो-चार खड़े।'

इस तरह के वर्णन में हम देखते हैं कि उपमेय को उपमान तथा उपमान को उपमेय बना देने से क्रम में उलटफेर तो हो जाता है किन्तु उपमेय की उत्कृष्टता प्रतिपादित होती है तथा उपमेय की उपमान-रूप सामर्थ्य का भी पता मिलता है। जो वस्तु स्वयं उपमान-रूप से प्रसिद्ध रही है, उसी को जब हम उपमेय के रूप में देखते हैं तो परिस्थितियों की विडम्बना और प्रसंग-प्रेरित वैपरीत्य के भार से दबे हुए उपमान का भिक्षुक-जैसा चेहरा स्पष्ट हो जाता है। वह उपमान जो अपने गुणों के कारण प्रसिद्ध रहा है तथा अपने गुणों के आरोप से उपमेय को उपकृत करता रहा है, वही अब दरिद्र नजर आ रहा है। इस तरह उपमान की उपमेय-रूप कल्पना से उपमान का तिरस्कार स्वतः प्रकट हो जाता है। प्रसादजी की 'कामायनी' में दो पंक्तियाँ इस तरह के चमत्कार का प्रभाव विकीर्ण कर रही हैं—

दूर-दूर तक विस्तृत था हिम,
स्तब्ध उसी के हृदय समान।

सोमनाथ की ये दो पंक्तियाँ प्रतीप के चमत्कार को प्रस्फुटित करती हैं—

देत मुकति सुन्दर हरषि सुनि परताप उदार।
है तेरी तरवार सी कालिन्दी की धार॥

यहाँ उपमान (कालिन्दी की धार) को उपमेय बना दिया गया है और उपमेय (तरवार) को उपमान बना दिया गया है। इस तरह प्रसिद्ध उपमान का तिरस्कार ही विवक्षित होता है। अन्य आलंकारिकों ने उपर्युक्त उदाहरण को प्रथम प्रतीप का उदाहरण माना है। पर नये वर्गीकरण के अनुसार यह दूसरे प्रतीप का ही उदाहरण है।

मैथिलीशरण गुप्त ने 'यशोधरा' में प्रतीप के इसी चमत्कार की सहायता से अपनी बात कही है—

कौन जाने, जायगा न यों ही दिन दूसरा;
आयी तुझ-सी यह संध्या धूलि-धूसरा।

'काव्यप्रकाश' के रचयिता मम्मट ने संस्कृत साहित्य से कुछ ऐसे उदाहरण भी दिये हैं, जिनमें उपमान का तिरस्कार शब्दतः कथित होता है। ऊपर के जितने उदाहरण हिन्दी के हैं, उनमें उपमान को उपमेय रूप में कल्पित मात्र किया गया है और अप्रत्यक्ष रूप में उपमान का तिरस्कार विवक्षित है, शब्दतः कथित नहीं है। पर मम्मट द्वारा दिये गये उदाहरणों में उपमान की उपमेय-रूप कल्पना करके उसका शब्दतः तिरस्कार भी किया गया है— 'हे सुन्दरि! कान लगाकर इस निन्दा को सुन लो। हे कृशोदरि! देखो तो, लोग तुम्हारे मुख से चन्द्रमा की उपमा देते हैं।'— इस तरह यहाँ चन्द्रमा का तिरस्कार है और सुन्दरी के मुख का उत्कर्ष वर्णित है।

प्रतीप के इस दूसरे भेद के उदाहरण के अंतर्गत ही निम्नलिखित हिन्दी कविता की पंक्तियाँ मननीय हैं—

करता है तू व्यर्थ गर्व पवि, अपने मन में,
देखी तेरे सदृश कठिनता दुष्ट वचन में।

इसी तरह एक और प्रसिद्ध उदाहरण है—

अवनि, हिमाद्रि, समुद्र, जनि, करहु वृथा अभिमान।
सांत, धीर, गम्भीर हैं, तुम सम राम सुजान॥

यहाँ शान्ति, धैर्य और गंभीरता के लिए प्रसिद्ध अवनि, हिमाद्रि तथा समुद्र इन तीनों उपमानों के सारे गुणों के पुंज हैं श्री रामचन्द्र। इस तरह जब राम में ही ये सारे गुण हैं तो इन उपमानों का प्रयोजन ही क्या है? कैमर्थ्य द्वारा उपमानों के महत्त्व का खण्डन होता है और उनका तिरस्कार सूचित होता है।

व्यतिरेक

उपमेय के उत्कर्ष-वर्णन या उपमान के अपकर्ष-वर्णन में व्यतिरेक अलंकार होता है।

व्यतिरेक शब्द का अर्थ है—विशेष अतिरेक, विशेष आधिक्य। लक्षण से स्पष्ट है कि उपमान की अपेक्षा उपमेय का उत्कर्ष-वर्णन ही व्यतिरेक है। उपमेय की उत्कृष्टता का जितना सांग तथा तर्कयुक्त वर्णन इस अलंकार में मिलता है, उतना किसी अन्य अलंकार में नहीं। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि उत्कर्ष-वर्णन अकारण तथा तर्कातीत हो जाता है। ऐसा होना कविकर्म पर निर्भर करता है। ऐसा होने पर कभी तो यह लाक्षणिक संकेतों तक पहुँचने के लिए वाध्य करता है और वहीं कवित्व भी उत्कृष्ट हो जाता है। पर कभी-कभी ऐसा भी होता है कि मन की सनक में आकर कोई लिख जाय।

पंडित जवाहर लाल चतुर्वेदी जी ने भिखारी दास के **'काव्य-निर्णय'** की टीका में व्यतिरेक शब्द की एक और व्याख्या की है। उनका कहना है कि विशेष आधिक्य के अतिरिक्त इसका अर्थ है विभिन्नतापूर्ण आधिक्य। अर्थात् उपमान तथा उपमेय की विभिन्नता का ऐसा वर्णन जिसमें आधिक्य होता हो। उनका संकेत इस बात पर है कि **व्यतिरेक में उपमान तथा उपमेय के वैधर्म्य को सूचित करते हुए उपमेय का उत्कर्ष-वर्णन ही व्यतिरेक अलंकार होता है।**

फिर आचार्य मम्मट ने व्यतिरेक के भेद-निरूपण के मूलाधार का निर्णय करते हुए यह वतलाया है कि व्यतिरेक में उपमान की अपेक्षा उपमेय के उत्कर्ष-वर्णन का निमित्त वतलाना अपेक्षित है, फिर उस निमित्त का उपादान भी होगा या उपादान का अभाव होगा।

श्रेष्ठ व्यतिरेक अलंकार तो वहीं होता है जहाँ निमित्त और उपादान दोनों रहते हैं। जिन हेतुओं को आधार वनाकर उपमेय का उत्कर्ष सूचित करते हैं, उनका अभाव शुद्ध वाच्य-वाचक-भाव से रहने पर अलंकारत्व को ही मिटा देगा। इसलिए अगर हेतु-निर्देश न हो तो लक्षणा, व्यंजना या ध्वनि की सहायता आवश्यक हो जाती है।

उपमेय के उत्कर्ष का कारण-निर्देश करते हुए विहारी ने कई उत्कृष्ट दोहे

लिखे हैं। उनमें यह बड़ा लोकप्रिय है—

पावक-झर ते मेह-झर, दाहक दुसह विसेख।
दहै देह वाके परस, याहि दृगन ही देख॥

अग्निवर्षा की अपेक्षा मेघ-वर्षा अधिक दाहक, दुःसह है क्योंकि अग्निवर्षा में तो शरीर का स्पर्श होने से जलन होती है परन्तु मेघ-वर्षा को देखकर ही शरीर झुलसने, तड़पने तथा जलने लगता है। यहाँ मेह-झर (उपमेय) का उत्कर्ष सूचित किया गया है तथा कारण-निर्देश भी किया गया है।

बिहारी के उपर्युक्त दोहे में पावक-झर तथा मेह-झर दो अलग-अलग वस्तुओं की तरह दीखते हैं। पर असलियत यह है कि पावक-झर एक काल्पनिक वस्तु है जिसे कवि उपमान के रूप में रखता है और मेह-झर को उपमेय के रूप में। लेकिन कहीं भी यह बोध नहीं होने दिया गया है कि यहाँ रूढ़ औपम्य का खंडन करने के लिए कहा गया है। कवि यह नहीं कहता कि—कैसे उपमा दी जाय? कथन-शैली में बिहारी की विदग्धता ऐसे ही स्थलों पर द्रष्टव्य है। पर तुलसीदास की 'बरवै रामायण' में स्पष्ट शब्दों में उपमा कैसे दी जाय का उल्लेख रहता है; लगता है जैसे कवि रचना-प्रक्रिया के उन क्षणों को कच्ची अवस्था में ही उतार देता है—

सिय मुख सरद-कमल जिमि, किमि कहि जाय?
निसि मलीन वह, निसि दिन यह विगसाय।

—तुलसीदास

अर्थात् सीता का मुख शरद-ऋतु के कमल के समान कैसे कहा जाय—कमल तो रात को कुम्हला जाता है और यह दिन-रात विकसित रहता है। सीता का मुख उपमेय है, जिसका उत्कर्ष हुआ वर्णन है तथा कमल का अपकर्ष वर्णन। तुलसीदास की ही एक दूसरी कथनशैली में व्यतिरेक का चमत्कार है, जिसमें उपमेय के उत्कर्ष के लिए कुछ नहीं कहा जाता, केवल उपमान के अपकर्ष के कारणों का उल्लेख कर दिया जाता है। लेकिन यहाँ भी उपमा कैसे दी जाय जैसे वाच्य-वाचक-भाव का साथ वह नहीं छोड़ते—

जनम सिंधु, पुनि बंधु विष, दिन मलीन सकलंक।
सिय-मुख-समता पाव किमि, चन्द बापुरो रंक॥

—तुलसीदास

जिस चन्द्रमा की उत्पत्ति खारे जल के समुद्र से हुई, जिसका भाई विष है, जो दिन के समय प्रभाहीन है तथा रात को कलंकी चेहरा लेकर उदित होता है उस रंक या गुणों की दृष्टि से दरिद्र चन्द्रमा की समता सीता से कैसे की जाय

व्यतिरेक

उपमेय के उत्कर्ष-वर्णन या उपमान के अपकर्ष-वर्णन में व्यतिरेक अलंकार होता है।

व्यतिरेक शब्द का अर्थ है—विशेष अतिरेक, विशेष आधिक्य। लक्षण से स्पष्ट है कि उपमान की अपेक्षा उपमेय का उत्कर्ष-वर्णन ही व्यतिरेक है। उपमेय की उत्कृष्टता का जितना सांग तथा तर्कयुक्त वर्णन इस अलंकार में मिलता है, उतना किसी अन्य अलंकार में नहीं। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि उत्कर्ष-वर्णन अकारण तथा तर्कातीत हो जाता है। ऐसा होना कविकर्म पर निर्भर करता है। ऐसा होने पर कभी तो यह लाक्षणिक संकेतों तक पहुँचने के लिए वाध्य करता है और वहीं कवित्व भी उत्कृष्ट हो जाता है। पर कभी-कभी ऐसा भी होता है कि मन की सनक में आकर कोई लिख जाय।

पंडित जवाहर लाल चतुर्वेदी जी ने भिखारी दास के '**काव्य-निर्णय**' की टीका में व्यतिरेक शब्द की एक और व्याख्या की है। उनका कहना है कि विशेष आधिक्य के अतिरिक्त इसका अर्थ है विभिन्नतापूर्ण आधिक्य। अर्थात् उपमान तथा उपमेय की विभिन्नता का ऐसा वर्णन जिसमें आधिक्य होता हो। उनका संकेत इस वात पर है कि **व्यतिरेक में उपमान तथा उपमेय के वैधर्म्य को सूचित करते हुए उपमेय का उत्कर्ष-वर्णन ही व्यतिरेक अलंकार होता है।**

फिर आचार्य मम्मट ने व्यतिरेक के भेद-निरूपण के मूलाधार का निर्णय करते हुए यह वतलाया है कि व्यतिरेक में उपमान की अपेक्षा उपमेय के उत्कर्ष-वर्णन का निमित्त वतलाना अपेक्षित है, फिर उस निमित्त का उपादान भी होगा या उपादान का अभाव होगा।

श्रेष्ठ व्यतिरेक अलंकार तो वहीं होता है जहाँ निमित्त और उपादान दोनों रहते हैं। जिन हेतुओं को आधार वनाकर उपमेय का उत्कर्ष सूचित करते हैं, उनका अभाव शुद्ध वाच्य-वाचक-भाव से रहने पर अलंकारत्व को ही मिटा देगा। इसलिए अगर हेतु-निर्देश न हो तो लक्षणा, व्यंजना या ध्वनि की सहायता आवश्यक हो जाती है।

उपमेय के उत्कर्ष का कारण-निर्देश करते हुए विहारी ने कई उत्कृष्ट दोहे

लिखे हैं। उनमें यह बड़ा लोकप्रिय है—

पावक-झर ते मेह-झर, दाहक दुसह विसेख।
दहै देह वाके परस, याहि दृगन ही देख॥

अग्निवर्षा की अपेक्षा मेघ-वर्षा अधिक दाहक, दुःसह है क्योंकि अग्निवर्षा में तो शरीर का स्पर्श होने से जलन होनी है परन्तु मेघ-वर्षा को देखकर ही शरीर झुलसने, तड़पने तथा जलने लगता है। यहाँ मेह-झर (उपमेय) का उत्कर्ष सूचित किया गया है तथा कारण-निर्देश भी किया गया है।

बिहारी के उपर्युक्त दोहे में पावक-झर तथा मेह-झर दो अलग-अलग वस्तुओं की तरह दीखते हैं। पर असलियत यह है कि पावक-झर एक काल्पनिक वस्तु है जिसे कवि उपमान के रूप में रखता है और मेह-झर को उपमेय के रूप में। लेकिन कहीं भी यह बोध नहीं होने दिया गया है कि यहाँ रूढ़ औपम्य का खंडन करने के लिए कहा गया है। कवि यह नहीं कहता कि—कैसे उपमा दी जाय? कथन-शैली में बिहारी की विदग्धता ऐसे ही स्थलों पर द्रष्टव्य है। पर तुलसीदास की **'बरवै रामायण'** में स्पष्ट शब्दों में उपमा कैसे दी जाय का उल्लेख रहता है; लगता है जैसे कवि रचना-प्रक्रिया के उन क्षणों को कच्ची अवस्था में ही उतार देता है—

सिय मुख सरद-कमल जिमि, किमि कहि जाय?
निसि मलीन वह, निसि दिन यह बिगसाय।

—तुलसीदास

अर्थात् सीता का मुख शरद-ऋतु के कमल के समान कैसे कहा जाय—कमल तो रात को कुम्हला जाता है और यह दिन-रात विकसित रहता है। सीता का मुख उपमेय है, जिसका उत्कर्ष हुआ वर्णन है तथा कमल का अपकर्ष वर्णन। तुलसीदास की ही एक दूसरी कथनशैली में व्यतिरेक का चमत्कार है, जिसमें उपमेय के उत्कर्ष के लिए कुछ नहीं कहा जाता, केवल उपमान के अपकर्ष के कारणों का उल्लेख कर दिया जाता है। लेकिन यहाँ भी **उपमा कैसे दी जाय** जैसे वाच्य-वाचक-भाव का साथ वह नहीं छोड़ते—

जनम सिंधु, पुनि बंधु विप, दिन मलीन सकलंक।
सिय-मुख-समता पाव किमि, चन्द बापुरो रंक॥

—तुलसीदास

जिस चन्द्रमा की उत्पत्ति खारे जल के समुद्र से हुई, जिसका भाई विप है, जो दिन के समय प्रभाहीन है तथा रात को कलंकी चेहरा लेकर उदित होता है—उस रंक या गुणों की दृष्टि से दरिद्र चन्द्रमा की समता सीता से कैसे की जाय?

एक दूसरा उदाहरण भी है जिसमें **उपमा कैसे की जाय** की द्वन्द्व-स्थिति का उल्लेख तो नहीं है, पर प्रकारान्तर से यही स्थिति है—

सम सुवरन सुखमाकर सुखद न थोर।
सीय अंग लखि कोमल कनक कठोर॥

—तुलसीदास

सीता की सुन्दर गौरवर्णी कान्ति की तुलना स्वर्ण से की जा सकती है। सीता वर्ण, सुषमा तथा सुखदता में तो स्वर्ण के समान हैं, पर स्वर्ण कठोर है और सीता कोमल हैं। और चूँकि **कोमलता** भी आजतक के पूँजीवादी समाज में गुण मानी जाती रही है, इसलिए कठोरता दुर्गुण है। फलतः दोनों की तुलना नहीं हो सकती।

तुलसीदास के प्रायः सभी उदाहरणों में हम उपमा के उल्लेख की बाध्यता पाते हैं, पर बिहारी के दोहों में यह बाध्यता नहीं है। बिहारी के पास ऐसा अभ्यस्त कौशल और शब्द-विन्यास है कि लाघव के साथ, अपनी बात चमत्कार की परिपूर्णता को लिये हुए कह जाते हैं—

१. अनियारे दीरघ दृगनि, किती न तरुनि समान।
वह चितवनि औरे कछु, जिहिं बस होत सुजान॥

—बिहारी

यहाँ उस चितवन का वैशिष्ट्य बतलाने के लिए **'औरे'** शब्द का प्रयोग किया गया है, अभेद में भेद-दर्शन वाच्य किया गया है, इसलिए यहाँ भेदकातिशयोक्ति भी है। पर यह व्यतिरेक अलंकार का उदाहरण है। अर्थ है—कँटीली तथा बड़ी आँखों वाली स्त्रियाँ तो बहुत हैं, परन्तु उस नायिका की वह चितवन तो कुछ और ही है, जिससे सुजान यानी रसिक लोग वशीभूत हो जाते हैं। उस चितवन की वशीकरण-क्षमता का निर्देश कवि दे रहा है।

नायिका की वह चितवन उपमेय है और अन्य स्त्रियों की चितवनों की तुलना में उसकी विलक्षणता प्रकट की गयी है। फलतः उपमेय का उत्कर्ष बतलाया गया है। इसलिए यहाँ व्यतिरेक अलंकार है।

२. डर न रहै नींद न परै, हरै न काल-विपाक।
छिनक छाकि उछकै न फिरि, खरो विषम छवि-छाक॥

—बिहारी

अर्थ है—प्रेममदिरा में मत्त व्यक्ति का नशा कुछ और ही है। इसमें न तो डर से ही नशा छूटता है, न तो नींद ही आ जाती है और न निश्चित अवधि के बीत जाने पर ही यह उतरता है। पर भांग, मदिरा आदि का नशा तो डर से टूट जाता है, उसमें नींद भी आ जाती है तथा समय समाप्त होने पर नशा भी जाता रहता है। पर यह प्रेमासक्ति भी अजीब नशा है!

प्रेमासक्ति उपमेय है, जिसका उत्कर्ष सूचित किया गया है। इसलिए यहाँ व्यतिरेक अलंकार है।

३. तजी संक सकुचति न चित, बोलति वाक कुवाक।
दिन-छनदा छाकी रहति, छुटै न छिन छवि-छाक ॥

—बिहारी

वह नायिका भरदिन तथा पल-पल छबि-छाक यानी प्रेम के नशे में धुत्त रहती है; फल यह हुआ है कि उसे भय क्या, संकोच तक नहीं है; यहाँ तक कि वह कुबोल भी बोल जाती है। यहाँ भी दूसरी पंक्ति में व्यतिरेक का चमत्कार मुखर है।

तुलसीदास और बिहारी की व्यतिरेक-शैली का अन्तर समझने पर ही व्यतिरेक का महत्त्व स्पष्ट होगा।

तुलसीदास के सभी उदाहरणों में व्यतिरेक का चमत्कार सादृश्यसूचक पदों से प्रस्फुटित होता है, पर बिहारी के दोहों में अर्थ से या सादृश्य के आक्षेप से स्पष्ट होता है। बिहारी के सभी दोहों में उपमेय की उत्कृष्टता ढूंढ़ने के लिए उपमान की निकृष्टता का आधार लिया जाता है, पर सादृश्य ही व्यंग्य रहता है। इसलिए अर्थ की व्यंजना द्वारा बिहारी ने व्यतिरेक के चमत्कार की सृष्टि की है।

कहना यह चाहिए कि व्यतिरेक इन्हीं दो प्रकारों का होता है—सादृश्य शब्द या पद द्वारा तथा अर्थ की व्यंजना द्वारा।

कुछ और उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

(अ) मृदुल अधर सम होंइ क्यों, बिद्रुम निपट कठोर।

—भिखारीदास (काव्य-निर्णय)

(आ) राधा मुख को चन्द्र-सा कहते हैं मतिरंक।
निष्कलंक है वह सदा ससि में प्रगट कलंक ॥

(इ) वह पार्थनन्दन पार्थ से भी धीर वीर प्रशस्त है।

—मैथिलीशरण गुप्त (जयद्रथ-वध)

(ई) घटै बढ़ै सकलंक लखि, जग सब कहैं ससंक।
बाल वदन सम है नहीं, रंक मयंक इकंक ॥

—भिखारीदास (काव्य-निर्णय)

(उ) खंजन से दृग लसत पै, धरे विसेष विलास।

—पद्माकर (पद्माभरण)

इस अलंकार का प्रयोग नायक के वीरत्व-सम्बन्धी गुणों के उत्कर्ष-वर्णन में, नायिका के रूपगुण-सम्बन्धी सौन्दर्य के उत्कर्ष-वर्णन में तथा भक्ति के आराध्य के शील, गुण, सौन्दर्य इत्यादि की उत्कृष्टता के कथन में हुआ है।

डरे कुटिल नृप प्रभुहि निहारी। मनहु भयानक मूरति भारी॥
रहे असुर छल छोनिप वेषा। तिन प्रभु प्रगट काल सम देखा॥

राम को अनेक व्यक्तियों ने अनेक रूपों में देखा है, इसलिए यहाँ ज्ञातृ-भेद से भिन्न-भिन्न प्रकार का वस्तु-वर्णन है।

विषय-भेद से भिन्न-भिन्न प्रकार का वर्णन

आधुनिक कवयित्री द्वारा लिखित 'बालिका के प्रति' शीर्षक कविता में विषय-भेद से वस्तु-वर्णन देखा जा सकता है; जिसमें एक ही व्यक्ति द्वारा एक ही वस्तु के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न गुणों का कथन है—

यह मेरी गोदी की शोभा, सुख सुहाग की है लाली।
शाही शान भिखारिन की है, मनोकामना मतवाली।
दीपशिखा है अन्धेरे की, घनी घटा की उजियाली।
ऊषा है यह कमल भृंग की, है पतझड़ की हरियाली।

— सुभद्रा कुमारी चौहान

ज्ञातृ-भेद में अनेक व्यक्तियों द्वारा अनेक प्रकार से वस्तु-वर्णन होता है—पर विषय-भेद में एक ही व्यक्ति द्वारा वस्तु के भिन्न-भिन्न रूप तथा गुण का वर्णन होता है। उपर्युक्त उदाहरण में बालिका की माँ अपनी बालिका के बारे में भिन्न-भिन्न प्रकार का कथन करती है, बालिका को वह भिन्न-भिन्न रूपों में ग्रहण करती है।

ज्योत्स्ना को कवि पंत भिन्न-भिन्न रूपों में देखते हैं—

बिन्दु में थीं तुम सिन्धु अनन्त, एक सुर में समस्त संगीत।
एक कलिका में अखिल वसन्त, धरा पर थीं तुम स्वर्ग पुनीत॥

—पंत

परमात्मा के सम्बन्ध में द्विवेदी-युग के एक प्रख्यात कवि का विषय-भेद से भिन्न-भिन्न प्रकार का वस्तु-वर्णन है—

तू रूप है किरन में सौन्दर्य है सुमन में,
तू प्राण है पवन में विस्तार है गगन में।

—रामनरेश त्रिपाठी

उल्लेख और भ्रान्तिमान् का पार्थक्य भी समझ लेना चाहिए। उल्लेख में जहाँ ग्रहण करने वाला एक व्यक्ति या अनेक व्यक्ति होता है, वहाँ भ्रान्तिमान् में ऐसी कोई अनिवार्य स्थिति नहीं है। पर भ्रान्तिमान् में जहाँ एक भ्रम होता है, उल्लेख में वहीं अनेक भ्रम। दूसरा अन्तर यह है कि उल्लेख में निमित्त-भेद होता है, पर भ्रान्तिमान् में एक ही निमित्त होता है।

उल्लेख के उदाहरण :

१. रिद्धि वरदायक की सुकृति समृद्धि वृद्धि
सम्भु सुरनायक की सिद्धि की सुनाका है,
कहैं 'रतनाकर' त्रिलोक सोक नासन कौं
अतुल त्रिविक्रम के विक्रम की साका है।
जय-भय भारी तम-तोम के निवारन कौं
गंगा यह रावरी तरंग तुंग राका है,
सागर-कुमारनि के तारन की स्रेनी सुभ
भूपति भगीरथ के पुन्य की पताका है।

—रत्नाकर

२. तेरो करवाल भयो दच्छिन को ढाल भयो,
हिन्दु को दिवाल भयो काल तुरकान को।

—भूषण

उल्लेख

एक ही वस्तु का भिन्न-भिन्न प्रकार से ग्रहण उल्लेख अलंकार कहलाता है।

यहाँ उल्लेख शब्द का अर्थ वर्णन करना है। बहुगुण-सम्पन्न वस्तु का भिन्न-भिन्न लोगों के द्वारा भिन्न-भिन्न कथन सहज स्वाभाविक है। इस अलंकार के चमत्कार के मूल में तीन बातें होती हैं— १. वस्तु का भिन्न-भिन्न गुणों से युक्त होना, २. भिन्न-भिन्न लोगों के द्वारा उसका भिन्न-भिन्न प्रकार से कथन तथा ३. एक ही व्यक्ति कई प्रकार की दृष्टिभंगियों से उस वस्तु को देखकर वर्णित करता हो।

इस अलंकार का सर्वप्रथम उल्लेख रुय्यक ने किया है। रुय्यक ने **'अलंकार-सर्वस्व'** में लिखा है— 'यत्रैकं वस्तु अनेकधा गृह्यते स रूपबाहुल्योल्लेखनादुल्लेखः।' अर्थात् जहाँ किसी एक वस्तु को अनेक रूपों में ग्रहण किया जाय तो उसके इस प्रकार अनेकरूप कथन को उल्लेख कहा जाता है। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने उल्लेख की व्याप्ति बतलाते हुए सम्यक् लक्षण तथा भेद बताये हैं। उनके अनुसार— **"एक वस्तु का ज्ञाता-भेद से या विषय-भेद से अनेकरूप कथन को उल्लेख कहते हैं।"** ज्ञाता-भेद का अर्थ है— उस विशेष वस्तु से परिचित अनेक लोग यदि उसका वर्णन अनेक प्रकार से करें; तथा विषय-भेद का अर्थ है— उस विशेष वस्तु में रूप या गुण के बाहुल्य होने से यदि उसके भिन्न-भिन्न रूपों या गुणों का कथन हो।

इस अलंकार का सर्वाधिक प्रयोग भक्तिकाल में हुआ है, खास कर संत कवियों द्वारा। निराकार ईश्वर की महिमा बतलाते हुए, संत कवि अपने साध्य के रूपों या गुणों का भिन्न-भिन्न प्रकार से कथन करते हैं। तुलसीदास के इस तथ्य-कथन को यदि हम इस अलंकार की आत्मा मान लें तो कोई अतिकथन नहीं होगा—

'जाकी रही भावना जैसी। प्रभु मूरति देखी तिन तैसी॥'

ज्ञाता-भेद से इस अलंकार का चमत्कार शिवाजी के स्तवन में भूषण ने प्रकट किया है—

अर्थिन को सुर-तरु दिसत, वैरिन को यमराज।
युवतिन दीसै पुहुपसर, साहितनै सिवराज॥

अर्थात् अर्थ-प्रार्थियों (याचकों) को शिवाजी कल्पतरु दीखते हैं, शत्रुओं को वह

यमराज जैसे लगते हैं, युवतियों को कामदेव लगते हैं। इस तरह एक शिवाजी को भिन्न-भिन्न प्रकार के ज्ञाता भिन्न-भिन्न प्रकार से जानते-मानते हैं।

भावसिंह नामक अपने आश्रयदाता की प्रशस्ति करते हुए मतिराम कहते हैं—

कविजन कल्पद्रुम कहै, ज्ञानी ज्ञान समुद्र।
दुरजन के गन कहत हैं भाव सिंह रन रुद्र॥

—मतिराम (ललित ललाम)

कवि लोग भावसिंह को कल्पद्रुम कहते हैं, ज्ञानी लोग ज्ञान का समुद्र कहते हैं और दुर्जन लोग उन्हें रणरुद्र कहते हैं। इस तरह ज्ञातृ-भेद से भावसिंह का भिन्न-भिन्न प्रकार का वर्णन हुआ है। इसी तरह भिखारीदास ने नायिका का बहुत ही कुशल उल्लेख किया है—

पीतम प्रीतिमयी अनुमाने परोसिन जाने सु नीतिन सों ठई।
सौति हलाहल सी ती कहैं सखी कहैं सुन्दरि सील सुधा मई॥

—भिखारीदास (काव्य-निर्णय)

उस नायिका को प्रियतम प्रीतिमयी समझते हैं, पड़ोसिनें सुन्दर नीति पर अटल रहने वाली समझती हैं, सौतें हलाहल-सी समझती हैं और सखियाँ सुन्दर, शीलमयी तथा सुधामयी समझती हैं। यहाँ भी ज्ञातृ-भेद से नायिका का भिन्न-भिन्न प्रकार से वर्णन है।

'आर्यावर्त्त' में वियोगीजी की ये पंक्तियाँ, उल्लेख के चमत्कार से ही कवित्व-पूर्ण हो गयी हैं—

धनघोष समझ मयूर लगे कूकने,
समझी गजेन्द्र ने दहाड़ मृगराज की।
सागर ने समझी प्रभंजन की गर्जना,
पर्वतों ने समझी कड़क महावज्र की।
गंगाधर चौंके जयघोष को समझ के,
गंगा आ रही है ब्रह्मलोक से गरजती।

—वियोगी

युद्धोन्माद में पगे हुए लोगों के जयघोष को भिन्न-भिन्न व्यक्तियों ने भिन्न-भिन्न ढंग से समझा, इसलिए ज्ञातृ-भेद से वस्तु-वर्णन हुआ है।

तुलसीदास की निम्नलिखित पंक्तियाँ उल्लेख के चमत्कार से ही परिपूर्ण वर्णन का चित्र देती हैं—

जाकी रही भावना जैसी। प्रभु मूरति देखी तिन तैसी॥
देखहिं भूप महा रनधीरा। मनहु वीर रस धरे सरीरा॥

डरे कुटिल नृप प्रभुहि निहारी। मनहु भयानक मूरति भारी।।
रहे असुर छल छोनिप वेषा। तिन प्रभु प्रगट काल सम देखा।।

राम को अनेक व्यक्तियों ने अनेक रूपों में देखा है, इसलिए यहाँ ज्ञातृ-भेद से भिन्न-भिन्न प्रकार का वस्तु-वर्णन है।

विषय-भेद से भिन्न-भिन्न प्रकार का वर्णन

आधुनिक कवयित्री द्वारा लिखित 'बालिका के प्रति' शीर्षक कविता में विषय-भेद से वस्तु-वर्णन देखा जा सकता है; जिसमें एक ही व्यक्ति द्वारा एक ही वस्तु के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न गुणों का कथन है—

यह मेरी गोदी की शोभा, सुख सुहाग की है लाली।
शाही शान भिखारिन की है, मनोकामना मतवाली।
दीपशिखा है अन्धेरे की, घनी घटा की उजियाली।
ऊषा है यह कमल भृंग की, है पतझड़ की हरियाली।

— सुभद्रा कुमारी चौहान

ज्ञातृ-भेद में अनेक व्यक्तियों द्वारा अनेक प्रकार से वस्तु-वर्णन होता है— पर विषय-भेद में एक ही व्यक्ति द्वारा वस्तु के भिन्न-भिन्न रूप तथा गुण का वर्णन होता है। उपर्युक्त उदाहरण में बालिका की माँ अपनी बालिका के बारे में भिन्न-भिन्न प्रकार का कथन करती है, बालिका को वह भिन्न-भिन्न रूपों में ग्रहण करती है।

ज्योत्स्ना को कवि पंत भिन्न-भिन्न रूपों में देखते हैं—

बिन्दु में थीं तुम सिन्धु अनन्त, एक सुर में समस्त संगीत।
एक कलिका में अखिल वसन्त, धरा पर थीं तुम स्वर्ग पुनीत।।

—पंत

परमात्मा के सम्बन्ध में द्विवेदी-युग के एक प्रख्यात कवि का विषय-भेद से भिन्न-भिन्न प्रकार का वस्तु-वर्णन है—

तू रूप है किरन में सौन्दर्य है सुमन में,
तू प्राण है पवन में विस्तार है गगन में।

—रामनरेश त्रिपाठी

उल्लेख और भ्रान्तिमान् का पार्थक्य भी समझ लेना चाहिए। उल्लेख में जहाँ ग्रहण करने वाला एक व्यक्ति या अनेक व्यक्ति होता है, वहाँ भ्रान्तिमान् में ऐसी कोई अनिवार्य स्थिति नहीं है। **पर भ्रान्तिमान् में जहाँ एक भ्रम होता है, उल्लेख में वहाँ अनेक भ्रम।** दूसरा अन्तर यह है कि उल्लेख में निमित्त-भेद होता है, पर भ्रान्तिमान् में एक ही निमित्त होता है।

उल्लेख के उदाहरण :

१. रिधि वरदायक की सुकृति समृद्धि वृद्धि
सम्भु सुरनायक की सिद्धि की सुनाका है,
कहैं 'रतनाकर' त्रिलोक सोक नासन कौं
अतुल त्रिविक्रम के विक्रम की साका है।
जय-भय भारी तम-तोम के निवारन कौं
गंगा यह रावरी तरंग तुंग राका है,
सागर-कुमारनि के तारन की स्त्रेनी सुभ
भूपति भगीरथ के पुन्य की पताका है।

—रत्नाकर

२. तेरो करवाल भयो दच्छिन को ढाल भयो,
हिन्दु को दिवाल भयो काल तुरकान को।

—भूषण

आक्षेप

यह सादृश्यगर्भ के गम्यौपम्याश्रय वर्ग का एक अलंकार है। इसमें अभीष्ट कथन का निषेधाभास एक विशेष उद्देश्य-साधन के अभिप्राय से किया जाता है।

आक्षेप शब्द का अर्थ है—अपने पास की वस्तु को दूर फेंकना, निषेध करना, दोष लगाना। असल में इस अलंकार के द्वारा इष्टार्थ को थोड़ा कहकर बीच में ही छोड़ दिया जाता है और बीच में छोड़ देने के कारण ही कथनशैली चमत्कार-पूर्ण हो जाती है। जैसे, रोज की बातचीत में हमलोग कहा करते हैं— "दुःख तो बहुत है, लेकिन छोड़िए, दूसरों के आगे कहने से क्या लाभ ?" अथवा—"बात तो बहुत है, लेकिन जानकर क्या कीजियेगा ?"

इस निषेधात्मक प्रणाली से जो कुछ कहा जाता है, वह खूब पुष्ट तथा परिपक्व होकर दूसरों को भी प्रभावित करता है।

अध्यापक श्यामापद चक्रवर्ती ने आक्षेप शब्द का अर्थ व्यंजना माना है। फिर उन्होंने कहा है कि इस आलोच्य अलंकार (आक्षेप) की व्यंजना खूब उन्नत स्तर की नहीं होती। फिर भी सौन्दर्य-सृष्टि की शक्ति तो इसमें है ही। विरोधाभास अलंकार में विरोध जिस तरह सत्य नहीं होता है, उसी तरह आक्षेप अलंकार का निषेध भी सत्य नहीं होता— यह निषेध नहीं, निषेधाभास है— निषेध की झलक मात्र है। **आक्षेप अलंकार में प्रकृत पक्ष तो यही है कि निषेध के द्वारा विधि की व्यंजना होती है।** निषेध में प्रच्छन्न रूप से विधि ही रहती है; निषेध, विधि में व्यंग्य होकर पर्यवसित होता है। निषेध के आभास का यही अर्थ है— "सुकौशल से विन्यस्त निषेध का मायाजाल, तत्त्वदृष्टि से जो विधि को उज्ज्वलतर करके उसमें मिल जाता है।"

संस्कृत काव्यशास्त्र के प्राचीन आलंकारिकों ने भी उपर्युक्त तथ्यों की तरफ संकेत किया है। भामह तथा उद्भट के द्वारा प्रस्तुत इस अलंकार का स्वरूप यों है— 'प्रतिषेध इवेष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया। आक्षेप इति तं सन्तः शंसन्ति कवयः सदा (का० सा० स० : २ : २)। अर्थात् कवियों की एक ऐसी भी वैचित्र्यपूर्ण उक्ति है जिसमें इष्टार्थ एक ऐसे निषेध के व्याज से कथित किया जाता है कि निषेध अंत में विधि-रूप में परिणत हो जाता है। दण्डी ने 'काव्यादर्श' में निषेध को

वास्तविक माना है और निषेध का विधेयात्मक पर्यवसान अस्वीकार कर दिया है। उनके अनुसार—

"प्रतिषेधोक्तिराक्षेपस्त्रै काल्यापेक्षया त्रिधा ।
अथास्य पुनराक्षेप्यभेदानन्त्यादनन्तता ॥" (१२०)

अर्थात् निषेध का कथन मात्र ही आक्षेप है, यह तीन कालों के अनुसार तीन प्रकार का है अर्थात् वर्त्तमान आक्षेप, भूत आक्षेप, भविष्य आक्षेप। इसके बाद पुनः (तीन प्रकार के) आक्षेप के भेदों की अनन्ता के अनुरूप ही इसके भेद भी अनन्त हैं।

दण्डी के इस कथन में अतिव्याप्ति दोष है। कथन का निषेध होता है— किन्तु निषेध वास्तविक नहीं होता। अगर निषेध वास्तविक हो जाय तो इसके चमत्कार का ही लोप हो जायगा। निषेध की वास्तविकता तो श्रोता से शत्रुता की स्थिति में क्रोध के कारण हो सकती है, कथन को प्रभावशाली बनाने के लिए नहीं।

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने निषेधाभास को इस अलंकार में स्वीकृत किया है। उनके अनुसार— "वस्तुनो वस्तुमिष्टस्य विशेषप्रतिपत्तये निषेधाभास आक्षेपः।" अर्थात् यदि किसी विवक्षित वस्तु में विशेषता लाने के लिए उसका निषेध-सा किया जाय (पर वस्तुतः निषेध न हो) तो आक्षेप अलंकार होता है। वृत्ति में मम्मट ने निषेध न कहकर निषेधाभास ही कहा है।

आक्षेप अलंकार में इस तरह निषेधाभास ही होता है। यह निषेधाभास दो तरह का माना गया है—

१. किसी कही गयी बात का निषेधाभास।

२. किसी कही जाने वाली बात का पहले ही निषेधाभास।

जहाँ पहले प्रकार का निषेधाभास हो, यानी, कहे गये वक्तव्य का बाद में निषेधाभास— तो वहाँ उक्तवस्तुगत आक्षेप होता है। जहाँ दूसरे प्रकार का निषेधाभास हो, यानी, कहे जाने वाले वक्तव्य के पूर्व ही, वहाँ वक्ष्यमाणवस्तुगत आक्षेप होता है।

उक्तवस्तुगत

भये बटाऊ नेह तजि, बादि बकत बेकाज।
अब अलि ! देत उराहनो, उर उपजति अति लाज ॥

नायक की ओर संकेत करते हुए, नायिका अपनी सखी से कह रही है— ये तो प्रेम त्यागकर बटोही हुए जा रहे हैं, मैं तो बेकार की, बेकाज बात बक रही हूँ। हे सखी, उलाहना देने में भी मेरे उर में लाज, अति लाज होने लगती है।

यहाँ नायक को उलाहना देना नायिका का इष्टार्थ है किन्तु वाद में वह अपने कथन के निषेध की झलक दिखाकर अपने उलाहने को और भी समर्थ वना देती है। इसी तरह निषेधाभासपूर्ण उक्ति के द्वारा उलाहना और भी विधेयात्मक हो उठता है।

इसी तरह के अन्य उदाहरण भी हैं, जैसे—

कैसे काटेगी निसा विरह व्यथा में वाल।
कठिन हृदय हौ आपसों कहनो वृथा हवाल ॥

दूसरी पंक्ति में पहली पंक्ति के कथन का निषेधाभास है, जिससे नायिका के कष्ट की अधिकता सूचित होती है।

चन्दन चन्द्रक चन्द्रिका चंद-कांत-मनि हार,
हौं न कहौं सब होय ये ताको दाहन-हार।

इसमें भी पूर्व-कथन का उत्तर-कथन से निषेधाभास है।

वक्ष्यमाणवस्तुगत आक्षेप

इसमें कही जाने वाली वात का निषेधाभास होता है। मतलव, वात बीच में ही वाधित होकर रुक जाती है, चूँकि श्रोता कठिनहृदय है, निर्दय है। श्रोता को कठिनहृदय, निर्दय आदि कहकर कही जाने वाली वात की वेधकता व्यंजना के सहारे ही हम जान पाते हैं। जैसे—

वात कहूँगी विरहिनी की मैं सुन लो यार।
तुम से निर्दय हृदय को कहना भी वेकार ॥

पहली पंक्ति में विरह-व्यथा से पीड़ित नायिका की तप्त करुण गाथा कही जायगी— यह कथन है। लेकिन विरह-व्यथा विस्तार से नहीं कही जाती चूँकि श्रोता या नायक निर्दय है। इस तरह नायिका की दारुण विरह-कातरता अपनी गंभीरता में व्यंजित होती है केवल निषेधाभास के कारण।

रे खल ! तेरे चरित ये, कहिहौं सर्वाहिं सुनाय।
अथवा कहिवों हतकथा, उचित न मोहिं जनाय ॥

यहाँ भी खल का चरित्र कहा जाने वाला है, अभी कहा गया नहीं है; किन्तु इससे पहले ही निषेधाभास है, जिससे वक्ता का यह अभीष्ट कथन स्पष्ट होता है कि दुष्टों का चरित्र-वर्णन भी पाप ही है।

दूसरा आक्षेप

आक्षेप अलंकार का एक दूसरा रूप भी माना गया है। वह यह कि जहाँ **अभीष्ट कथन की विधि में निषेध का संकेत हो, वहाँ भी आक्षेप अलंकार होता है।**

आक्षेप के इस दूसरे रूप में विधि का आभास होता है, **विधि होती नहीं, विधेयात्मक रूप में निषेध ही प्रबल होता है।** जैसे—

जाहु जाहु परदेश पिय ! मोहि न कछु दुख भीर।
लहहुँ ईस ते विनय करि, मैं हूँ तहाँ शरीर।।

नायक विदेश जा रहा है। विदेश जाते हुए नायक से नायिका की अंतिम बातें हो रही हैं। विदेश-गमन को प्रस्तुत नायक की नायिका प्रवत्स्यत्पतिका कहलाती है। वह कह रही है कि हे प्रिय, तुम परदेश जाग्रो, मुझे कोई दुःख-व्यथा नहीं उठानी पड़ेगी, लेकिन मैं ईश्वर से इतनी ही प्रार्थना कर रही हूँ कि मेरा मन जहाँ है, वहीं मेरा शरीर भी पहुँच जाय। प्रकारान्तर से नायिका अपने निश्चित मरण की सूचना देती है, या, विरह की अंतिम अवस्था का दृश्य-चित्र उपस्थित कर देती है। इस तरह वह कह तो रही है कि उसके प्रियतम विदेश चले जायँ किन्तु वस्तुतः वह उसे विमुख कर रही है। इस तरह विधि में निषेध है।

तात जाउँ बलि कीन्हहु नीका।
पितु आयसु सब धर्मक टीका।।
राजु देन कहि दीन्ह बनु मोहि न सो दुख लेसु।
तुम्ह बिनु भरतहिं भूपतहिं, प्रजहि प्रचंड कलेसु।।

—तुलसी

कौशल्या अपने पुत्र राम से कह रही हैं— हे पुत्र ! वन-गमन को तुम तैयार हो गये, यह बहुत अच्छा कार्य तुमने किया। पिता की आज्ञा का पालन तुम कर रहे हो, अपना सब धर्म तुम निभा रहे हो। अगर कोई मुझे राजत्याग करने के लिए कहे और मुझे दीन बन जाना पड़े तो जरा भी चिन्ता नहीं होगी। लेकिन तुम्हारे बिना भरत जब भूपति होंगे तो प्रजा को बड़ा क्लेश होगा।

इस तरह वन-गमन की विधि में ही निषेध का प्रस्ताव भी है।

पं० रामदहिन मिश्र ने आक्षेप के चार रूप माने हैं— निषेधात्मक आक्षेप, निषेधाभासात्मक आक्षेप, विधि-निषेधात्मक आक्षेप और निषेध-विध्यात्मक आक्षेप।

अप्रस्तुत-प्रशंसा

यह सादृश्यगर्भ के गम्यौपम्याश्रय वर्ग का अर्थालंकार है।

विशद रूप में वर्णित अप्रस्तुत से यदि व्यंजना के द्वारा प्रस्तुत की प्रतीति हो तो अप्रस्तुत-प्रशंसा अलंकार होता है।

प्रस्तुत, प्रकृत, प्राकरणिक, प्रासंगिक इत्यादि शब्द प्रायः समानार्थी हैं। इनका अर्थ होता है—कवि का वर्णनीय विषय, कवि की वर्ण्य वस्तु। प्रशंसा शब्द के दो अर्थ सम्भव हैं—१. प्रशंसा = व्यंजना, २. प्रशंसा = विशद वर्णन। पहले अर्थ की सहायता से अप्रस्तुत-प्रशंसा का मतलब हुआ—अप्रस्तुत के द्वारा प्रस्तुत की प्रशंसा (व्यंजना) का नाम अप्रस्तुत प्रशंसा है। दूसरे अर्थ की सहायता से हम मतलब लगा सकते हैं—प्रस्तुत को व्यंजित करने योग्य अप्रस्तुत की विशद वर्णना। विश्वनाथ के 'साहित्यदर्पण' की व्याख्या करते हुए तर्कवागीश ने निम्नोक्त कथन अप्रस्तुत-प्रशंसा के सम्बन्ध में किया है—"अप्रस्तुतेन प्रस्तुतस्य प्रशंसाव्यंजनम् यद्वा प्रस्तुतव्यंजकम् अप्रस्तुतकथनम् अप्रस्तुतप्रशंसा।" अर्थात् अप्रस्तुत के द्वारा जहाँ प्रस्तुत व्यंजित होता है या जहाँ अप्रस्तुत की प्रशंसा से प्रस्तुत की व्यंजना होती है, वहाँ अप्रस्तुत-प्रशंसा अलंकार होता है। अप्रस्तुत-प्रशंसा की मूल शक्ति इस बात में निहित है कि अप्रस्तुत का ऐसा विशद वर्णन हो कि वह प्रस्तुत की व्यंजकता से युक्त हो। इस तरह यह बात स्वयं-सिद्ध है कि अप्रस्तुत-प्रशंसा का प्रस्तुत पक्ष व्यंग्यार्थ है। इसका व्यंग्यार्थ ध्वनि-काव्य का विषय नहीं हो सकता, चूँकि यह वाच्यार्थ से अधिक चमत्कारी नहीं होता।

दण्डी ने 'काव्यादर्श' में अप्रस्तुत प्रशंसा का लक्षण दिया है—

"अप्रस्तुतप्रशंसा स्यादप्रक्रान्तेषु या स्तुतिः ॥"

(काव्यादर्श : ३४० : २)

अर्थात् प्रस्तुत की निन्दा के लिए जो अप्रस्तुतों की स्तुति प्रस्तुत की जाती है वह अप्रस्तुत-प्रशंसा होती है। दण्डी के इस लक्षण की लघु सीमा को हम उपर्युक्त विवेचन के आलोक में देख सकते हैं।

'काव्यप्रकाश' के रचयिता आचार्य मम्मट ने कहा है—

अप्रस्तुतप्रशंसा या सा सैव प्रस्तुताश्रया ॥

अर्थात् प्रस्तुत अर्थ की प्रतीति कराने वाली जो प्रस्तुताश्रया अप्रस्तुत अर्थ की प्रशंसा या वर्णना है, वही अप्रस्तुत-प्रशंसा अलंकार है।

अप्राकरणिकस्याभिधानेन प्राकरणिकस्याक्षेपोऽप्रस्तुतप्रशंसा।

अर्थात् अप्राकरणिक अर्थ के कथन से जो प्राकरणिक अर्थ का आक्षेप है वही अप्रस्तुत-प्रशंसा नामक अलंकार कहलाता है।

आचार्य विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' में अप्रस्तुत-प्रशंसा का लक्षण यों दिया है—

अप्रस्तुतात्प्रस्तुतं चेद्गम्यते पञ्चधा ततः।

अर्थात् अप्रस्तुत से प्रस्तुत की व्यंजना में अप्रस्तुत-प्रशंसा अलंकार पाँच प्रकार का होता है।

इतना स्पष्ट है कि अप्रस्तुत अथवा अप्रकृत की प्रस्तुताश्रयी वर्णना ही अप्रस्तुत-प्रशंसा है। लेकिन प्रारंभिक आचार्यों ने इस बात की खोज की थी या नहीं? भामह तथा उद्भट ने कारण नहीं बताया कि अप्रस्तुत क्यों प्रस्तुत को व्यंजित करता है? कारण क्या है? उद्भट के व्याख्याकार प्रतीहारेन्दु ने यह संकेत दिया था कि अप्रस्तुत से प्रस्तुत का बोध सम्बन्ध के द्वारा होता है। अप्रस्तुत और प्रस्तुत में कैसे सम्बन्ध रहते हैं? 'रुय्यक' ने 'अलंकारसर्वस्व' में अप्रस्तुत और प्रस्तुत के त्रिविध सम्बन्ध को स्वीकृत किया—

१. सामान्य-विशेष-रूप सम्बन्ध—

(क) सामान्य अप्रस्तुत से विशेष प्रस्तुत की प्रतीति,
(ख) विशेष अप्रस्तुत से सामान्य प्रस्तुत की प्रतीति।

२. कार्य-कारण-भाव रूप सम्बन्ध—

(क) कार्य-रूप अप्रस्तुत से कारण-रूप प्रस्तुत की प्रतीति,
(ख) कारण-रूप अप्रस्तुत से कार्य-रूप प्रस्तुत की प्रतीति।

३. सारूप्य सम्बन्ध—

(क) साधर्म्यपूर्वक तुल्य-रूप अप्रस्तुत से तुल्य-रूप प्रस्तुत की प्रतीति,
(क) वैधर्म्यपूर्वक तुल्य-रूप अप्रस्तुत से तुल्य-रूप प्रस्तुत की प्रतीति।

इस तरह अप्रस्तुत-प्रशंसा के पाँच प्रकार स्थिर होते हैं—

१. सामान्य-निबंधना अप्रस्तुत-प्रशंसा,
२. विशेष-निबंधना,
३. कार्य-निबंधना,
४. कारण-निबंधना,
५. सारूप्य-निबंधना।

अप्रस्तुत-प्रशंसा

यह सादृश्यगर्भ के गम्यौपम्याश्रय वर्ग का अर्थालंकार है।

विशद रूप में वर्णित अप्रस्तुत से यदि व्यंजना के द्वारा प्रस्तुत की प्रतीति हो तो अप्रस्तुत-प्रशंसा अलंकार होता है।

प्रस्तुत, प्रकृत, प्राकरणिक, प्रासंगिक इत्यादि शब्द प्रायः समानार्थी हैं। इनका अर्थ होता है—कवि का वर्णनीय विषय, कवि की वर्ण्य वस्तु। प्रशंसा शब्द के दो अर्थ सम्भव हैं—१. प्रशंसा = व्यंजना, २. प्रशंसा = विशद वर्णन। पहले अर्थ की सहायता से अप्रस्तुत-प्रशंसा का मतलब हुआ—अप्रस्तुत के द्वारा प्रस्तुत की प्रशंसा (व्यंजना) का नाम अप्रस्तुत प्रशंसा है। दूसरे अर्थ की सहायता से हम मतलब लगा सकते हैं—प्रस्तुत को व्यंजित करने योग्य अप्रस्तुत की विशद वर्णना। विश्वनाथ के 'साहित्यदर्पण' की व्याख्या करते हुए तर्कवागीश ने निम्नोक्त कथन अप्रस्तुत-प्रशंसा के सम्बन्ध में किया है—"अप्रस्तुतेन प्रस्तुतस्य प्रशंसाव्यंजनम् यद्वा प्रस्तुतव्यंजकम् अप्रस्तुतकथनम् अप्रस्तुतप्रशंसा।" अर्थात् अप्रस्तुत के द्वारा जहाँ प्रस्तुत व्यंजित होता है या जहाँ अप्रस्तुत की प्रशंसा से प्रस्तुत की व्यंजना होती है, वहाँ अप्रस्तुत-प्रशंसा अलंकार होता है। अप्रस्तुत-प्रशंसा की मूल शक्ति इस बात में निहित है कि अप्रस्तुत का ऐसा विशद वर्णन हो कि वह प्रस्तुत की व्यंजकता से युक्त हो। इस तरह यह बात स्वयं-सिद्ध है कि अप्रस्तुत-प्रशंसा का प्रस्तुत पक्ष व्यंग्यार्थ है। इसका व्यंग्यार्थ ध्वनि-काव्य का विषय नहीं हो सकता, चूँकि यह वाच्यार्थ से अधिक चमत्कारी नहीं होता।

दण्डी ने 'काव्यादर्श' में अप्रस्तुत प्रशंसा का लक्षण दिया है—

"अप्रस्तुतप्रशंसा स्यादप्रक्रान्तेषु या स्तुतिः॥"

(काव्यादर्श : ३४० : २)

अर्थात् प्रस्तुत की निन्दा के लिए जो अप्रस्तुतों की स्तुति प्रस्तुत की जाती है वह अप्रस्तुत-प्रशंसा होती है। दण्डी के इस लक्षण की लघु सीमा को हम उपर्युक्त विवेचन के आलोक में देख सकते हैं।

'काव्यप्रकाश' के रचयिता आचार्य मम्मट ने कहा है—

अप्रस्तुतप्रशंसा या सा सैव प्रस्तुताश्रया॥

अर्थात् प्रस्तुत अर्थ की प्रतीति कराने वाली जो प्रस्तुताश्रया अप्रस्तुत अर्थ की प्रशंसा या वर्णना है, वही अप्रस्तुत-प्रशंसा अलंकार है।

अप्राकरणिकस्याभिधानेन प्राकरणिकस्याक्षेपोऽप्रस्तुतप्रशंसा।

अर्थात् अप्राकरणिक अर्थ के कथन से जो प्राकरणिक अर्थ का आक्षेप है वही अप्रस्तुत-प्रशंसा नामक अलंकार कहलाता है।

आचार्य विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' में अप्रस्तुत-प्रशंसा का लक्षण यों दिया है—

अप्रस्तुतात्प्रस्तुतं चेद्गम्यते पञ्चधा ततः।

अर्थात् अप्रस्तुत से प्रस्तुत की व्यंजना में अप्रस्तुत-प्रशंसा अलंकार पाँच प्रकार का होता है।

इतना स्पष्ट है कि अप्रस्तुत अथवा अप्रकृत की प्रस्तुताश्रयी वर्णना ही अप्रस्तुत-प्रशंसा है। लेकिन प्रारंभिक आचार्यों ने इस बात की खोज की थी या नहीं? भामह तथा उद्भट ने कारण नहीं बताया कि अप्रस्तुत क्यों प्रस्तुत को व्यंजित करता है? कारण क्या है? उद्भट के व्याख्याकार प्रतीहारेन्दु ने यह संकेत दिया था कि अप्रस्तुत से प्रस्तुत का बोध सम्बन्ध के द्वारा होता है। अप्रस्तुत और प्रस्तुत में कैसे सम्बन्ध रहते हैं? 'रुय्यक' ने 'अलंकारसर्वस्व' में अप्रस्तुत और प्रस्तुत के त्रिविध सम्बन्ध को स्वीकृत किया—

१. सामान्य-विशेष-रूप सम्बन्ध—
   (क) सामान्य अप्रस्तुत से विशेष प्रस्तुत की प्रतीति,
   (ख) विशेष अप्रस्तुत से सामान्य प्रस्तुत की प्रतीति।

२. कार्य-कारण-भाव रूप सम्बन्ध—
   (क) कार्य-रूप अप्रस्तुत से कारण-रूप प्रस्तुत की प्रतीति,
   (ख) कारण-रूप अप्रस्तुत से कार्य-रूप प्रस्तुत की प्रतीति।

३. सारूप्य सम्बन्ध—
   (क) साधर्म्यपूर्वक तुल्य-रूप अप्रस्तुत से तुल्य-रूप प्रस्तुत की प्रतीति,
   (क) वैधर्म्यपूर्वक तुल्य-रूप अप्रस्तुत से तुल्य-रूप प्रस्तुत की प्रतीति।

इस तरह अप्रस्तुत-प्रशंसा के पाँच प्रकार स्थिर होते हैं—

१. सामान्य-निबंधना अप्रस्तुत-प्रशंसा,
२. विशेष-निबंधना,
३. कार्य-निबंधना,
४. कारण-निबंधना,
५. सारूप्य-निबंधना।

विरह-व्यंजना में इस तरह की ऊहात्मक उक्तियों की सहायता ली गयी है। जैसे—

राधिका के अँसुवान को सागर बाढ़त जात मनो नभ छ्वै है।
बात कहा कहिये ब्रज की अब बूड़ोइ ह्वै है कि बूड़त ह्वै है॥

—(श्रीकृष्ण के वियोग में) राधिका के आँसुओं से समुद्र का पारावार लहरा रहा होगा। ब्रज की तो बात ही मत पूछिए, वह चाहे तो अब डूब ही गया होगा या लहरों पर बहता हुआ नजर आ रहा होगा। यहाँ कार्य का ही कथन हुआ है—कारण का नहीं। कारण है राधिका का श्रीकृष्ण से वियोग। कार्य के कथन से कारण की व्यंजक प्रतीति हो रही है।

गोपिन के अँसुअन भरी, सदा असोस अपार।
डगर-डगर नै ह्वै रही, बगर-बगर के बार॥

—गोपियों के आँसुओं से नदी बह गयी है, डगर अब डगर नहीं रही। यहाँ भी विरह के आधिक्य को कारण-रूप में व्यंजित किया गया है—चूँकि आँसू की नदी का कारण प्रेमी से विरह ही माना जाता रहा है।

कारण-निबंधना अप्रस्तुत प्रशंसा

जहाँ अप्रस्तुत कारण के विशद वर्णन से प्रस्तुत कार्य की प्रतीति हो, वहाँ कारण-निबंधना अप्रस्तुत-प्रशंसा अलंकार होता है।

कंचन को रंग लै, सवाद लै सुधा को
वसुधा को सुख लूटि कै बनायो मुख तेरो है।

यहाँ राधिका के मुख का अतिरेकपूर्ण सौन्दर्य-वर्णन कवि का वर्णनीय विषय (प्रस्तुत) है; कवि ने इसे नहीं कहकर कंचन का रंग, सुधा का स्वाद और सारी वसुधा के सुख— इन सबों के संयोग से विधाता द्वारा राधा के मुख का निर्माण वर्णित किया है। इन अप्रस्तुत कारणों के विशद वर्णन से प्रस्तुत कार्य (मुख का अत्यधिक सुन्दर होना) व्यंजित होता है, अतः अप्रस्तुत-प्रशंसा अलंकार है।

सारूप्य-निबंधना अप्रस्तुत-प्रशंसा

जहाँ अप्रस्तुत के विशद वर्णन से सदृश या समान रूप, गुणधर्म वाले प्रस्तुत की प्रतीति हो, वहाँ सारूप्य-निबंधना अप्रस्तुत-प्रशंसा होती है।

नहिं पराग, नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहिकाल।
अली! कली ही सों बँध्यो, आगे कौन हवाल॥

बिहारी ने अप्रस्तुत भ्रमर के वर्णन से प्रस्तुत राजा जयसिंह की प्रतीति करा दी है और अप्रस्तुत कली के उल्लेख से प्रस्तुत नयी रानी का बोध करा दिया है।

तुलसी पावस के समय धरी कोकिलन मौन।
अब तो दादुर बोलिहैं, हमैं पूछिहै कौन॥

—(यहाँ विपदाओं से ग्रस्त व्यक्ति कह रहा है कि) पावस ऋतु में कोकिला मौन पड़ जाती है और दादुर बोलने लगते हैं। विलास और ऐश्वर्य के दिनों में गाने वाले तथा आनन्द में योग देने वाले तो बहुत थे, पर विपदाओं के इन घनीभूत दिनों में कोई साथ नहीं देते, बल्कि दादुर की तरह दुरदुराते हैं या घोर एकान्ता में दादुर का शोर ही रह जाता है। कवि का वर्णनीय विषय यही है। किन्तु इस प्रस्तुत को कवि पावस, कोकिला और दादुर के अप्रस्तुत कथन के द्वारा व्यंजित करता है। इसलिए सारूप्य-निबंधना अप्रस्तुत-प्रशंसा है। कोकिल से चाटुकारों का सादृश्य या सारूप्य है और दादुर से बेमतलब लोगों या दुर्वचन बोलने वालों का सारूप्य है। अप्रस्तुत से प्रस्तुत की व्यंजना सादृश्य के कारण होती है।

सारूप्य-निबंधना और अन्योक्ति

औपम्य-विधान की दूसरी धारा वस्तु, गुण अथवा क्रिया के पृथक्-पृथक् साम्य पर आश्रित नहीं है। बल्कि व्यापार-समष्टि या पूर्ण प्रसंग के साम्य की अपेक्षा रखकर चली है, जिसका पूर्ण उत्कर्ष सारूप्य-निबंधना अप्रस्तुत प्रशंसा में देखा जा सकता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने माना था कि व्यापार-समष्टि के समन्वय में कवि की सहृदयता का पूर्णता से दर्शन होता है।

सारूप्य-निबंधना में इस प्रकार की व्यापार-समष्टि का समन्वय सहज ही देखा जा सकता है। इसमें चमत्कार व्यंजना-प्रधान होता है, रूपकातिशयोक्ति की तरह लक्षणा-प्रधान नहीं।

सादृश्य-भित्ति पर उत्कीर्ण अप्रस्तुत से प्रस्तुत की व्यंजकता ही अन्योक्ति है। सारूप्य-निबंधना को आलंकारिकों ने अन्योक्ति के रूप में माना है।

आचार्य मम्मट ने सारूप्य-निबंधना का विस्तार से विवेचन करते हुए इसके मूल में तीन हेतु माने हैं— १. श्लेष, २. समासोक्ति, ३. सादृश्य।

१. श्लेषमूला अन्योक्ति या श्लेषाश्रित अन्योक्ति (श्लेष-हेतुक);
२. समासोक्तिमूला अन्योक्ति (समासोक्ति-हेतुक);
३. सादृश्यमूला अन्योक्ति (सादृश्य-हेतुक)।

मम्मट ने इन तीन हेत्वाश्रित सारूप्य-निबंधना या अन्योक्तियों के फिर प्रकारान्तर से तीन भेद किये हैं—

१. वाच्य में प्रतीयमान अर्थ का अनध्यारोप,

सामान्य-निबंधना अप्रस्तुत-प्रशंसा

अप्रस्तुत सामान्य के विशद वर्णन से जहाँ प्रस्तुत विशेष की प्रतीति हो, वहाँ सामान्य-निबंधना अप्रस्तुत-प्रशंसा अलंकार होता है।

वड़े प्रवल सों वैर करि, करत न सोच विचार।
ते सोवत बारूद पर, कटि में वाँधि अँगार॥

प्रवल व्यक्ति से वैर करना अपनी जान देना है—इस विशेष कथन को उपर्युक्त सामान्य कथन व्यंजित करता है।

अपमान को कर सहन रहते मौन जो
उन नरों से धूलि भी अच्छी कहीं,
चरण का आघात सहती है न जो,
शीश पर चढ़ वैठती है तुरत ही।

यहाँ भी सामान्य कथन के द्वारा विशेष की व्यंजना हो रही है। वह यह कि ठोकर खाकर झट सिर पर चढ़ने वाली धूल, अपमान-सहिष्णु तुम्हारे जैसे व्यक्ति से कहीं अच्छी है। वलदेव श्रीकृष्ण से यह कह रहे हैं।

री आवेगा फिर भी वसन्त, जैसे मेरे प्रिय प्रेमवंत।
दु:खों का भी है एक अन्त, हो रहिये दुर्दिन देख मूक॥

यहाँ अप्रस्तुत सामान्य का कथन है कि—दुर्दिन के वाद सुदिन आता है, पतझड़ के बाद वसन्त आता है, दु:खों का भी अन्त होता है—किन्तु इस अप्रस्तुत सामान्य से प्रस्तुत विशेष व्यंजित हो रहा है कि—तुम दु:ख से घवराओ नहीं, सुख के दिन तुम्हारे लिए भी आने वाले हैं अर्थात् मनुष्यों का जीवन या तुम्हारा जीवन सदैव एक-सा नहीं रहेगा।

विशेष-निबंधना अप्रस्तुत-प्रशंसा

अप्रस्तुत विशेष के कथन से जब प्रस्तुत सामान्य की प्रतीति हो, तो विशेष-निबंधना अप्रस्तुत-प्रशंसा अलंकार होता है।

फरजी शाह न ह्वै सकै, गति टेढ़ी तासीर।
रहिमन सीधी चाल तें, प्यादा होत वजीर॥

टेढ़ी चाल चलने से फरजी वादशाह नहीं हो सकता और सीधी चाल चलने से प्यादा भी वजीर हो जाता है। यह विशेष कथन है जो अप्राकरणिक या अप्रस्तुत है। इससे प्रस्तुत अर्थ जो निकलता है वह सामान्य है कि—सीधी चाल चलने

से कोई भी आदमी, नीच से नीच भी, उन्नति कर सकता है और ऊँचे से ऊँचे लोग भी टेढ़ी चाल से या कुटिल व्यवहार के कारण उन्नति नहीं कर सकते।

क्षमा शोभती उस भुजंग को,
जिसके पास गरल हो।
उसको क्या जो दन्तहीन,
विष रहित, विनीत, सरल हो।

—दिनकर (कुरुक्षेत्र)

अप्रस्तुत विशेष यहाँ साँप के बारे में है किन्तु इससे प्रस्तुत सामान्य अर्थ यह निकल रहा है कि शक्ति-सम्पन्न व्यक्ति यदि किसी को क्षमा कर देता है, तो वह शोभा पाता है, शक्तिहीन यदि किसी को क्षमा करे तो क्षमा उसे क्या शोभा देगी ?

धन्य सेस सिर जगत हित, धारत भुव को भार।
बुरो बाघ अपराध बिन, मृग को डारत मारि॥

शेषनाग संसार के हित के लिए सिर पर जगत् को धारण कर भार सहता है और बाघ निरपराध मृग को मार डालता है। यह तो अप्रस्तुत विशेष कथन है जिससे प्रस्तुत सामान्य यह व्यंजित होता है कि संसार के लिए कष्ट सहने वाला धन्य है, निरपराध की हत्या करने वाला नहीं।

कार्यनिबंधना अप्रस्तुत-प्रशंसा

अप्रस्तुत कार्य के विशद वर्णन से जहाँ प्रस्तुत कारण की प्रतीति हो वहाँ कार्यनिबंधना अप्रस्तुत-प्रशंसा अलंकार होता है।

मैं लै दयो, लयो सु कर, छुवत छिनकिगो नीर।
लाल ! तिहारो अरगजा, उर ह्वै लग्यो अबीर॥

नायक के आगे नायिका की सखी कह रही है—"हे लाल ! तुम्हारे प्रेम में जलती हुई नायिका के शरीर पर सुगंधित द्रव्यों से बने अरगजा का लेप जब मैंने लगाया, तो उस लेप का पानी तो तुरत सूख गया और लेप उसके शरीर में अबीर की तरह लग गया।"

यहाँ नायिका की सखी नायक से प्रेम के ताप में जलती हुई नायिका का कथन करना चाहती है। लेकिन वह अप्रस्तुत कार्य का ही विशद वर्णन करती है। वह शरीर पर लेप के सूखने और चटख कर अबीर हो जाने के कार्य का वर्णन करती है। इस कार्य से कारण का भी संकेत मिल जाता है। कारण है—नायक के प्रति नायिका का अतिशय अनुराग, विरह-ताप। इस तरह ताप की अधिकता कारण है और अरगजा का सूखकर अबीर हो जाना कार्य है। यहाँ मात्र कार्य का कथन हुआ है किन्तु इसी कार्य के वर्णन से कारण की भी प्रतीति हो जाती है।

विरह-व्यंजना में इस तरह की ऊहात्मक उक्तियों की सहायता ली गयी है। जैसे—

राधिका के अँसुवान को सागर वाढ़त जात मनो नभ छ्वै है।
वात कहा कहिये व्रज की अव वूड़ोइ ह्वै है कि वूड़त ह्वै है।।

—(श्रीकृष्ण के वियोग में) राधिका के आँसुओं से समुद्र का पारावार लहरा रहा होगा। व्रज की तो वात ही मत पूछिए, वह चाहे तो अव डूव ही गया होगा या लहरों पर वहता हुआ नजर आ रहा होगा। यहाँ कार्य का ही कथन हुआ है—कारण का नहीं। कारण है राधिका का श्रीकृष्ण से वियोग। कार्य के क़थन से कारण की व्यंजक प्रतीति हो रही है।

गोपिन के अँसुअन भरी, सदा असोस अपार।
डगर-डगर नै ह्वै रही, वगर-वगर के वार।।

—गोपियों के आँसुओं से नदी वह गयी है, डगर अव डगर नहीं रही। यहाँ भी विरह के आधिक्य को कारण-रूप में व्यंजित किया गया है—चूँकि आँसू की नदी का कारण प्रेमी से विरह ही माना जाता रहा है।

कारण-निवंधना अप्रस्तुत प्रशंसा

जहाँ अप्रस्तुत कारण के विशद वर्णन से प्रस्तुत कार्य की प्रतीति हो, वहाँ कारण-निवंधना अप्रस्तुत-प्रशंसा अलंकार होता है।

कंचन को रंग लै, सवाद लै सुधा को
वसुधा को सुख लूटि कै वनायो मुख तेरो है।

यहाँ राधिका के मुख का अतिरेकपूर्ण सौन्दर्य-वर्णन कवि का वर्णनीय विषय (प्रस्तुत) है; कवि ने इसे नहीं कहकर कंचन का रंग, सुधा का स्वाद और सारी वसुधा के सुख— इन सवों के संयोग से विधाता द्वारा राधा के मुख का निर्माण वर्णित किया है। इन अप्रस्तुत कारणों के विशद वर्णन से प्रस्तुत कार्य (मुख का अत्यधिक सुन्दर होना) व्यंजित होता है, अतः अप्रस्तुत-प्रशंसा अलंकार है।

सारूप्य-निवंधना अप्रस्तुत-प्रशंसा

जहाँ अप्रस्तुत के विशद वर्णन से सदृश या समान रूप, गुणधर्म वाले प्रस्तुत की प्रतीति हो, वहाँ सारूप्य-निवंधना अप्रस्तुत-प्रशंसा होती है।

नहिं पराग, नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहिकाल।
अली! कली ही सौं वँध्यौ, आगे कौन हवाल।।

बिहारी ने अप्रस्तुत भ्रमर के वर्णन से प्रस्तुत राजा जयसिंह की प्रतीति करा दी है और अप्रस्तुत कली के उल्लेख से प्रस्तुत नयी रानी का बोध करा दिया है।

तुलसी पावस के समय धरी कोकिलन मौन।
अब तो दादुर बोलिहैं, हमैं पूछिहै कौन॥

—(यहाँ विपदाओं से ग्रस्त व्यक्ति कह रहा है कि) पावस ऋतु में कोकिला मौन पड़ जाती है और दादुर बोलने लगते हैं। विलास और ऐश्वर्य के दिनों में गाने वाले तथा आनन्द में योग देने वाले तो बहुत थे, पर विपदाओं के इन घनीभूत दिनों में कोई साथ नहीं देते, बल्कि दादुर की तरह दुरदुराते हैं या घोर एकान्ता में दादुर का शोर ही रह जाता है। कवि का वर्णनीय विषय यही है। किन्तु इस प्रस्तुत को कवि पावस, कोकिला और दादुर के अप्रस्तुत कथन के द्वारा व्यंजित करता है। इसलिए सारूप्य-निवंधना अप्रस्तुत-प्रशंसा है। कोकिल से चाटुकारों का सादृश्य या सारूप्य है और दादुर से वेमतलब लोगों या दुर्वचन बोलने वालों का सारूप्य है। अप्रस्तुत से प्रस्तुत की व्यंजना सादृश्य के कारण होती है।

सारूप्य-निवंधना और अन्योक्ति

औपम्य-विधान की दूसरी धारा वस्तु, गुण अथवा क्रिया के पृथक्-पृथक् साम्य पर आश्रित नहीं है। बल्कि व्यापार-समष्टि या पूर्ण प्रसंग के साम्य की अपेक्षा रखकर चली है, जिसका पूर्ण उत्कर्ष सारूप्य-निवंधना अप्रस्तुत प्रशंसा में देखा जा सकता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने माना था कि व्यापार-समष्टि के समन्वय में कवि की सहृदयता का पूर्णता से दर्शन होता है।

सारूप्य-निवंधना में इस प्रकार की व्यापार-समष्टि का समन्वय सहज ही देखा जा सकता है। इसमें चमत्कार व्यंजना-प्रधान होता है, रूपकातिशयोक्ति की तरह लक्षणा-प्रधान नहीं।

सादृश्य-भित्ति पर उत्कीर्ण अप्रस्तुत से प्रस्तुत की व्यंजकता ही अन्योक्ति है। सारूप्य-निवंधना को आलंकारिकों ने अन्योक्ति के रूप में माना है।

आचार्य मम्मट ने सारूप्य-निवंधना का विस्तार से विवेचन करते हुए इसके मूल में तीन हेतु माने हैं— १. श्लेष, २. समासोक्ति, ३. सादृश्य।

१. श्लेषमूला अन्योक्ति या श्लेषाश्रित अन्योक्ति (श्लेष-हेतुक);
२. समासोक्तिमूला अन्योक्ति (समासोक्ति-हेतुक);
३. सादृश्यमूला अन्योक्ति (सादृश्य-हेतुक)।

मम्मट ने इन तीन हेत्वाश्रित सारूप्य-निवंधना या अन्योक्तियों के फिर प्रकारान्तर से तीन भेद किये हैं—

१. वाच्य में प्रतीयमान अर्थ का अनध्यारोप,

हो तो पर्याय अर्थात् भंग्यन्तर द्वारा कथन किये जाने से इस अलंकार का नाम पर्यायोक्ति पड़ा।" (काव्यप्रकाश : १० : १७५)

आचार्य मम्मट ने व्यंजना-व्यापार के द्वारा वाच्यार्थ की सिद्धि में पर्यायोक्ति मानी है। इस तरह व्यंजना से वाच्यार्थ का कथन पर्यायोक्ति के लिए अनिवार्य हो उठता है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि व्यंजना के द्वारा इसमें जो वाच्यार्थ का कथन होता है, वह ध्वनि से सिद्ध नहीं होता, वरन् उक्ति-वैचित्र्य के चमत्कार के रूप में ही सिद्ध होता है। इसका भंग्यन्तर कथन गुणीभूत व्यंग्य ही माना जा सकता है।

चूँकि इसका भंग्यन्तर व्यंजना-व्यापार का फल है, इसलिए विश्वनाथ ने रुय्यक के आधार पर इसको 'भंग्यागम्यम् कहा है—

"पर्यायोक्तं यदा भंग्यागम्यमेवाभिधीयते।"

अर्थात् व्यंग्य अर्थ को ही यदि दूसरे रूप में, अभिधा से कह दिया जाय तो पर्यायोक्ति अलंकार होता है।

'भंग्यागम्यम्' आचार्य विश्वनाथ की मौलिक अन्तर्दृष्टि का सूचक शब्द है।

अब एक बहुत बड़ी समस्या उपस्थित होती है। वह यह कि जो गम्य (व्यंग्य) है, वह उसी स्थान पर वाच्य कैसे हो सकता है? चूँकि पर्यायोक्ति अलंकार में वाच्य के द्वारा व्यंग्य का कथन होता है—तो यह संभव कैसे है? आचार्य मम्मट ने इस बात का स्पष्टीकरण किया है। उनके अनुसार वाच्य के द्वारा व्यंग्य का कथन उसी प्रकार हो सकता है जैसे कि निर्विकल्पक ज्ञान सविकल्पक ज्ञान में परिणत हो जाता है। एक ही विषय निर्विकल्पक तथा सविकल्पक रूप में प्रकारभेद से अनुभूत होता है। उसी प्रकार पर्यायोक्ति में जो अर्थ शब्द के माध्यम से वाच्य-रूप है, वही प्रकारान्तर से व्यंग्य-रूप हो सकता है।

रुय्यक के अनुसार भी इसी समस्या का समाधान मिल जाता है। वह कहते हैं— "गम्य अपने कार्य के द्वारा व्यक्त होता है और कार्य-कारण का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है, अतः कार्य के व्यक्त होने से कारण का संकेत अपने-आप मिल जाता है।"

(अ० स०, पृ० १११)

उदाहरणस्वरूप—

'महाराज सिवराज तेरे वैर देखियतु।
घन-वन ह्वै रहे हैं हरम हवसीन के॥'

(शिवराजभूषण : १७३)

अर्थात् 'हे शिवाजी महाराज, तुमसे वैर करने के कारण हब्शियों की स्त्रियाँ घोर जंगल में वसी हैं।' किन्तु इस कथन से कवि का इष्टार्थ यह प्रकट

होता है कि हब्शी राजाओं को शिवाजी ने रण में परास्त कर दिया है। इस अभीष्ट कारण का कथन न होकर कार्य का कथन हुआ है। हब्शियों की स्त्रियाँ अपने पति की पराजय के कारण भाग-भागकर जंगल में शरण ले रही हैं। उनकी यह स्थिति कार्य की अभिव्यक्ति है। इस तरह कार्य के कथन से कारण का संकेत मिल जाता है।

(यहाँ अप्रस्तुत-प्रशंसा नहीं है—चूँकि इसमें कारण और कार्य दोनों प्रस्तुत हैं —जब कि अप्रस्तुत प्रशंसा में एक प्रस्तुत होता है, दूसरा अप्रस्तुत।)

यहाँ यह तथ्य विचारणीय है कि पर्यायोक्ति अलंकार वस्तुतः गुणीभूत व्यंग्य ही क्यों है? ललनाओं के लावण्य की तरह जो प्रतीयमान अर्थ रहता है, उसके प्राधान्य से ध्वनि मानी जाती है और अप्राधान्य से गुणीभूत व्यंग्य माना जाता है। गुणीभूत शब्द का ही अर्थ है अप्रधान। वास्तविक स्थिति तो यह है कि इसमें व्यंग्यार्थ, वाच्यार्थ का अतिक्रम नहीं कर पाता, बल्कि वाच्य का वाच्यत्व ही सुन्दरतर या प्रकर्षयुक्त हो उठता है। जिन अलंकारों की सृष्टि व्यंजना के पथ पर हुई है, उन अलंकारों में पर्यायोक्ति भी एक है। ऐसे अलंकार का प्रत्येक प्रतीयमान अर्थ वाच्यार्थ से गुण-भावापन्न होता है, इसीलिए इन्हें गुणीभूत व्यंग्य के उदाहरण के रूप में स्वीकारा जाता है। वाच्यार्थ को व्यंग्यार्थ चमत्कृति प्रदान करता है, अतएव व्यंग्यार्थ अप्रधान या गुणीभूत हो उठता है। पर्यायोक्ति के उपर्युक्त उदाहरण में भी कवि के कथन का जो मूल इष्टार्थ है, वह व्यंग्यार्थ है किन्तु वाच्यार्थ के द्वारा कहा गया है। इस तरह इसमें शिवाजी की धाक से हरम खाली हो गये हैं—कहना अभीष्ट है किन्तु भंग्यन्तरपूर्ण वाच्य-वाचक-भाव से यह बात कही जाती है। इसलिए व्यंग्यार्थ यहाँ वाच्य-वाचक-भाव के अधीन हो गया है—यही कारण है कि इसमें गुणीभूत व्यंग्य माना जाना चाहिए।

आचार्य मम्मट ने पर्यायोक्त या पर्यायोक्ति के उदाहरण के रूप में संस्कृत का निम्नोक्त उद्धरण प्रस्तुत किया है—

यं प्रेक्ष्य चिररूढ़ाऽपि निवासप्रीतिरुज्झिता।
मदेनैवारणमुखे मानेन हृदये हरेः॥ (काव्यप्रकाश :१०-५०४)

—'जिस हृदयग्रीव को देखकर मद ने ऐरावत के मुख पर और मान ने (हरि) इन्द्र के हृदय में निवास करने की चिरकाल से जमी हुई प्रीति भी छोड़ दी'। यहाँ ऐरावत और शक्र क्रमशः मान से मुक्त दिखाये गये हैं। व्यंग्यार्थ है—ऐरावत का मद और इन्द्र का अभिमान नष्ट हो गया, जो वाच्यार्थ के द्वारा कहा गया है। अतः यहाँ जो शब्द के वाच्य-वाचक भाव से कथित है, वही व्यंग्य भी है। अन्तर इतना ही है कि व्यंग्य-व्यंजक-भाव से भिन्न रूप में कहा गया है।

पर्यायोक्त दो तरह का माना गया है—प्रथम पर्यायोक्त तथा द्वितीय पर्यायोक्त।

२. **वाच्य में प्रतीयमान अर्थ का अध्यारोप,**

३. **वाच्य में प्रतीयमान अर्थ का आंशिक अध्यारोप।**

आनन्दवर्धन द्वारा प्रस्तुत विवक्षित वाच्य, अविवक्षित वाच्य और विवक्षिता-विवक्षित वाच्य—इन तीनों भेदों को ही मम्मट ने दूसरे ढंग से रूपान्तरित करके सारूप्य-निबंधना के भेदों के रूप में प्रस्तुत किया है।

डॉ० संसारचन्द्र ने अपने शोध-प्रबन्ध ('हिन्दी काव्य में अन्योक्ति') में अन्योक्ति की सीमाएँ विस्तृत कर दी हैं। उनके अनुसार सारूप्य-निबंधना तक ही अन्योक्ति को सीमित रखना संकीर्णता है। उनका यह मत समीचीन लगता है।

पर्यायोक्ति

यह सादृश्यगर्भ के गम्यौपम्याश्रय वर्ग का अर्थालंकार है। **अभीष्ट अर्थ का कथन जब प्रकारान्तर से होता है (सीधे ढंग से नहीं), तब पर्यायोक्ति अलंकार होता है।**

पर्यायोक्ति का अर्थ है—पर्याय से उक्ति अर्थात् भिन्न ढंग से वैचित्र्य-पूर्वक कहना। **इष्टार्थ का भंग्यन्तर से कथन ही पर्यायोक्ति का मूल मंत्र है।** भंगी का अन्तर जब तक नहीं होता, काव्यत्व का चमत्कार भी नहीं होता। भामह ने कहा है—'यदन्येव प्रकारेणाभिधीयते।' (काव्यालंकार ३ : ८), अर्थात् जहाँ अन्य प्रकार से वाच्यार्थ का कथन किया जाय।

दण्डी ने इसी लक्षण का जरा विस्तार से स्पष्टीकरण किया है—

"अर्थमिष्टमनाख्याय साक्षात् तस्यैव सिद्धये।
यत्प्रकारान्तराख्यानं पर्यायोक्तं तदिष्यते॥

(काव्यादर्श : २९५)

अर्थात् अभीष्ट अर्थ का वाचक शब्द के द्वारा कथन न करके उसी अभीप्सित अर्थ की सिद्धि के लिए जो प्रकारान्तर अथवा भंगिमा-विशेष से कथन किया जाता है, वह पर्यायोक्ति अलंकार कहलाता है।

इस तरह दण्डी ने प्रकारान्तर तथा भंगिमा-विशेष पर बल दिया है। परन्तु मम्मट की व्याख्या बड़ी मौलिक है। अनुसरण तो उन्होंने भी प्राचीन आचार्यों का किया है, किन्तु अपने विशिष्ट चिन्तन की छाप भी उन्होंने छोड़ दी है—

'पर्यायोक्तं विना वाच्यवाचकत्वेन यद्वचः।'

(काव्यप्रकाश : १०-१७५)

अर्थात् वाच्य-वाचक भाव के बिना व्यंजना-रूप व्यापार के द्वारा प्रकारान्तर से वाच्यार्थ का कथन, पर्यायोक्ति अलंकार कहलाता है।

फिर मम्मट की मौलिक शब्दावली में पर्यायोक्ति अलंकार का स्वरूप स्थिर होता है, यह मौलिक शब्दावली 'अवगमन व्यापार' है। उनके अनुसार—"**वाच्य-वाचक-भाव से भिन्न अवगमन अथवा व्यंजना-रूप व्यापार द्वारा यदि किसी अर्थ का बोध**

हो तो पर्याय अर्थात् भंग्यन्तर द्वारा कथन किये जाने से इस अलंकार का नाम पर्यायोक्ति पड़ा।" (काव्यप्रकाश : १० : १७५)

आचार्य मम्मट ने व्यंजना-व्यापार के द्वारा वाच्यार्थ की सिद्धि में पर्यायोक्ति मानी है। इस तरह व्यंजना से वाच्यार्थ का कथन पर्यायोक्ति के लिए अनिवार्य हो उठता है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि व्यंजना के द्वारा इसमें जो वाच्यार्थ का कथन होता है, वह ध्वनि से सिद्ध नहीं होता, वरन् उक्ति-वैचित्र्य के चमत्कार के रूप में ही सिद्ध होता है। इसका भंग्यन्तर कथन गुणीभूत व्यंग्य ही माना जा सकता है।

चूंकि इसका भंग्यन्तर व्यंजना-व्यापार का फल है, इसलिए विश्वनाथ ने रुय्यक के आधार पर इसको 'भंग्यागम्यम् कहा है—

"पर्यायोक्त यदा भंग्यागम्यमेवाभिधीयते।"

अर्थात् व्यंग्य अर्थ को ही यदि दूसरे रूप में, अभिधा से कह दिया जाय तो पर्यायोक्ति अलंकार होता है।

'भंग्यागम्यम्' आचार्य विश्वनाथ की मौलिक अन्तर्दृष्टि का सूचक शब्द है।

अब एक बहुत बड़ी समस्या उपस्थित होती है। वह यह कि जो गम्य (व्यंग्य) है, वह उसी स्थान पर वाच्य कैसे हो सकता है? चूंकि पर्यायोक्ति अलंकार में वाच्य के द्वारा व्यंग्य का कथन होता है—तो यह संभव कैसे है? आचार्य मम्मट ने इस बात का स्पष्टीकरण किया है। उनके अनुसार वाच्य के द्वारा व्यंग्य का कथन उसी प्रकार हो सकता है जैसे कि निर्विकल्पक ज्ञान सविकल्पक ज्ञान में परिणत हो जाता है। एक ही विषय निर्विकल्पक तथा सविकल्पक रूप में प्रकारभेद से अनुभूत होता है। उसी प्रकार पर्यायोक्ति में जो अर्थ शब्द के माध्यम से वाच्य-रूप है, वही प्रकारान्तर से व्यंग्य-रूप हो सकता है।

रुय्यक के अनुसार भी इसी समस्या का समाधान मिल जाता है। वह कहते हैं— "गम्य अपने कार्य के द्वारा व्यक्त होता है और कार्य-कारण का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है, अतः कार्य के व्यक्त होने से कारण का संकेत अपने-आप मिल जाता है।"

(अ० स०, पृ० १११)

उदाहरणस्वरूप—

'महाराज सिवराज तेरे वैर देखियतु।
घन-वन ह्वै रहे हैं हरम हवसीन के॥'

(शिवराजभूषण : १७३)

अर्थात् 'हे शिवाजी महाराज, तुमसे वैर करने के कारण हब्शियों की स्त्रियाँ घोर जंगल में बसी हैं।' किन्तु इस कथन से कवि का इष्टार्थ यह प्रकट

होता है कि हब्शी राजाओं को शिवाजी ने रण में परास्त कर दिया है। इस अभीष्ट कारण का कथन न होकर कार्य का कथन हुआ है। हब्शियों की स्त्रियाँ अपने पति की पराजय के कारण भाग-भागकर जंगल में शरण ले रही हैं। उनकी यह स्थिति कार्य की अभिव्यक्ति है। इस तरह कार्य के कथन से कारण का संकेत मिल जाता है।

(यहाँ अप्रस्तुत-प्रशंसा नहीं है—चूँकि इसमें कारण और कार्य दोनों प्रस्तुत हैं—जब कि अप्रस्तुत प्रशंसा में एक प्रस्तुत होता है, दूसरा अप्रस्तुत।)

यहाँ यह तथ्य विचारणीय है कि पर्यायोक्ति अलंकार वस्तुतः गुणीभूत व्यंग्य ही क्यों है? ललनाओं के लावण्य की तरह जो प्रतीयमान अर्थ रहता है, उसके प्राधान्य से ध्वनि मानी जाती है और अप्राधान्य से गुणीभूत व्यंग्य माना जाता है। गुणीभूत शब्द का ही अर्थ है अप्रधान। वास्तविक स्थिति तो यह है कि इसमें व्यंग्यार्थ, वाच्यार्थ का अतिक्रम नहीं कर पाता, बल्कि वाच्य का वाच्यत्व ही सुन्दरतर या प्रकर्षयुक्त हो उठता है। जिन अलंकारों की सृष्टि व्यंजना के पथ पर हुई है, उन अलंकारों में पर्यायोक्ति भी एक है। ऐसे अलंकार का प्रत्येक प्रतीयमान अर्थ वाच्यार्थ से गुण-भावापन्न होता है, इसीलिए इन्हें गुणीभूत व्यंग्य के उदाहरण के रूप में स्वीकारा जाता है। वाच्यार्थ को व्यंग्यार्थ चमत्कृति प्रदान करता है, अतएव व्यंग्यार्थ अप्रधान या गुणीभूत हो उठता है। पर्यायोक्ति के उपर्युक्त उदाहरण में भी कवि के कथन का जो मूल इष्टार्थ है, वह व्यंग्यार्थ है किन्तु वाच्यार्थ के द्वारा कहा गया है। इस तरह इसमें शिवाजी की धाक से हरम खाली हो गये हैं—कहना अभीष्ट है किन्तु भंग्यन्तरपूर्ण वाच्य-वाचक-भाव से यह बात कही जाती है। इसलिए व्यंग्यार्थ यहाँ वाच्य-वाचक-भाव के अधीन हो गया है—यही कारण है कि इसमें गुणीभूत व्यंग्य माना जाना चाहिए।

आचार्य मम्मट ने पर्यायोक्त या पर्यायोक्ति के उदाहरण के रूप में संस्कृत का निम्नोक्त उद्धरण प्रस्तुत किया है—

यं प्रेक्ष्य चिररूढ़ाऽपि निवासप्रीतिरुज्झिता।
मदेनैवारणमुखे मानेन हृदये हरेः॥ (काव्यप्रकाश :१०-५०४)

—'जिस हृदयग्रीव को देखकर मद ने ऐरावत के मुख पर और मान ने (हरि) इन्द्र के हृदय में निवास करने की चिरकाल से जमी हुई प्रीति भी छोड़ दी'। यहाँ ऐरावत और शक्र क्रमशः मान से मुक्त दिखाये गये हैं। व्यंग्यार्थ है—ऐरावत का मद और इन्द्र का अभिमान नष्ट हो गया, जो वाच्यार्थ के द्वारा कहा गया है। अतः यहाँ जो शब्द के वाच्य-वाचक भाव से कथित है, वही व्यंग्य भी है। अन्तर इतना ही है कि व्यंग्य-व्यंजक-भाव से भिन्न रूप में कहा गया है।

पर्यायोक्त दो तरह का माना गया है— प्रथम पर्यायोक्त तथा द्वितीय पर्यायोक्त।

प्रथम पर्यायोक्त

अभीष्ट अर्थ का भंग्यन्तर से जहाँ कथन हो, वहाँ प्रथम पर्यायोक्त अलंकार होता है—

टुनहाई सब टोल में, रही जु सौत कहाय।
सुतैं ऐंचि प्यो आपु त्यों, करो अदोखिल आय॥

अर्थात् नायिका से सखी कह रही है— इन सब टोलों में तुम्हारी सौत जादू या टोना करने वाली मानी जाती थी। (जादू या टोना करने वाली मानी जाती थी का व्यंग्यार्थ यह भी है कि वह अत्यन्त सुन्दर थी तथा अपने सौन्दर्य से पुरुषों को मुग्ध कर लेती थी।) पर हे सखी, तुमने अपने प्रियतम को अपनी तरफ मुग्ध कर खींच लिया है, जिससे तुम्हारी सौत अब पूर्व कलंक से मुक्त हो गयी है। (अर्थात् तुम्हारी सौत अब तुम से अधिक सुन्दर तथा मुग्ध करने वाली नहीं रह गयी।) यहाँ कवि का अभीष्ट कथन तो यही है कि उस नायिका ने अपने सौन्दर्य तथा मुग्ध करने की शक्ति के कारण अपनी सौत को पराजित कर दिया है—अर्थात् वह सौत से अधिक सुन्दर और गुणज्ञा है। लेकिन यह अभीष्ट कथन ही भंग्यन्तर से प्रस्तुत हुआ है—इसलिए यहाँ पर प्रथम पर्यायोक्त माना जाता है, चूँकि विवक्षित वस्तु का कथन प्रकारान्तर से हुआ है।

द्वितीय पर्यायोक्त

इष्टार्थ की सिद्धि के उद्देश्य से भंग्यन्तरपूर्वक कथन में द्वितीय पर्यायोक्त अलंकार होता है। अप्पयदीक्षित इसे व्याजसहित इष्ट-साधन मानते हैं परन्तु दण्डी आदि उपर्युक्त परिभाषा पर ही बल देते हैं।

नाथ लखन पुर देखन चहहीं। प्रभु सँकोच उर प्रगट न कहहीं॥
जो राउर अनुशासन पाऊँ। नगर दिखाय तुरत लै आऊँ॥
—तुलसी

यहाँ राम स्वयं नगर देखना चाहते हैं। परन्तु अपने इष्टार्थ की सिद्धि के उद्देश्य से वह लक्ष्मण का बहाना बनाते हैं। वह कहते हैं कि लक्ष्मण नगर-दर्शन करना चाहते हैं, चूँकि आपके सामने उन्हें संकोच होता है, इसलिए इच्छा व्यक्त नहीं कर रहे हैं। अगर आपकी अनुमति हो तो लक्ष्मण को नगर दिखलाकर तुरत ही ले आऊँगा। अप्पयदीक्षित के 'कुवलयानन्द' के अनुसार राम के उदाहरण में हम व्याज से इष्ट-साधन ढूँढ़ सकते हैं या इष्टार्थ की सिद्धि के उद्देश्य से भंग्यन्तरपूर्वक कथन भी पा सकते हैं।

तुलसी अवलम्ब न और कछु लरिका केहि भाँति जिआइहौं जू।
बस मारिये मोहिं बिना पग धोये हौं नाथ न नाव चढ़ाइहौं जू।

—चरण धोने के इष्टार्थ की सिद्धि को केवट भंग्यन्तर से कहता है।

समासोक्ति

जहाँ प्रस्तुत पर अप्रस्तुत के व्यवहार का आरोप हो वहाँ समासोक्ति अलंकार होता है।

समासोक्ति शब्द का अर्थ है समास (संक्षेप) में उक्ति; अर्थात् थोड़े में बहुत कहना। थोड़े में बहुत कहना कैसे संभव है? इस तरह कि वर्णन किया जाय केवल प्रस्तुत का, पर उससे अर्थ निकले अप्रस्तुत का भी। एक के कथन से दो का संकेत समासोक्ति ही तो है।

अब यहाँ समासोक्ति के लक्षण को स्पष्ट समझ लेना चाहिए। आलंकारिकों ने यह कहा है कि विशेषण के श्लिष्ट होने से ही प्रस्तुत के वर्णन में अप्रस्तुत की प्रतीति हो सकती है। जैसे कोई कहे— 'खिली हुई कलिका पर दोपहर का सुनहरा रंग झलमला रहा है'— तो 'खिली हुई' विशेषण से युवती का भी बोध होगा। इस तरह विशेषण के अनेकार्थक होने से विशेष्य कई प्रकार का हो जाता है और यहाँ भी समासोक्ति होती है।

अलंकारशास्त्र के अन्य आचार्यों के अनुसार क्रिया और लिंग की समानता के वर्णन से भी प्रस्तुत से अप्रस्तुत की प्रतीति होती है। ऐसी स्थिति में भी समासोक्ति होती है। उदाहरण के लिए ऊपर की पंक्ति में 'कलिका' स्त्रीलिंग है और इसी कारण उससे युवती का भी भान होता है।

इसलिए **विशेषण, लिंग और क्रिया तीनों की समानता के कारण प्रस्तुत से अप्रस्तुत की प्रतीति में समासोक्ति अलंकार माना जाता है।**

पर प्रारंभ में 'व्यवहार' शब्द का उल्लेख किया जा चुका है। व्यवहार शब्द बड़ा व्यापक है। व्यवहार का अर्थ है स्वभाव, आचरण, क्रिया, प्रकृति इत्यादि। **जहाँ प्रस्तुत पर अप्रस्तुत के व्यवहार का अरोप हो**— वहाँ समासोक्ति होती है— इस लक्षण को ध्यान में रखने पर समासोक्ति और रूपक का भेद स्पष्ट हो जाता है। **रूपक में जहाँ प्रस्तुत पर स्वयं अप्रस्तुत आरोपित होता है, वहाँ समासोक्ति में प्रस्तुत पर अप्रस्तुत का व्यवहार मात्र** (यानी विशेषता या लिंग या क्रिया मात्र) **आरोपित होता है।** रूपक में प्रस्तुत पर अप्रस्तुत अपना रूप अरोपित करता है, जब कि समासोक्ति में प्रस्तुत पर अप्रस्तुत अपना रूप आरोपित नहीं करता बल्कि अपना व्यवहार आरोपित करता है। रूपक में प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों वाच्य होते हैं, समासोक्ति में प्रस्तुत वाच्य और अप्रस्तुत व्यंग्य होता है।

इस प्रसंग में यह बात भी उल्लेखनीय है कि प्रस्तुत के व्यवहार पर अप्रस्तुत के व्यवहार का आरोप होने पर समासोक्ति होती है। प्रस्तुत के रूप पर अप्रस्तुत के रूप का आच्छादन होने पर रूपक होता है।

यह उदाहरण द्रष्टव्य है—

सहज सुगन्ध मदन्ध अलि, करत चहूँ दिसि गान।
देखि उदित रवि कमलिनी, लगी मुदित मुसकान॥

—यहाँ कमलिनी का वर्णन प्रस्तुत है। पर विशेषणों से अप्रस्तुत नायिका का भी बोध होता है। दूसरी बात यह है कि लिंग की समानता के कारण भी कमलिनी से नायिका का संकेत मिलता है।

'नूरजहाँ' में समासोक्ति का यह उदाहरण ध्यान देने योग्य है—

ओस बिन्दु की मालाओं का भूषण भार सँभाले,
उतर रही मुग्धा ऊषा रवि के कर में कर डाले।

—मुग्धा विशेषण से ऊषा के साथ मुग्धा नायिका का भी बोध होता है; कर में कर डालकर चलना—क्रिया के साम्य के कारण नायक-नायिका के कर में कर डालकर चलने की स्थिति का बोध होता है; भूषण-भार सँभालना भी कार्य है, जिससे नायिका द्वारा आभूषण से सज्जित होने का भाव व्यक्त होता है। इस तरह ऊषा-रवि से लिंग-समानता के कारण नायक-नायिका का भी बोध होता है।

इन उदाहरणों के आधार पर समासोक्ति के प्रसंग में वाच्य और व्यंग्य का प्रश्न उठाना आवश्यक हो जाता है।

'चन्द्रालोक' के रचयिता जयदेव ने समासोक्ति के सम्बन्ध में कहा है—**जहाँ प्रस्तुत में अप्रस्तुत का स्फुरण हो वहाँ समासोक्ति होती है।** इस स्फुरण शब्द का अर्थ वाच्य-व्यंग्य के भाव से अभिन्न है। जहाँ वाच्य में व्यंग्य का स्फुरण हो, वहाँ समासोक्ति होती है, यह भी कहा जा सकता है। ··कमलिनी वाले उदाहरण में यह स्पष्ट है कि कमलिनी का कथन किया गया है यानी कमलिनी वाच्य है; और नायिका का कथन नहीं किया गया है, अतः नायिका व्यंग्य है। मतलब यह कि समासोक्ति में वाच्य का कुछ इस प्रकार कथन किया जाता है कि व्यंग्यार्थ भी उसमें गर्भित रहता है। पर समासोक्ति का यह व्यंग्यार्थ प्रधान नहीं होता है; इसमें वाच्यार्थ ही प्रधान होता है, व्यंग्यार्थ गौण रहता है। अर्थात् व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ के अधीन रहता है। 'ध्वन्यालोक' में कहा गया है— **"समासोक्ति में व्यंग्यार्थ वाच्चार्थ का अनुयायी मात्र होता है; इसमें व्यंग्यार्थ स्फुट होकर वाच्यार्थ को अलंकृत करता है।"**

निष्कर्ष यह कि समासोक्ति में वाच्य से व्यंग्य की प्रतीति अवश्य होती है, पर व्यंग्य गौण ही रहता है; फल यह होता है कि समासोक्ति का व्यंग्य ध्वनि की सीमा तक नहीं पहुँच पाता।

समासोक्ति के उदाहरण

१. चंपकलता सुकुमार तू, धन्य तुव भाग्य विसाल।
तेरे ढिग सोहत सुखद, सुन्दर स्याम तमाल ।।

—चम्पक लता के अत्यन्त निकट ही तमाल वृक्ष है। चम्पक लता सुनहरी होती है। तमाल वृक्ष साँवला या हरा होता है। कवि कह रहा है कि अरी चम्पक लता, तू बड़ी कोमल है; साथ ही धन्य तथा भाग्यशालिनी भी है कि तेरे समीप ही तमाल का वृक्ष शोभित हो रहा है।

यहाँ अप्रस्तुत अर्थ है राधा और कृष्ण का संयोग। राधा गोरी है और कृष्ण साँवले हैं। **विशेषण के कारण प्रस्तुत से अप्रस्तुत की प्रतीति हो रही है।**

२. पीली पड़ निर्बल कोमल, देहलता कुम्हलाई।
विवसना लाज में लिपटी, साँसों में शून्य समाई ।।

—पंत

—यहाँ चाँदनी का वर्णन प्रस्तुत है, पर उससे बीमार युवती का अप्रस्तुत रूप भी प्रकट होता है। **यहाँ लिंग की समानता के कारण प्रस्तुत में अप्रस्तुत का स्फुरण हो रहा है।**

३. तप्यो आँच अति बिरह की, रह्यो प्रेमरस भीजि।
नैननि के मग जल बहै, हियो पसीजि पसीजि ।।

—बिहारी

नायिका वियोग-दग्ध है। वह आठ-आठ आँसू बहाकर रो रही है। एक सखी दूसरी सखी से कहती है—उसे अति विरह की आँच लगी है; इसीलिए जो हृदय प्रेमरस से भींगा था, वह अब आँखों के मार्ग से पसीज-पसीज कर वह रहा है।

यहाँ नायिका की इस दशा का वर्णन प्रस्तुत है; आँच लगाकर जड़ी-बूटी से अर्क टपकाने की क्रिया का बोध अप्रस्तुत है। **इसलिए क्रिया-साम्य के कारण यहाँ समासोक्ति है।**

समासोक्ति में सदैव दो अर्थ होते हैं और दोनों अर्थों के बीच प्रधान-अप्रधान भाव विद्यमान रहता है। समासोक्ति में व्यंग्यार्थ अप्रधान रहता है, फलतः इसके मूल में गूणीभूत व्यंग्य कार्य करता है। समासोक्ति का चमत्कार प्रधानतया गूणीभूत व्यंग्य पर ही आश्रित है।

दीपक

प्रस्तुत और अप्रस्तुत—इन दोनों के एक ही गुण, क्रिया या धर्म द्वारा संयुक्त होने पर दीपक अलंकार होता है।

इस अलंकार का नामकरण दीपक के धर्म को ध्यान में रखकर किया गया है। जिस तरह दीपक एक जगह रहता है, पर इर्द-गिर्द की वस्तुओं को प्रकाशित करता है—उसी तरह एक धर्म कई वस्तुओं का परस्पर संयुक्त होना वतला देता है। दीपक अलंकार की विशेषता यह है कि प्रस्तुत और अप्रस्तुत के लिए दो धर्मों का कथन नहीं किया जाता; दोनों के लिए एक ही वार और एक ही धर्म का कथन किया जाता है। 'काव्यप्रकाश' में मम्मट ने यह उदाहरण दिया है—

कंजूसों के धन, साँपों की मणि, सिंहों के केसर और कुलीन कन्याओं के स्तनों को उनके जीवित रहते कोई कैसे छू सकता है?

इस उदाहरण में 'छू सकना' एक ही क्रिया-धर्म है, जो सव पर प्रकाश डालता है। इस तरह यहाँ क्रिया दीपक अलंकार है। यहाँ **'कुलीन वालिकाओं के स्तन'** का वर्णन कवि का अभिप्रेत है, इसलिए यह उपमेय या प्रस्तुत है। अन्य वस्तुएँ अप्रस्तुत हैं। प्रस्तुत और अप्रस्तुत वस्तुओं का सम्वन्ध केवल एक धर्म-कथन से स्पष्ट होता है और वह धर्म है 'छू सकना'।

विहारी का यह उदाहरण देखें —

नर की अरु नल नीर की, गति एकै करि जोई।
जेतो नीचो ह्वै चलै, तेतो ऊँचो होई॥

—नर और जल के फुहारे की एक ही गति है, ये दोनों जितना नीचे होकर चलते हैं, उतना ही ऊँचे उठते हैं। इस दोहे में नर प्रस्तुत है और नल-नीर अप्रस्तुत। दोनों का एक धर्म से कथन किया गया है। यह एक धर्म क्रिया-पद में सन्निहित है। इसलिए यहाँ क्रिया दीपक है।

रामचरितमानस में गोस्वामी तुलसीदास ने भी दीपक का चमत्कार प्रस्फुटित किया है—

सेवक सठ नृप कृपिन कुनारी।
कपटी मित्र सूल समचारी॥

—अर्थात् शठ सेवक, कृपण राजा, बदचलन स्त्री और कपटी मित्र—ये सब काँटे की तरह चुभते रहते हैं। 'सूल समचारी' द्वारा प्रस्तुत और अप्रस्तुत का एक धर्म से कथन किया गया है।

चितवन, भौंह, कमान, गढ़ रचना, बरुनी अलक।
तरुनि, तुरंगम, तान आधु बँकाई ही बढ़ै॥

—एक सखी अपनी दूसरी सखी से कह रही है। वह कहती है कि तुम निपट भोली बनी रहती हो, यह अच्छी बात नहीं है, इससे तुम्हारा मूल्य नहीं बढ़ेगा। चितवन, भौंह, कमान, गढ़ का निर्माण, पलक, केश, तरुणी, घोड़ा और संगीत की तान—इन सब का मूल्य बाँकेपन (बँकाई) से ही बढ़ता है।

यहाँ 'तरुणी' प्रस्तुत है और शेष सभी वस्तुएँ अप्रस्तुत। इन सबका एक धर्म है 'वक्रता से मूल्य बढ़ना'। अतः यहाँ दीपक का आलंकारिक चमत्कार है।

रहीम के इस दोहे में दीपक का ही चमत्कार है—

रहिमन पानी राखिये, बिन पानी सब सून।
पानी गये न ऊबरै, मोती मानिक चून॥

—यह एक तरह का नीति-कथन है। रहीम मनुष्य-मात्र से कह रहे हैं कि अपनी प्रतिष्ठा बचाकर रखो; क्योंकि मोती, माणिक्य और चूना—ये पानी से रहित होने पर अपना मूल्य खो बैठते हैं। यहाँ मनुष्य प्रस्तुत है और मोती, माणिक्य तथा चूना अप्रस्तुत। धर्म है 'पानी रखना'।

दीपक अलंकार के कई भेद माने गये हैं। उनमें कारक दीपक, आवृत्ति दीपक और माला दीपक प्रमुख है।

कारक दीपक

जहाँ अनेक क्रियाओं का एक ही कारक हो, वहाँ कारक दीपक होता है।

कारक से यहाँ 'कर्त्ता' का अर्थ है। एक ही व्यक्ति अनेक तरह की क्रियाएँ करता है और उन क्रियाओं का वर्णन होता है, तभी कारक दीपक होता है। उदाहरण के लिए—

कहत नटत रीझत खिझत, मिलत खिलत लजियात।
भरे भौन में करत हैं नैनन हीं सब बात॥

—यहाँ अकेली बैठी नायिका की चेष्टाओं का वर्णन है। उस बड़े भवन के एकान्त में कहत, नटत, रीझत, खिझत, मिलत, खिलत, लजियात—इत्यादि नायिका की क्रियाएँ हो रही हैं। इस तरह एक ही कर्त्ता की अनेक क्रियाओं का वर्णन है।

किन्तु शिशिर में ठंढी साँसें हाय कहाँ तक धारूँ?
तन जारूँ मन मारूँ पर क्या मैं जीवन भी हारूँ?

—गुप्त (साकेत)

—यहाँ नायिका की दशा का वर्णन है। तन जलाना, मन मारना, ठंढी साँसें धारण करना— ये सारी क्रियाएँ एक ही कर्त्ता से सम्बद्ध हैं। अतः यहाँ भी कारक दीपक अलंकार है।

कर लै चूमि चढ़ाय सिर, उर लगाय भुज भेंटि।
लहि पाती पिय की तिया, बाँचति धरति समेटि॥

—यहाँ नायिका की दशा का वर्णन है। पति के पत्र को वह चूमती है, सिर पर चढ़ा लेती है, छाती से लगा लेती है, पढ़ती है और मोड़कर रख देती है। इन विभिन्न क्रियाओं का सम्बन्ध एक ही कर्त्ता से है, अतः यहाँ भी कारक दीपक है।

निम्नोक्त उदाहरण में 'साँस' की दशा का वर्णन है—

आती और जाती रहती हैं, चैन पाती नहीं
मानो खोजती रहती हैं उसे साँसें घबरायी सी।

—यहाँ कर्त्ता है 'साँस'; उसका आना-जाना, चैन नहीं पाना, घबराकर खोजना— इत्यादि क्रियाएँ हैं। इसलिए यहाँ कारक दीपक है।

बता अरी, अब क्या करूँ, रूपी रात से रार।
भै खाऊँ, आँसू पियूँ, मन मारूँ झख मार॥

—भय खाना, आँसू पीना, मन मारना— इत्यादि क्रियाओं का सम्बन्ध एक ही कर्त्ता से होने के कारण कारक दीपक का यह उदाहरण है।

आवृत्ति दीपक

आवृत्ति दीपक का अलग भेद स्वीकार करना निरर्थक है। क्यों ? इसलिए कि आवृत्ति हजारों तरह से हो सकती है— इसलिए आवृत्ति के आधार पर अलग भेद स्वीकार करना समुचित नहीं प्रतीत होता। दूसरी बात यह है कि आवृत्ति दीपक एक तरह से यमक का ही रूपान्तर हो जा सकता है।

माला दीपक

जब प्रत्येक पिछली वस्तु, आगे की वस्तु का उत्तेजक बन जाती है, तब मालादीपक होता है।

माला दीपक अलंकार दीपक और एकावली के मिश्रण से फलीभूत हुआ है। उदाहरण के लिए—

नभ में सुन्दर बिजली-सी,
बिजली में चपल चमक-सी।
आँखों में काली पुतली,
पुतली में श्याम झलक-सी। —पंत

—यहाँ बिजली, चमक की उत्तेजक है; फिर पुतली झलक की उत्तेजक है। इस तरह दीपक और एकावली का मिश्रित चमत्कार इसमें मौजूद है।

अनुमान

काल्पनिक साधन द्वारा साध्य का चमत्कारपूर्ण वर्णन अनुमान अलंकार कहलाता है।

अनुमान शब्द न्यायदर्शन की देन है। धुएँ से अग्नि का अनुमान किया जाता है। जहाँ-जहाँ हम धुआँ देखते हैं, वहाँ-वहाँ अग्नि के होने का अंदाज करते हैं। जिसका अनुमान किया जाता है, उसे साध्य कहते हैं और जिसे देखकर अनुमान किया जाता है, उसे साधन कहते हैं। यहाँ धुआँ साधन है और अग्नि साध्य।

किसी की आँखों में आँसू देखकर उसके दुखी होने का अनुमान किया जाता है। पर ऐसा अनुमान अत्यन्त स्थूल होता है, इसलिए इसका वर्णन चमत्काररहित होता है।

न्यायदर्शन के **'अनुमान'** शब्द को अलंकारशास्त्र ने अपनी उपयोगिता के अनुसार ढाल लिया है। न्यायदर्शन में जहाँ साधन और साध्य का नित्य सम्बन्ध अनुमान की व्याप्ति का आधार है, वहीं कवि-कल्पित साधन-साध्य का नित्य सम्बन्ध इस अलंकार का आधार है।

रीतिकालीन आचार्य और कवि चिन्तामणि ने इसका उदाहरण दिया है—

भौंह भाव जहँ तिय करै, तहीं परति है बान।
इनके आगे सर मदन, लीन्हें बान कमान ।।

—रमणी स्त्री जहाँ अपनी भौंहों का भाव प्रकट करती है, वहीं पर बाण लगता है; क्योंकि कामदेव उसके आगे बाण-कमान लेकर खड़ा रहता है।

निष्कर्ष यह है कि कवि ने पौराणिक चरित्र कामदेव के बाण चलाने के कारण की कल्पना की है कि स्त्रियाँ जहाँ कटाक्षपात करती हैं, वहीं कामदेव बाण चलाता है।

'अलंकार-मंजरी' में सेठ कन्हैयालाल पोद्दार ने यह उदाहरण दिया है—

यातें मेरे नैन खरे लोह से हैं काहे तें कि,
खैंचि लेत प्यारी चख चुम्बक तिहारे यों।

—नायक की दृष्टि नायिका की ओर अपने-आप चली जाती है। क्यों चली जाती है? इसका कारण बतलाते हुए नायक कहता है कि उसके नेत्र तो खरे लोहे

के बने होते हैं, इसीलिए नायिका के चुम्बक नेत्र उसे खींच लेते हैं। दो आँखों के मिलने का यह काल्पनिक कारण-संधान, कवि-प्रतिभा की ही देन है।

ऐसे उदाहरण के साथ अनुमान के प्रसंग में एक बात उठती है। वह यह कि नायक के नेत्र खरे **लोहे से हैं** और नायिका के **चक्षु (चख) चुम्बक हैं**—जैसे कथन में तो उपमा और रूपक का भी सम्मिश्रण है। तो क्या अनुमान में जो काव्य-चमत्कार है, वह अन्य अलंकारों से परिपुष्ट होकर ही व्यक्त होता है? बँगला पुस्तक 'अलंकार-चन्द्रिका' के लेखक अध्यापक श्यामापद चक्रवर्ती का यह मत है कि अनुमान में साधन के द्वारा साध्य का बोध दूसरे अलंकारों से मिश्रित होने पर उनकी विच्छित्ति से ही संभव हो पाता है।

विहारी का एक प्रसिद्ध दोहा इस दृष्टि से उल्लेखनीय है—

मोहि करत कत बावरी, किये दुराव दुरै न।
कहे देत रँग राति के, रँग निचुरत से नैन।।

—**रंग निचोड़ते हुए नायिका के नयन,** रात की रतिकेलि का रहस्य प्रकट कर देते हैं। नायिका की लाल आँखें देखकर यह अनुमान हो रहा है कि वह रातभर रतिकेलि करती रही है।

'रँग निचुरत से नैन' साधन है, जिसके द्वारा रतिकेलि के साध्य का अनुमान होता है।

यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि बिहारी के दोहों में 'अनुमान' के जितने भी उदाहरण हैं, प्रायः सब में 'रतिकेलि' का जिक्र अवश्य है। रीतिकाल के अधिकतर कवियों ने नायिका के रोमांच और प्रकम्प से उसके हृदय में जगते हुए प्रेमभाव के अनुमान का चित्रण कम किया है, रतिकेलि का चित्रण अधिक मनोयोगपूर्वक और दुहरा-तिहरा कर किया है। इससे रीतिकालीन कवियों की स्थूल शृंगारिकता का पता मिलता है।

कुछ अन्य उदाहरण भी संग्रहणीय हैं—

१. मृगनैनी दृग की फरक, उर उछाह, तन फूल।
बिन ही पिय आगम उमँगि, पलटन लगी दुकूल।।

२. संकुचि न रहिये स्याम सुनि, ये सतरौंहे बैन।
देत रचौंहे चित्त कहे, नेह नचौंहे नैन।।

सतरौंहे=क्रोधयुक्त। रचौंहे=प्रेमयुक्त। नचौंहे=चंचल।

परिसंख्या

किसी प्रश्न के उत्तर के प्रसंग में अन्य संभाव्य उत्तरों का निषेध परिसंख्या अलंकार कहलाता है।

परिसंख्या शब्द मीमांसा-दर्शन से लिया गया है। मीमांसा-दर्शन में यह तीसरी विधि है। इसका अर्थ है अनेक कार्यों में एक की स्वीकृति और अन्य का निषेध। उदाहरण के लिए यदि यह प्रश्न किया जाय कि **एकान्त में किसका ध्यान किया जाय?** और इसका यदि यह उत्तर दिया जाय कि श्रीकृष्ण के चरणों का ध्यान किया जाय; तो यहाँ श्रीकृष्ण के चरणों का ध्यान करना—में विधि है और स्त्री, धन, सुस्वादु भोजन इत्यादि के ध्यान का निषेध है। इस तरह परि-संख्या-विधि के द्वारा एक वस्तु का विधान किया जाता है और अन्य संभाव्य वस्तुओं का निषेध।

महाभारत का यक्ष-युधिष्ठिर-सम्वाद भी परिसंख्या अलंकार का ही उदाहरण है। यक्ष युधिष्ठिर से पूछता है— 'दुनिया का सबसे बड़ा आश्चर्य क्या है?' युधिष्ठिर कहते हैं— 'दूसरों को रोज मरते देखकर मनुष्य की जीने की इच्छा'— इससे बढ़कर आश्चर्य क्या हो सकता है? युधिष्ठिर अन्य आश्चर्यजनक वस्तुओं का भी उल्लेख कर सकते थे—पर 'मनुष्य की जीने की इच्छा' ही उन्हें आश्चर्य-जनक लगी।

एक दूसरा उदाहरण लें। एक सज्जन ने पूछा— 'रामराज्य में कुटिलता, शंका और कलंक की स्थिति कहाँ-कहाँ थी?'

रामराज्य के समर्थक कवि ने कहा—

केसन ही में कुटिलता, संचारिन में संक।
लखौ राम के राज्य में, इक ससि माहिं कलंक॥

—राम के राज्य में केवल केशों में ही कुटिलता (टेढ़ापन) पायी जाती है, केवल संचारियों में ही शंका और केवल चन्द्रमा में ही कलंक पाया जाता है।

इस उदाहरण में भी हम देखते हैं कि अन्य संभाव्य वस्तुओं का निषेध और केवल एक वस्तु का विधान किया गया है। केवल केशों में ही कुटिलता पायी जाती है, अन्य किसी भी वस्तु में नहीं, मनुष्य में भी नहीं।

इस प्रसंग में एक विशेष तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट कराना आवश्यक है। वह यह कि मीमांसा-दर्शन के इस शब्द (परिसंख्या) का अलंकारशास्त्र में अर्थ-विस्तार हो गया है। यहाँ काल्पनिक विधान और निषेध का चमत्कार ही प्रमुख हो गया है; जबकि मीमांसा-दर्शन में नैतिक तथा धार्मिक दृष्टि से विधि-निषेध को प्रमुखता मिलती है।

निष्कर्ष यह कि परिसंख्या अलंकार के प्राय: ऐसे ही उदाहरण हैं जिनमें काल्पनिक विधि-निषेध का चमत्कार प्रमुख है।

उदाहरण के लिए किसी ने यह प्रश्न किया कि धनुष कहाँ मिलता है? तीर कहाँ मिलता है? लाल आँखें कहाँ मिलती हैं? वीर कहाँ हैं?

इस प्रश्न के उत्तर में कवि ने कहा—

पावस ही में धनुष अब, नदी तीर ही तीर।
रोदन ही में लाल दृग, नौ रस ही में वीर॥

अर्थात् अब वर्षा-ऋतु में ही केवल धनुष (इन्द्रधनुष) दीख पड़ता है; तीर अब नदी तीर ही है— अर्थात् बाण किसी के हाथ में नहीं है; अब रोने से ही आँखें लाल होती हैं, क्रोध से नहीं; 'वीर' तो अब नौ रसों में ही एक गिना जाता है अर्थात् वीर पुरुष अब नहीं मिलते।

यहाँ काल्पनिक विधि-निषेध का चमत्कार देखा जा सकता है। उपर्युक्त उदाहरण में श्लेष से परिपुष्ट परिसंख्या अलंकार है।

दंड जतिन कर, भेद जहँ नर्त्तक-नृत्य समाज।
जीत्यो मनसिज, सुनिय अस रामचन्द्र के राज॥

—रामराज्य की सुव्यवस्था का वर्णन हो रहा है। राम के राज्य में दंड (यानी डंडा) केवल यतियों (संन्यासियों) के कर में ही रहता था; अभिप्राय यह है कि दंड किसी को नहीं मिलता था। भेद केवल नृत्य करने वाले नर्त्तकों में है— यानी नर्त्तक ही नृत्य की गति के भेद करते हैं। यहाँ श्लिष्ट अर्थ यह है कि समाज में भेद नहीं था, फूट नहीं थी। विजय केवल कामदेव की होती थी— किसी आक्रमण-कारी की विजय नहीं।

इस उदाहरण में दंड, भेद और विजय का अन्य स्थानों पर निषेध किया गया है और केवल एक स्थान पर इन्हें एकत्र कर दिया गया है।

परिसंख्या अलंकार के चमत्कारपूर्ण वर्णन की दृष्टि से बिहारी का यह दोहा अत्यन्त सरस है—

जालरंध्र-मग अगनि को, कछु उजास सो पाय।
पीठि दिये जग त्यो रहै, डीठि झरोखनि लाय॥

—नायिका की सखी उससे नायक की दशा का वर्णन कर रही है। वह कहती है कि जाल के छेदों के रास्ते से उसने तुम्हारी अंगदीप्ति—अग्नि का उजाला—जिस दिन से पा लिया, उस दिन से झरोखे की तरफ दृष्टि लगाकर संसार को उसने पीठ दे दी है। अर्थात् नायक ने जब से उसे देखा है, तब से अन्य चीजों को देखना उसने छोड़ दिया है।

यहाँ भी परिसंख्या अलंकार का ही चमत्कार बोल रहा है।

भक्तिकालीन कवियों के उदाहरण दिये जा चुके हैं। अब रीतिकालीन कवि का उदाहरण देखें—

मुक्ति वेनि ही में बसै, अमी बसै अधरानि।
सुख सुन्दरि संजोग ही, और ठौर जनि जानि॥

—रीतियुग के शृंगारपंथी कवि का यह वक्तव्य ध्यान देने योग्य है। कवि कहता है— मुक्ति तो स्त्री की वेणी में ही बसती है; अमृत स्त्रियों के अधरों में और सुख सुन्दरियों के संयोग में बसता है। यहाँ भी मुक्ति, अमृत और सुख का अन्य स्थानों पर निषेध और एक स्थान पर होना वर्णित है।

दूसरी ओर छायावाद के पुलक-प्रेमी कवि सुमित्रानन्दन पंत का उदाहरण देखें—

देह में पुलक, उरों में भार,
भ्रुवों में भंग, दृगों में बाण।
अधर में अमृत, हृदय में प्यार,
गिरा में लाज, प्रणय में मान॥

—पुलक और कहीं भी नहीं है, केवल देह में है।

उपर्युक्त पंक्तियों में परिसंख्या का चमत्कार देखा जा सकता है।

परिसंख्या में कवि-कल्पना को सपंख उड़ने का पर्याप्त अवकाश मिलता है। इस दृष्टि से यह अलंकार कवि को कल्पना-विलास तथा अभिव्यक्ति की स्वच्छंदता की छूट दे देता है।

संदेह

समता के कारण जब प्रस्तुत में अप्रस्तुत के संशय का वर्णन होता है, तब संदेह अलंकार होता है।

संदेह में अनिश्चय का भाव निहित है। यह रस्सी है या साँप, यह खंभा है या मनुष्य—ऐसे अनिश्चय की स्थिति को ही संदेह की अवस्था कहते हैं। पर रोजमर्रे के जीवन में हमें जो संदेह होता है, उसमें कोई चमत्कार नहीं होता। अतः चमत्कारपूर्ण वर्णन ही इस अलंकार का उदाहरण हो सकता है। चमत्कारहीन वर्णन में अलंकार नहीं होता।

जब लक्ष्मण वनवास के बाद लौटते हैं तो उर्मिला को देखकर उन्हें आश्चर्य होता है। उसके शरीर का सूखकर काँटा हो जाना कवि का विषय है। इस दशा का वर्णन मैथिलीशरण गुप्त ने यों किया है—

यह काया है या शेष उसी की छाया,
क्षण भर उनकी कुछ, नहीं समझ में आया।

—क्षीणतम उर्मिला के शरीर को देखकर लक्ष्मण को संशय हो गया—यह उर्मिला की काया है या उसकी छाया। इस तरह यहाँ संदेह अलंकार का ही चमत्कार है। यहाँ आपकी ओर से यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि इस उदाहरण में तो काल्पनिक संदेह है, वास्तविक संदेह या संशय नहीं। इस प्रश्न का उत्तर यह है कि आलंकारिकों ने कवि-कल्पना-प्रसूत संशय को ही चमत्कारपूर्ण माना है; इसलिए इस उदाहरण में निःसंदेह 'संदेह' ही है।

संदेह अलंकार कवि-प्रतिभा से प्रसूत काल्पनिक संशय में ही होता है, इस बात पर आलंकारिकों ने बार-बार जोर दिया है। 'अलंकार-चन्द्रिका' के लेखक श्री श्यामापद चक्रवर्ती ने कालिदास का एक श्लोक उद्धृत किया है। उसका भावार्थ यह है—

हिमालय के शिखर पर वह शुभ्र प्रभास्वर है
या पद्मासन लगाकर ध्यान-मग्न महेश्वर हैं?

—मौन अचल हिमालय में कवि को ध्यान-मग्न, पद्मासन लगाये शिव का संशय हो गया है।

इस तरह रोजमर्रे के संदेह का यथातथ्य वर्णन संदेह अलंकार का उदाहरण नहीं हो सकता; उस वर्णन में कवि-कल्पना और चमत्कार आवश्यक हैं।

विहारी के इस दोहे में संदेह अलंकार का ही चमत्कार कवित्व को प्रस्फुटित कर रहा है—

चकी जकी सी ह्वै रही, बूझे बोलति नीठि।
कहूँ डीठि लागि लगी, कै काहू की दीठि॥

—नायिका की दशा का वर्णन उसकी सखी कर रही है। नायक के प्रति नायिका के पूर्वानुराग की दशा का वर्णन कितना कवित्वपूर्ण है। नायिका चकित और स्तंभित-सी हो रही है। हाल पूछने पर मुश्किल से बोल पाती है। न जाने, किसी से प्रेम हो गया है या किसी की नजर लग गयी है?

संदेह अलंकार के उदाहरणस्वरूप पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' की ये पंक्तियाँ प्रसिद्ध हैं—

मद भरे ये नलिन नयन मलीन हैं,
अल्पजल में या विकल लघु मीन हैं।
या प्रतीक्षा में किसी की शर्वरी,
बीत जाने पर हुए ये दीन हैं।
या पथिक से लाल लोचन कह रहे,
हम तपस्वी हैं, सभी दुःख सह रहे।

—'परिमल'

—मद-भरे नयन में विकल मीन का संशय है। यह संशय समता के कारण है। अतः यहाँ संदेह कवि-कल्पना से उद्भूत है।

संदेह अलंकार की सबसे बड़ी पहचान यह है कि इसमें प्रश्न व्यक्त होता है। संशय होने के कारण वाक्य का अन्त प्रश्न से होता है। इसलिए व्रजभाषा या अवधी में लिखित कविताओं में जब संशय की दशा का वर्णन होता है तो वहाँ किधौं, कै, कि, या, अथवा इत्यादि अवश्य शब्दतः रहते हैं। उदाहरण के लिए संदेह का एक बड़ा अच्छा उदाहरण यह है—

कैं बालगुड़ी नभ में उड़ी सोहत इत उत धावती।
कै अवगाहत डोलत कोउ व्रजरमणी जल आवती॥

—यहाँ यमुना नदी के जल में चाँद का बिम्ब देखकर संशय प्रकट किया गया है— क्या पंतग (बालगुड़ी) आकाश में उड़ रही है; उस उड़ती हुई पंतग का ही तो यह बिम्ब नहीं है? या क्या जल में डुबकी लगाती हुई कोई व्रजरमणी तो नहीं है?

आकाश के चाँद का बिम्ब जल में है। चन्द्रबिम्ब में पंतग और रमणी के मुख का संशय व्यक्त किया गया है। निश्चय नहीं हो पाया है—कि यह पंतग है

या रमणी का मुख। इसलिए यहाँ कवि-कल्पना-प्रसूत संशय का चमत्कार है और कवित्व की दृष्टि से श्रेष्ठ उदाहरण है।

संदेह की चमत्कारपूर्ण अभिव्यक्ति दिनकर के 'कुरुक्षेत्र' में मिलती है—

यह लगा दौड़ने अश्व कि मद मानव का?
हो रहा यज्ञ या ध्वंस अकारण भव का?
घट में जिसको कर रहा खड्ग संचित है,
वह सरिद्वारि है या नर का शोणित है?
मण्डली नृपों की जिन्हें विवश हो ढोती,
यज्ञोपहार हैं या कि मान के मोती?
कुण्डों में यह घृत-वलित हव्य वलता है,
या अहंकार अपहृत नृप का जलता है?
ऋत्विक् पढ़ते हैं वेद कि ऋचा दहन की?
प्रशमित करते या ज्वलित वह्नि जीवन की?
है कपिश धूम प्रतिमान जयी के यश का,
या धुँधुआता है क्रोध महीप विवश का?
यह स्वस्ति-पाठ है या नव अनल प्रदाहन?
यज्ञान्त-स्नान है या कि रुधिर-अवगाहन?
सम्राट्-भाल पर चढ़ी लाल जो टीका,
चन्दन है या लोहित प्रतिशोध किसी का?

—इस उद्धरण में अश्व में मद का संदेह है, यज्ञ में ध्वंस का संदेह है, सरिद्वारि में शोणित का संदेह है इत्यादि। पूरे उदाहरण में काल्पनिक संदेह का बड़ा कवित्वपूर्ण वर्णन है। अंत की पंक्तियों में यह काल्पनिक संशय और भी सुन्दर तथा प्रभावशाली हो उठता है, जब कवि लाल टीका में लोहित प्रतिशोध का संदेह व्यक्त करता है।

मेरे विचार से खड़ी बोली के पद्यों में संदेह का इतना सुन्दर उदाहरण मिलना मुश्किल है।

अपह्नुति

उपमान का निषेध कर उपमेय की स्वीकृति के वर्णन में अपह्नुति अलंकार होता है।

अपह्नुति शब्द का अर्थ है— छिपाना, निषेध करना, गोपन करना, अस्वीकृत करना। अभिप्राय यह हुआ कि प्रकृत वस्तु का निषेध कर, अप्रकृत वस्तु को प्रतिष्ठित करना अपह्नुति है। ऐसा वर्णन जब चमत्कारपूर्ण होता है, तभी वह अपह्नुति अलंकार का उदाहरण बनता है।

अपह्नुति शब्द के अर्थ से ही एक को गौरव-शून्य और दूसरे को गौरव-युक्त बनाने का भाव प्रकट होता है। अतः इस अलंकार में उपमान की प्रतिष्ठा होती है और उपमेय को नगण्य या महत्त्व-शून्य बतलाया जाता है। जैसे यह कहा जाय कि **यह मुख नहीं, चन्द्र है** तो इस वाक्य को हम अपह्नुति का उदाहरण मानेंगे। क्यों? इसलिए कि प्रकृत वस्तु या उपमेय मुख है और उसका निषेध किया गया है तथा अप्रकृत वस्तु या उपमान को प्रतिष्ठित किया गया है। एक उदाहरण देकर बात और भी स्पष्ट की जा सकती है—

सुग्रीव अपने भाई बालि का परिचय दे रहे हैं। राम वहीं उपस्थित हैं। सुग्रीव राम से बालि के सम्बन्ध में कहते हैं —

मैं जो कहा रघुवीर कृपाला।
बन्धु न होइ मोर यह काला॥

(यह मेरा भाई नहीं, काल है; मेरा यह दुश्मन है।) यहाँ भाई होना प्रकृत वस्तु है, पर काल होना, काल-समान होना अप्रकृत वस्तु है। इस तरह भाई होने की बात का निषेध किया गया है और काल होने की बात को स्वीकृत किया गया है। इस तरह यहाँ अपह्नुति अलंकार का ही चमत्कार है।

अपह्नुति का एक बड़ा अच्छा उदाहरण यह भी है—

पहिरे स्याम न पीत पट, घन में बिज्जु बिलास।

अभिप्राय है— कृष्ण ने पीताम्बर नहीं पहना है, बादलों के बीच बिजली चमक रही है।

यहाँ पीतपट का निषेध और विज्जुबिलास की स्वीकृति है। इस उदाहरण में हम अपह्नुति अलंकार का चमत्कार देखते हैं।

अपह्नुति के भेदोपभेद की चर्चा से पहले उसकी मूल प्रकृति पर विचार कर लेना आवश्यक है। कुछ आलंकारिकों ने यह माना है कि अपह्नुति में उपमान—उपमेय नहीं होते। उनका मत है कि समानता के कारण एक वस्तु को या एक तथ्य को छिपा दिया जाता है और उसके स्थान पर मिथ्या तथ्य की स्थापना की जाती है।

पर यह परिभाषा संगत नहीं प्रतीत होती। **कवि-कल्पना सत्य पर असत्य की प्रतिष्ठा करे—यह परिभाषा कुछ जँचती नहीं। एक वस्तु पर उससे मिलती-जुलती दूसरी वस्तु का निषेधपूर्वक आरोप ही अपह्नुति है।** रूपक से इसकी भिन्नता इसी बात को लेकर है। रूपक में जहाँ उपमेय पर उपमान का निषेध-रहित आरोप होता है, वहाँ अपह्नुति में निषेधपूर्वक आरोप होता है। **यह मुखचंद्र** है तथा **यह मुख नहीं, चंद्र है**— इन दोनों कथनों में पहला निषेध-रहित अभेदारोप (रूपक) का उदाहरण है और दूसरा निषेधपूर्वक आरोप का उदाहरण (अपह्नुति)।

अपह्नुति के जितने भेद बताये जाते हैं, वे बाद के आलंकारिकों के दिमाग की उपज हैं। पूर्ववर्त्ती आलंकारिकों ने इसके इतने भेदोपभेद नहीं किये हैं। आचार्य मम्मट ने अपने **'काव्यप्रकाश'** में इसके दो ही भेद माने हैं—**शाब्दी अपह्नुति** तथा **आर्थी अपह्नुति। शाब्दी अपह्नुति मम्मट के अनुसार, वहाँ होती है, जहाँ शब्दतः निषेध किया गया हो; तथा छल, कपट या बहाने से जहाँ निषेध किया गया हो, वहाँ आर्थी अपह्नुति होती है।**

इस दृष्टि से अपह्नुति के सभी भेद इन दोनों की सीमा में ही अंतर्भुक्त हो जाते हैं। अतः **शाब्दी अपह्नुति** और **आर्थी अपह्नुति**—ये ही दो भेद मानना उचित है।

शाब्दी अपह्नुति

जहाँ प्रकृत वस्तु या उपमेय का शब्दतः निषेध किया गया हो और अप्रकृत वस्तु या उपमान को प्रतिष्ठित किया गया हो, वहाँ शाब्दी अपह्नुति होती है। जैसे—

१. वे दो ओठ न थे राधे,
था एक फटा उर तेरा।

—मैथिलीशरण गुप्त ('द्वापर')

२. हैं गरजते घन नहीं, बजते नगाड़े।
विद्युल्लता चमकती न, कृपाण जाल है।
धारा नहीं बरसती, यह बाण-धारा।
आयी घटा यह नहीं, शिवराज-सेना।

—यहाँ शिवाजी की सेना में भूषण को बादल का भ्रम हुआ है। यहाँ भ्रम के व्याज से उपमेय का शब्दतः निषेध और उपमान की सिद्धि है। आम तौर पर आलंकारिक इसे **भ्रान्तापह्नुति** का उदाहरण मानते हैं; पर इसे शाब्दी अपह्नुति के अंतर्गत स्थान देना चाहिए।

३. सारदा ससि नहीं सुंदरी, उदयो जस जसवंत।

—यह शारदीय चन्द्र नहीं है, यह तो राजा जसवंत सिंह का शुभ्र यश है।

इस तरह जब स्पष्टतः **नहीं, न, कदापि नहीं, असंभव है इसका होना** इत्यादि शब्दों का प्रयोग हो तो स्पष्टतः निषेध का भाव व्यक्त हो जाता है। इसीलिए ऐसे वर्णनों में शाब्दी अपह्नुति माननी चाहिए।

शुद्धापह्नुति, हेत्वपह्नुति, पर्यस्तापह्नुति, भ्रान्तापह्नुति आदि भेद की कल्पना मुझे व्यर्थ जान पड़ती है। इन्हें शाब्दी अपह्नुति के ही रूप-प्रकार मानना चाहिए और अलग से इनके भेद की सत्ता अस्वीकृत करनी चाहिए।

आर्थी अपह्नुति

जहाँ छल, कपट, मिस या व्याज से उपमेय का निषेध किया जाय तथा उपमान को प्रतिष्ठित किया जाय, वहाँ आर्थी अपह्नुति होती है। उदाहरण—

श्रीकृष्ण के सुन वचन अर्जुन क्रोध से जलने लगे,
सब शोक अपना भूलकर करतल युगल मलने लगे।
मुख बाल-रवि-सम लाल होकर ज्वाल-सा बोधित हुआ,
प्रलयार्थ उनके मिस वहाँ क्या काल ही क्रोधित हुआ?

—श्रीकृष्ण के प्रेरक उपदेश सुनकर अर्जुन दुश्मनों के प्रति क्रुद्ध हो उठे। ऐसा लगा कि वह अर्जुन का क्रुद्ध रूप नहीं था, वह तो अर्जुन के बहाने साक्षात् 'काल' ही प्रकट हो गया था और क्रोधाभिभूत हो रहा था।

यहाँ अर्जुन का निषेध स्पष्ट शब्द में नहीं है। फिर भी 'मिस' शब्द से अर्जुन का निषेध ही प्रकट होता है। इसलिए ही जहाँ शब्दतः निषेध न हो किन्तु भाव निषेध का हो, वहाँ आर्थी अपह्नुति ही मानी जाती है।

तेरे ही भुजनि पर भूतल को भार,
कहिबे को सेसनाग, दिगनाग हिमाचल है।

—'शिवराज-भूषण'

—भूषण शिवाजी की प्रशस्ति में कह रहे हैं कि—हे शिवराज, तेरी ही भुजाओं पर इस भूतल का भार है; लोग तो यों ही शेषनाग, दिङ्नाग और हिमाचल को भूतल का भार सँभालने वाले बताते हैं। इस तरह शेषनाग, दिङ्नाग और हिमाचल का निषेध है—पर यह निषेध शब्दतः कथित नहीं है। अतः यहाँ आर्थी अपह्नुति है।

छेकापह्नुति और कैतवापह्नुति को आर्थी अपह्नुति का रूपान्तर या अंग मानना चाहिए।

सार

जब पूर्वोक्त वस्तु की तुलना में उत्तरोत्तर वर्णित वस्तु का उत्कर्ष या अपकर्ष वर्णित हो तब सार अलंकार होता है।

इस अलंकार की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसके द्वारा पहले कहे गये पदार्थों की तुलना में उत्तरोत्तर कहे गये पदार्थों का बढ़ना या घटना वर्णित किया जाता है। उदाहरण के लिए ये पंक्तियाँ ध्यान देने योग्य हैं—

पर्वत ऊँचे हैं, परन्तु हरिपद उनसे भी ऊँचे हैं।
लेकिन सन्त हृदय उनसे भी बढ़कर अतिशय ऊँचे हैं।

इस उदाहरण में पहले तो पर्वत का उत्कर्ष वर्णित है, फिर अन्त तक आते-आते सन्त-हृदय का उत्कर्ष और पर्वत का प्रकारान्तर से अपकर्ष वर्णित किया गया है।

इस दृष्टि से गीता का उदाहरण द्रष्टव्य है—

भगवान् ने कहा—सृष्टि के सभी जीव मुझे प्रिय हैं; उनमें मनुष्य, मनुष्यों में द्विज, द्विजों में वेदज्ञ, वेदज्ञों में वेदविधि से व्यवहार करने वाले, उनमें भी विरक्त, विरक्तों में भी ज्ञानी और ज्ञानी से भी अधिक मुझे भक्त प्रिय हैं।

इस उदाहरण में भक्त की महिमा उत्तरोत्तर बढ़ती दिखलायी गयी है।

पहले इस अलंकार को उत्कर्ष-वर्णन तक ही सीमित रखा गया था। बाद में पंडितराज जगन्नाथ ने अपकर्ष-वर्णन भी इस अलंकार के अंतर्गत मान लिया।

इस अलंकार की मूल प्रकृति पर विचार कर लेना अपेक्षित है। 'सार' शृंखलामूलक अर्थालंकार के वर्ग में माना जाता है। इस वर्ग में पदार्थों का सुशृंखलित वर्णन होता है। कारणमाला, एकावली और सार—इन तीनों अलंकारों में शृंखला-विधान की समानता है। पर तीनों की भेदक-प्रवृत्ति यह है कि कारणमाला में कार्य-कारण की शृंखला होती है, एकावली में विशेष्य-विशेषण पदों की शृंखला होती है और सार में उत्कर्ष-अपकर्ष के पदार्थों की शृंखला होती है।

राम की कोमलता के वर्णन की दृष्टि से यह दोहा सार का ही उदाहरण है :

मखमल ते कोमल महा, कदलि गरभ को पात।
ताहू ते कोमल अधिक, राम तुम्हारे गात॥

—मखमल से भी कोमल केले के उगते हुए पत्ते हैं; फिर उनसे भी कोमल राम का गात है। राम के गात की कोमलता, पूर्वोक्त वस्तुओं की तुलना में अधिक है।

अपकर्ष-वर्णन में भी सार अलंकार होता है। इसका उदाहरण रहीम का यह दोहा है—

रहिमन वे नर मर चुके जे कहुँ माँगन जाहिं।
उनते पहले वे मुए जिन मुख निकसत नाहिं।।

—वे मनुष्य तो मृतक हैं, जो भिक्षा माँगते हैं; फिर उनसे भी मरे हुए वे हैं जो नहीं देते। इस तरह अपकर्ष-वर्णन से भी शृंखला-विधान होता है।

तुलसी की ये पंक्तियाँ भी सार का उदाहरण हैं—

अधम तें अधम अधम अति नारी।
तिन महँ मैं मतिमन्द अघारी।।



यथासंख्य या क्रम

जहाँ पूर्ववत् क्रम द्वारा कुछ वस्तुओं का उनसे सम्बद्ध वस्तुओं, गुणों या क्रियाओं का वर्णन हो, वहाँ यथासंख्य अलंकार होता है।

यथासंख्य शब्द का अर्थ है—उसी संख्या में, उसी क्रम में। अँगरेजी में इसे Relative order कहते हैं। याद रखने की बात यह है कि पहले कुछ वस्तुओं का उल्लेख होता है, फिर क्रमशः उनसे सम्बन्धित वस्तुओं या गुणों या क्रियाओं का वर्णन होता है। तात्पर्य यह कि पूर्वकथित पदार्थों का बाद के पदार्थों या गुणों से क्रमशः सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। यह सम्बन्ध स्थापित करना और क्रमशः स्थापित करना ही— इस अलंकार का मुख्य चमत्कार है। क्रमबद्ध वर्णन-शैली ही इस अलंकार की विशेषता मानी जा सकती है।

यथासंख्य अलंकार की उपयोगिता समझने के लिए **काव्यदोष** की जानकारी आवश्यक है। काव्यदोष के प्रसंग में क्रमभंग को भी दोष के अंतर्गत गिना गया है। इसी क्रमभंग के दोष से बचने के लिए आलंकारिकों ने **यथासंख्य** अलंकार की कल्पना की है। जहाँ क्रमभंग न हो, वस्तुओं का क्रमबद्ध वर्णन हो और उस वर्णन में चमत्कार हो— वहाँ यह अलंकार माना जाता है। पर यह चमत्कार पूर्व-कथित पदार्थों के साथ बाद में वर्णित पदार्थों या गुणों के पारस्परिक और क्रमपूर्ण सम्बन्ध पर ही आधारित है। इसलिए सम्बन्ध-स्थापन भी स्मरणीय तथ्य है।

यह वाक्य-न्यायमूल अलंकार माना जाता है, क्योंकि पूर्वनिर्दिष्ट पदार्थों का पश्चात्-निर्दिष्ट पदार्थों के साथ क्रम से सम्बन्ध स्थापित करना वाक्य-शोभा है।

इस अलंकार का यह उदाहरण प्रसिद्ध है—

अमी हलाहल मद भरे सेत स्याम रतनार।
जियत मरत झुकि-झुकि परत जेहि चितवत इकबार।।

—आँख का बड़ा चमत्कारपूर्ण वर्णन है। अमृत, विष और मद से आँखें भरी हैं। जब ये देखती हैं तो लोग जीवित हो उठते हैं (अमृत के कारण), मर जाते हैं (विष के कारण) और झुक-झुक पड़ते हैं यानी मदहोश हो जाते हैं (मद के कारण)। इस तरह आँखों में मौजूद अमृत, विष और मद का क्रम से जीना, मरना और झुक-झुक पड़ना—वर्णित किया गया है।

'प्रियप्रवास' में हरिऔध जी ने भी इस प्रकार की वर्णन-शैली का चमत्कार दिखाया है—

वसन्त ने सौरभ ने पराग ने,
प्रदान की थी अति कान्त भाव से,
वसुन्धरा को पिक को मिलिन्द को
मनोज्ञता मादकता मदान्धता।

—वसन्त ने वसुन्धरा को मनोज्ञता प्रदान की, सौरभ ने पिक को मादकता प्रदान की और पराग ने मिलिन्द को मदान्धता प्रदान की।

यहाँ भी यथाक्रम वर्णन है और इसीलिए इसमें यथासंख्य अलंकार का चमत्कार है।

कारणमाला अथवा गुम्फ

जहाँ पूर्वोक्त पदार्थ का उत्तरोत्तर वर्णित पदार्थ से कार्य-कारण भाव सम्बन्ध हो, वहाँ कारणमाला होती है।

नाम से ही स्पष्ट है कि इसमें कारणों की माला होती है। पहले कहे गये पदार्थ, बाद में वर्णित पदार्थों के कारण होते हैं। इसलिए पूर्व-पद में कारणों का उल्लेख होता है और उत्तर-पद में कार्यों का उल्लेख होता है।

कार्य-कारण की शृंखला बनाना ही इस अलंकार की वर्णनशैली का उद्देश्य है। आचार्यों ने इस अलंकार को हेतुमाला अथवा गुम्फ भी कहा है।

इस अलंकार की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि किसी कारण से किसी कार्य का होना कहा गया, इसके बाद उस कार्य को आगे के कार्य का कारण बतलाया गया— इस तरह शृंखला बनती चली गयी। इस शृंखला में दो या दो से अधिक कारण-कार्य का उल्लेख आवश्यक है। आचार्य केशवदास ने अपने काव्य-निर्णय में ये उदाहरण दिये हैं—

होत लोभ ते मोह, मोहौ ते उपजै गरव।
गरब बढ़ावै कोह, कोह कलहै, कलहौ बिथा॥

—लोभ से मोह होता है, मोह से गर्व होता है, गर्व से क्रोध (कोह) होता है, क्रोध से कलह और कलह से व्यथा।

यहाँ स्पष्टतः कारणों की माला है तथा उन कारणों के कार्य भी कहे गये हैं। इस तरह यहाँ कारणमाला अलंकार है।

विद्या ते उपजै बिनै, बिनै जगत-बस होत।
जगत भएँ बस धन मिलै, धन ते धरम होत॥

—विद्या से विनय की उत्पत्ति होती है, विनय से जगत वशीभूत होता है, जगत के वश में होने से धन मिलता है और धन होने से ही धर्म होता है।

गोस्वामी तुलसीदास की ये पंक्तियाँ भी कारणों की माला उपस्थित करती हैं—

धर्म तें बिरति योग तें ज्ञाना। ज्ञान मोक्ष-प्रद बेद बखाना॥
बिनु सत्संग न हरि कथा,
तेहि बिनु मोह न भाग।

मोह गये विनु राम पद,
होय न दृढ़ अनुराग ।।
बिनु विश्वास न भगति नहिं,
तेहि बिनु द्रवहि न राम ।
राम कृपा विनु सपनेहुँ,
जीव न लह बिस्राम ।।

कारणमाला का यह उदाहरण अत्यन्त छोटा है, पर चमत्कार की दृष्टि से पूर्ण है—

सतसंग तें वैराग है, ताते मन संतोष ।
संतोषहि तें ज्ञान है, होत ज्ञान तें मोष ।।

—सत्संग से वैराग्य होता है, वैराग्य से मन को संतोष मिलता है, मानसिक संतोष से ज्ञान मिलता है और ज्ञान से ही मोक्ष मिलता है ।

एकावली

जहाँ पूर्वोत्तर कथित प्रत्येक वस्तु का विशेष्य-विशेषण-भाव से समर्थन या निषेध हो, वहाँ एकावली अलंकार माना जाता है।

एकावली शब्द का अर्थ है— एक लड़ी, एक माला। हार या लड़ी में हरेक दाने एक-दूसरे से जुड़े होते हैं, फिर भी वे अलग-अलग होते हैं। इसी तरह एकावली अलंकार भी होता है।

इसमें दो वस्तुओं में विशेषता दिखलाकर उनमें भिन्नता या सम्बन्ध प्रकट किया जाता है।

यहाँ विशेषण शब्द व्याकरण के पारिभाषिक शब्द से थोड़ा भिन्न है। इस अलंकार में विशेषण केवल विशेषता ही नहीं बतलाता, बल्कि एक वस्तु को अन्य से भिन्न भी करता है या सम्बन्ध भी बतलाता है। एकावली के प्रसंग में विशेषण का शब्दार्थ है विशेषता बतलाने वाला, दो वस्तुओं में सम्बन्ध स्थापित करने वाला और भिन्नता बतलाने वाला।

विशेष्य-विशेषण पदों की शृंखला से ही इस अलंकार का चमत्कार प्रस्फुटित होता है।

बन्धु वही जो विपत्ति हरै औ विपत्ति वही जो वीर बनावै।
वीर वही अपने तन को धन को मन को पर हेत लगावै॥

यहाँ **बन्धु** विशेष्य है, **विपत्ति हरने वाला** उसका विशेषण है; फिर **विपत्ति** विशेष्य है और **वीर बनाने वाली** उसका विशेषण है; फिर **वीर** विशेष्य है और **पर हेतु लगाने वाला** विशेषण है।

इस तरह यहाँ विशेष्य पद का विशेषण पदों से समर्थन होता है और विशेष्य-विशेषण की शृंखला बनती चली जाती है। अतः यहाँ एकावली अलंकार है।

मानुष वही जो हो गुनी, गुनी जो कोविद रूप।
कोविद जो कविपद लहै, कवि जो उक्ति अनूप॥

यहाँ पहले **मानुष** विशेष्य है और **गुनी** विशेषण है; बाद में **गुनी** ही विशेष्य हो जाता है और **कोविद रूप** उसका विशेषण हो जाता है; फिर **कविपद पर शोभित**

होने वाला विशेषण हो जाता है और **कोविद** रूप विशेष्य हो जाता है। अंत में **उक्ति अनूप वाला** विशेषण हो जाता है और **कवि** विशेष्य हो जाता है। यहाँ विशेषण के द्वारा विशेष्य का समर्थन किया गया है।

इस तरह अनेक वस्तुएँ विशेषण-विशेष्य भाव से शृंखलित हो गयी हैं और एकावली के चमत्कार की सृष्टि कर रही हैं।

ये दोनों उदाहरण विशेषण के द्वारा समर्थन की दृष्टि से उदाहृत किये गये हैं। पर निषेध की दृष्टि से उदाहरण ध्यान देने योग्य है—

गेह न कछु जहँ तनय नहिं,तनय न विनय-विहीन।
विनय न कछु विद्या विना, विद्या बुधि बिन खीन।।

—वह घर नहीं, जिसमें पुत्र न हो; वह पुत्र नहीं, जिसमें विनय न हो; वह विनय भी कुछ नहीं जो विद्या-रहित हो और वह विद्या भी कुछ नहीं जो बुद्धि से रहित हो। इस तरह विशेषण पदों के द्वारा विशेष्य का निषेध करके एक माला तैयार की गयी है। अतः यहाँ निषेधयुक्त एकावली है।

एकावली के अन्य उदाहरण : कुछ विचार

वृन्दावन में नव मधु आया, मधु में मन्मथ आया।
उसमें तन, तन में मन, मन में एक मनोरथ आया।।
—मैथिलीशरण गुप्त

इस उदाहरण में पहले वाक्य के **नव मधु** को छोड़कर अन्य किसी भी स्थल पर विशेष्य-विशेषण भाव से कोई भी शब्द नहीं आया है। तब फिर इस उदाहरण को हम एकावली का उदाहरण कैसे मानें ?

जैसे प्याज के एक छिलके को हटाने पर दूसरा छिलका निकलता है, फिर दूसरे के बाद तीसरा निकलता है, तीसरे के बाद चौथा निकलता है—कुछ इसी तरह से इस अलंकार के ऐसे उदाहरणों में पाया जाता है।

नदी में नाव, नाव में डोली, डोली में परवतिया-जैसे कथन में चमत्कार है, पर यह चमत्कार एकावली का उदाहरण कैसे माना जा सकता है ?

आचार्य रामदहिन मिश्र ने गुप्तजी का उपर्युक्त उदाहरण इसी अलंकार के अंतर्गत उद्धृत किया है। एक के भीतर दूसरा, दूसरे के भीतर तीसरा, तीसरे के भीतर चौथा— ऐसी वस्तु-योजना एकावली का उदाहरण नहीं बन सकती।

अगर 'चन्द्रालोक' के रचयिता जयदेव की परिभाषा मानी जाय, तभी यह उदाहरण इस अलंकार के अन्तर्गत आ सकेगा। चन्द्रालोककार ने **आधार-आधेय भाव**

का क्रम से वर्णन कर शृंखला बनाने को एकावली कहा है। इस परिभाषा को ध्यान में रखने पर सुमित्रानन्दन पंत की ये पंक्तियाँ एकावली का उदाहरण हो सकती हैं—

आज वन में पिक, पिक में गान,
विटप में कलि, कलि में सुविकास,
कुसुम में रज, रज में मधुप्राण।
सलिल में लहर, लहर में लास।

प्रत्यनीक

यह लोकन्यायमूल अर्थालंकार है।

प्रतिपक्षी के अपकार में असमर्थ व्यक्ति द्वारा उसके सम्बन्धी का तिरस्कार जहाँ हो, वहाँ प्रत्यनीक अलंकार होता है।

प्रति + अनीक = प्रत्यनीक। प्रति = प्रतिनिधि। अनीक = सैन्य। सेना का प्रतिनिधि—अर्थात् प्रतिपक्षी के सम्बन्धी का तिरस्कार। इस अलंकार का विवेचन रुद्रट से प्रारंभ हुआ है।

आचार्य मम्मट ने इसका लक्षण दिया है—

प्रतिपक्षमशक्तेन प्रतिकर्तुं तिरस्क्रिया।
या तदीयस्य तत् स्तुत्यै प्रत्यनीक तदुच्यते ॥

(काव्यप्रकाश : १०-१२९)

अर्थात् प्रतिपक्षी से प्रतिकार में अशक्त प्रतिपक्षी के द्वारा यदि उसके सम्बन्धी का तिरस्कार स्तुति में पर्यवसित हो, तो प्रत्यनीक अलंकार होता है।

आचार्य विश्वेश्वर ने मम्मट की परवर्त्ती टिप्पणी की व्याख्या का हिन्दी रूपान्तर करते हुए लिखा है—अपना तिरस्कार करने वाले प्रतिपक्षी का भी साक्षात् अपकार करने में असमर्थ किसी व्यक्ति के द्वारा उसी प्रतिपक्षी के **उत्कर्ष सम्पादनार्थ जो उसके आश्रित का तिरस्कार** करना है—वह सेना के प्रतिनिधि के तुल्य होने से—प्रत्यनीक अलंकार कहलाता है। जैसे सेना के ऊपर आक्रमण करने के अवसर पर किसी के द्वारा मूर्खता से उसके प्रतिनिधिभूत दूसरे पर आक्रमण कर दिया जाता है, उसी प्रकार यहाँ प्रतिपक्षी को विजय करने के स्थान पर उसके सम्बन्धी दूसरे की विजय की जाती है—इसीलिए इस अलंकार की प्रत्यनीक—अन्वर्थ संज्ञा है। आचार्य विश्वनाथ ने भी मम्मट के लक्षण को स्वीकार किया है तथा प्रत्यक्ष शत्रु के उत्कर्ष के लिए उसके सम्बन्धी के तिरस्कार में इस अलंकार की स्थिति मानी है।

प्रत्यनीकमशक्तेन प्रतीकारे रिपोर्यदि।
तदीयस्य तिरस्कारस्तस्यैवोत्कर्ष साधकः।

(साहित्यदर्पण)

अर्थात् प्रधान शत्रु के तिरस्कार करने में असमर्थ होने से यदि उसके किसी सम्बन्धी

का तिरस्कार किया जाय जिससे शत्रु या प्रतिपक्ष का ही उत्कर्ष प्रकट होता हो, तो प्रत्यनीक अलंकार होता है।

पंडितराज जगन्नाथ ने इस अलंकार को हेतूत्प्रेक्षा से अभिन्न माना है। परन्तु उनका यह कथन आलंकारिकों की दृष्टि में समीचीन नहीं है। चूँकि इस अलंकार में हेतूत्प्रेक्षा से भिन्न ढंग का चमत्कार देखा जाता है, वह चमत्कार तिरस्कार की ध्वनि से और भी प्रभावपूर्ण हो उठता है। अतः इसे स्वतंत्र अलंकार के रूप में स्वीकृति मिली है। सेठ कन्हैयालाल पोद्दार ने इस अलंकार की दो स्थितियाँ मानी हैं—चूँकि

प्रत्यनीक में शत्रु के सम्बन्धी दो प्रकार के होते हैं—

१. साक्षात् सम्बन्धी अर्थात् शत्रु के साथ साक्षात् सम्बन्ध रखने वाले का तिरस्कार किया जाना।

२. परम्परागत सम्बन्धी अर्थात् शत्रु के सम्बन्धी के साथ सम्बन्ध रखने वाले का तिरस्कार किया जाना।

साक्षात् सम्बन्धी का तिरस्कार

अपने रम्य रूप से तुमने विगलित दर्प किया कन्दर्प,
रहती है अनुरक्त तुम्हीं में वह रमणी रमणीय सदर्प,
कुसुमायुध निज सुमन-शरों से सज्जित कर पुष्पों का चाप,
चलता है वश नहीं आप पर अतः दे रहा उसको ताप।

—नायक से दूती कह रही है—हे नायक, तुमने अपने सुन्दर रूप से तो कामदेव को भी पराजित कर दिया, यानी कामदेव तुम्हें पराजित करने में असमर्थ हो गया। तुममें अनुरक्त रहने वाली नायिका को इसीलिए वह कामदेव सता रहा है; दुःख दे रहा है, संतप्त कर रहा है।

यहाँ नायक को संतप्त करने में असमर्थ कामदेव, नायक से साक्षात् सम्बन्ध रखने वाली नायिका को संतप्त कर रहा है।

इसी भाव की अभिव्यक्ति भिखारीदास के दोहे में है। प्रसंग उसमें कुछ परिवर्त्तित है। उपर्युक्त उदाहरण में दूती-वाक्य है नायक के प्रति; निम्नोक्त कथन में नायिका अपनी सखी से कह रही है—

मदन गरब हर हरि कियो, सखि परदेस पयान।
वहै वैर नाते अली, मदन हरत मो प्रान॥

इसमें भी साक्षात् सम्बन्धी का तिरस्कार द्योतित है।

परम्परागत सम्बन्धी का तिरस्कार

तो मुख-छवि सौं हारि जग, भयो कलंक समेत ।
सरद-इन्दु अरविन्द-मुखि ! अरबिन्दनि दुःख देत ।।

—यहाँ मुख्य कथन यह है कि हे नायिका, तुम्हारे मुख की छवि से चन्द्रमा पराजित होकर कलंकी हो गया है । इसीलिए मुख के साथ हमेशा सादृश्य-रूप में आने वाले परम्परागत कमल को वह चन्द्रमा दुःख दे रहा है ।

यहाँ मुख के परम्परागत सम्बन्धी कमल का चन्द्रमा के द्वारा तिरस्कार सूचित किया गया है ।

मित्र-पक्ष में प्रत्यनीक

प्रत्यनीक अलंकार की एक और भी स्थिति मानी गयी है । वह यह कि जब मित्र-पक्ष वालों के साथ मित्रता का व्यवहार हो तो प्रत्यनीक अलंकार होता है । भिखारीदास ने मित्र-पक्ष से मित्रता के व्यवहार का उदाहरण दिया है—

'रावरे अंग को रंग बिचारि तमाल की डार भुजा भरि भेंटति ।'

—गोपियाँ कृष्ण के रंग से मिलती-जुलती हुई तमाल लता का आलिंगन कर रही हैं ।

नायक-नायिका-प्रसंग में इस अलंकार की खपत रीतिकाल के कवियों द्वारा सरेआम हुई थी ।



प्रस्तुतांकुर

प्रस्तुत से प्रस्तुत की प्रतीति में प्रस्तुतांकुर अलंकार होता है।

इसे आचार्यों ने अप्रस्तुतप्रशंसा की जाति का अर्थालंकार माना है। इस अलंकार की प्रतिष्ठा करने वाले अप्पय दीक्षित हैं। अप्पय दीक्षित ने 'कुवलयानन्द' में इसका स्वरूप स्थिर करते हुए लिखा है—

"प्रस्तुतेन प्रस्तुतस्य द्योतने प्रस्तुतांकुरः।"

(हिन्दी 'कुवलयानन्द' : डॉ० भोलाशंकर व्यास, पृ० ११५)

—अर्थात् प्रस्तुत से प्रस्तुत के द्योतन को प्रस्तुतांकुर कहते हैं। अप्पय दीक्षित ने इस अलंकार की कल्पना करते हुए यह आधार निश्चित किया कि इसमें दोनों प्रस्तुत तुल्य-बल होते हैं; वाच्य और प्रतीयमान—दोनों अर्थ प्रस्तुत होते हैं, समासोक्ति की तरह एक गौण और एक प्रधान नहीं। प्रस्तुतांकुर का अर्थ है—प्रस्तुत के बीज से फूट निकलने वाला प्रस्तुत-प्ररोह। अप्पय दीक्षित ने इसका उदाहरण दिया है—

किं भृंग ! सत्यां मालत्यां केतक्या कंटकेद्धया।

(हिन्दी-रूप)

क्यों रे भ्रमर ! मालती के रहते,
काँटों भरी केतकी पर उड़ते ?

—यहाँ नायक-नायिका दोनों उद्यान में भ्रमण कर रहे हैं। नायिका पर नायक की अनुरक्ति कम हो गयी है। वह अन्य नायिका के प्रति अनुरक्त है या वेश्यागामी हो गया है। इस तथ्य को वह यों कहती है— क्यों रे भ्रमर ! मालती को छोड़ कर तुम काँटों-भरी केतकी (दुर्गुणों से युक्त अन्य नायिका) से विहार करने क्यों जाते हो ?

इसमें भ्रमर-प्रसंग प्रस्तुत है और नायक-प्रसंग भी प्रस्तुत है। इस तरह प्रस्तुत से ही प्रस्तुत की प्रतीति हो रही है।

सुवरन बरन सुवास जुत सरस दलनि सुकुमार।
चम्पकली कौं तजत अलि, तैंहीं होत गँवार।।

('ललित ललाम' से उद्धृत)

पंडितराज जगन्नाथ 'क्यों रे भ्रमर' में अप्रस्तुतप्रशंसा मानते हैं। चूँकि वह भ्रमर को अप्रस्तुत मानते हैं और इससे प्रस्तुत रूप नायक की प्रतीति हो रही है। प्रस्तुतांकुर के अस्तित्व को आलंकारिकों ने अस्वीकृत कर दिया है।

परिकर

यह सादृश्यगर्भ के गम्यौपम्याश्रय वर्ग का विशेषण-वैचित्र्यमूल अर्थालंकार है।

वक्ता का वांछित अभिप्राय प्रकट करने के लिए विशेषण का कथन परिकर अलंकार है।

परिकर शब्द का अर्थ है—उपकरण, शोभाकारक सामग्री, भाव या अभिप्राय के उत्कर्षक। विशेषण, इस दृष्टि से परिकर हैं। भाषा में वांछित शोभा उत्पन्न करने की सामग्री का कार्य विशेषण ही करते हैं। इसलिए इस अलंकार को परिकर कहा गया है।

इस अलंकार की विशेषता यह है कि विशेषण के प्रयोग में वाच्य-वाचक-भाव से अभिन्न चमत्कार की प्रधानता रहती है। आलंकारिक दृष्टि से परिकर में गौण व्यंग्यार्थ माना गया है। यह गौण व्यंग्यार्थ दो प्रकार का होता है— (१) वाच्यार्थ का उत्कर्षक गौण व्यंग्यार्थ, (२) वाच्यसिध्यङ्ग गौण व्यंग्यार्थ।

पहला गौण व्यंग्यार्थ वाच्य-वाचक-भाव से प्रतिपादित चमत्कारयुक्त अर्थ का उत्कर्षक होता है। दूसरा गौण व्यंग्यार्थ वाच्य-वाचक-भाव से प्रतिपादित चमत्कार की सिद्धि करके उसे अर्थ प्रदान करता है।

इस दृष्टि से परिकर अलंकार में दोनों प्रकार के गौण व्यंग्यार्थ होते हैं।

इस अलंकार का विवेचन रुद्रट से प्रारम्भ हुआ। आलंकारिकों में मम्मट, रुय्यक, विद्याधर तथा विश्वनाथ का एक स्वर से यह मत है कि इस अलंकार में एकाधिक विशेषणों के साभिप्राय कथन का चमत्कार रहता है। परन्तु पंडितराज जगन्नाथ ने इसका प्रत्याख्यान किया है तथा प्रमाणित किया है कि एक विशेषण के साभिप्राय कथन में भी कवित्वपूर्ण चमत्कार होता है। इसलिए विशेषणों की संख्या की सीमा परिकर के लिए बाध्यता नहीं है। यद्यपि पंडितराज जगन्नाथ ने यह स्वीकार किया है कि एकाधिक साभिप्राय विशेषणों के कथन में व्यंग्य की अधिकता रहती है तथा चमत्कार उत्कृष्ट होता है, फिर भी संख्या के बंधन को एक विशेषण का चमत्कार अतिक्रम कर जाता है।

कुछ आलंकारिक इस अलंकार की सृष्टि को व्यर्थता में पर्यवसित करते हुए बताते हैं कि यह अलंकार नहीं है बल्कि अभिप्रायहीन विशेषण के प्रयोग के अपुष्टार्थ दोष का परिहार है। पंडितराज जगन्नाथ के अनुसार यह तर्क गलत है।

अपुष्टार्थ दोष के परिहार का विषय है वाच्य-वाचक-भाव से अभिप्राययुक्त विशेषण का कथन तथा परिकर का विषय है वाच्य-वाचक-भाव से अभिन्न चमत्कारयुक्त साभिप्राय विशेषण का कथन जिसमें गौण व्यंग्यार्थ स्वतः स्फूर्त्त हो उठे।

आचार्य मम्मट ने इसका लक्षण दिया है— "विशेषणैर्यत्साकूतैरुक्तिः परिकरस्तु सः।" अर्थात् अभिप्राययुक्त विशेषणों (साकूत) के द्वारा किसी बात का कथन करना परिकर अलंकार है। अर्थात् विशेष्य का साभिप्राय विशेषणों से कथन परिकर अलंकार है। आचार्य विश्वनाथ के अनुसार—"उक्तैर्विशेषणैः साभिप्रायैः परिकरो मतः।" अर्थात् कहे गये विशेषण यदि विशेष अभिप्राय का बोध कराते हैं तो परिकर अलंकार होता है।

इस अलंकार का प्रसिद्ध उदाहरण निम्नांकित है—

कालिय दौन के पद-पखारनहार तू देवनदी ! निजधारन,
हौं भव-व्याकुल-डस्यो जननी ! करुना करि तू करु ताप निबारन।

—संसार-सर्प के द्वारा डँसे गये व्यक्ति की भव-पीड़ा से मुक्ति की प्रार्थना यहाँ व्यक्त है। श्रीगंगा से वह प्रार्थी कह रहा है कि हे गंगा, तुमने तो कालियदमन करने वाले अर्थात् सर्प का दमन करने वाले श्रीकृष्ण के चरणों को प्रक्षालित किया है। प्रकारान्तर से अर्थ हुआ कि सर्प का दमन करने वाले व्यक्ति की चरण-धूल से गंगा व्यक्ति की पीड़ा हर सकती है। गंगा विषमोचन करती है, विष धो देती है। तो इस भव-सर्प के द्वारा जिस मनुष्य को दंश लगा है, उसके विष को भी तो गंगा को धो देना चाहिए। इसलिए हे गंगा, इस विषभोगी व्यक्ति का विष तुम हर लो।

इस उदाहरण में 'कालिय दौन के पद-पखारनहार' विशेषणपद अपनी सार्थक शक्ति रखता है; इस विशेषण पद में वाच्यार्थ को उत्कर्ष प्रदान करने वाली व्यंजकता भी है। तथा, पूरी रचना में इस विशेषण पद से वक्ता एक विशेष प्रकार की प्रार्थना को अभिव्यक्त कर पाता है; गंगा का विशिष्ट स्तवन करता है। इसीलिए यहाँ गौण व्यंग्यार्थ का प्रथम भेद है तथा परिकर अलंकार है।

कलाधार द्विजराज तुम हरत सदा संताप,
मो अबला के गात क्यों जारत हो अब आप।

—विरह-विदग्धा नायिका चन्द्रमा को उलाहने दे रही है। वह कहती है कि हे (कांतियुक्त, द्विजश्रेष्ठ, तापहारक) चाँद, तुममें तो उपर्युक्त गुण हैं, फिर भी तुम इसके विपरीत मुझ अबला को जला क्यों रहे हो ?

इस उदाहरण में चन्द्रमा के जो विशेषण हैं वे विशेष-विशेष अभिप्रायों से व्यंजक हो उठे हैं; इनकी व्यंजकता उपालम्भ को और भी चमत्कारपूर्ण उत्कर्ष से पूर्ण कर देती है।

भाल में जाके कलानिधि है वह साहब ताप हमारे हरैगौ।
अंग में जाके विभूति भरी वही भौन में सम्पति भूरि भरैगौ।।

—भिखारीदास (काव्यनिर्णय)

क्यों न फिरै सब जगत मैं करत दिगविजै मार।
जाके दृग सामन्त है कुवलय जीतनहार।।

—'ललित ललाम'

इन दोनों उदाहरणों में विशेषण के साभिप्राय कथन से विशेष्य का रूप खड़ा किया गया है।

तद्गुण

स्वगुणत्याग से समीपस्थ पदार्थ या अप्रस्तुत के उत्कृष्ट गुण का ग्रहण जहाँ हो, वहाँ तद्गुण अलंकार माना जाता है।

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ के अनुसार इसकी परिभाषा है—

'तद्गुणः स्वगुणत्यागाद् अत्युत्कृष्टगुणग्रहः।'

तद्गुण शब्द का अर्थ है— किसी वस्तु में अन्य वस्तु के गुण का होना— तत्+गण = उसका गुण, अन्य वस्तु का गुण-ग्रहण। गुण शब्द का भी इसमें एक विशेष अभिप्राय है— रंग अथवा रूप। मम्मट ने भी इसका स्वरूप स्थिर करते हुए कहा है—

"तस्य अप्रकृतस्य गुणोऽत्तास्तीति तद्गुणः" (काव्यप्रकाश)

अर्थात् किसी वस्तु में दूसरी वस्तु (अप्रस्तुत या उपमान) का गुण होना। फिर मम्मट ने ही परिभाषा दी है—

'स्वमुत्सृज्य गुणं योगादत्युज्ज्वल गुणस्य यत्।
वस्तु तद्गुणतामेति भण्यते स तु तद्गुणः॥'
(काव्यप्रकाश : १०-१३७)

इस अलंकार को सर्वप्रथम रुद्रट ने अतिशय वर्ग के अंतर्गत उपस्थित किया था।

हिन्दी के आचार्य कवियों में 'रस-रहस्य' के लेखक श्री कुलपति मिश्र ने स्पष्ट परिभाषा दी है—

"अधिक और गुण जोग तें, निज तजि औरहि लेइ।
सोई तद्गुण जानिए, ताको गुण कहि देइ॥"

तद्गुण अलंकार की एक और स्थिति हो सकती है। वह यह कि स्पष्टतः दूसरे उत्कृष्ट पदार्थ के गुण-ग्रहण के बाद फिर अपना गुण ग्रहण किया जाता है, वहाँ भी तद्गुण अलंकार माना जाना चाहिए। अप्पय दीक्षित ने 'कुवलयानन्द' में ऐसी स्थिति में पूर्वरूप अलंकार माना है किन्तु सेठ कन्हैयालाल पोद्दार वहाँ भी तद्गुण अलंकार मानते हैं।

बिहारी के दोहे में तद्गुण की बड़ी सफल कांति वर्त्तमान है—

अधर धरत हरिकैं पड़त, ओठ-दीठि-पट-जोति।
हरित बाँस की बाँसुरी, इन्द्र-धनुष-रंग-होति॥

—ओठ का रंग लाल होता है, दृष्टि का श्वेत और पट का पीत— इन तीन रंगों के असर से बाँसुरी अपने रंग का त्याग कर देती है। हरे बाँस की बाँसुरी का रंग बदल जाता है। श्रीकृष्ण ओठ, दीठ और पीले वस्त्र— इन तीनों का उत्कृष्ट प्रभाव-मिश्रण करते हैं बाँसुरी के रंग में और बाँसुरी का रंग इन्द्रधनुषी हो जाता है।

हौं रीझी लखि रीझिहौं, छबिहिं छबीले लाल।
सोनजुही सी होत दुति, मिलत मालती माल॥

—चमेली की माला जब नायिका के अंगों के सन्निकट होती है तो नायिका की सुनहली अंगकांति के प्रभाव से मालती की माला सुन्दर श्वेत नहीं लगती बल्कि सोनजुही की तरह यानी सुनहली लगती है।

पन्तजी की इन पंक्तियों में भी तद्गुण की शोभा है—

यह ऊषा का नव विकास है,
जो रज को है रजत बनाता॥

—धूल के धूमिल या गंदे रंग पर सुबह की प्रकाशपूर्ण आभा के प्रभाव से धूल का रजत में बदल जाना कल्पित है।

तद्गुण अलंकार का प्रयोग रीतिकालीन कवियों ने रंगों के मिश्रण के लिए किया है। चित्र-योजना में रंग-मिश्रण बड़ा आवश्यक हो जाता है। रीतिकाल के दरबारों में, जहाँ हिन्दी के कवियों को दरबारी चित्रकारों तथा फारसी के कवियों से होड़ लेनी पड़ रही थी— रंगों की विभिन्न छायाओं का मेल बड़ा आवश्यक हो उठा था।

वर्ण-तरंगों से नायक-नायिका या किसी प्रकृत वस्तु की मोहक भंगिमा उपस्थित करने में रीतिकाल के कवियों ने कुशल चितेरे के रंग-परिज्ञान का परिचय दिया है। यह कार्य, तद्गुण अलंकार के शिल्प की पच्चीकारी से सहज संभव हो उठा था।

तद्गुण अलंकार कभी-कभी अपने प्रभाव से भ्रान्तिमान् अलंकार को भी जीवंत और शक्तिशाली बना देता है। बेनी प्रवीन ने इस तरह की रचना की है—

काल्हई गूँथि बबा कि सौं मैं, गजमोतिन की पहिरी अति आला।
आई कहाँ ते इहाँ पुखराज की, संग गई यमुना तट बाला।
न्हात उतारी हौं बेनी प्रवीन हँसै सुनि बैनन नैन रसाला।
जानत ना अँग की बदली, सब सों बदली बदली कहै माला।

—(बाबा की कसमें (सौंह) खाकर मैं कहती हूँ, अभी तो कल ही मैंने गजमोतियों

अतद्गुण

जहाँ समीपवर्त्ती वस्तु के गुण-ग्रहण की संभावना होने पर भी गुण न ग्रहण किया जाना वर्णित हो, वहाँ अतद्गुण अलंकार होता है।

इस अलंकार के नाम से ही स्पष्ट है कि यह तद्गुण के निषेध का अलंकार है। यह एक लोकन्यायमूल अर्थालंकार है।

इस अलंकार का प्रथम प्रयोग मम्मट ने किया है। उनके अनुसार—

'तद्रूपाननुहारश्चेदस्य तत्स्यादतद् गुणः' (काव्यप्रकाश : १०-१३८)

—अर्थात् प्रस्तुत के संसर्ग में आने पर भी प्रकृत का उसके गुण का अनुकरण न करना अतद्गुण अलंकार है। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ के अनुसार—

'तद्रूपाननुहारस्तु हेतौ सत्यप्यतद्गुणः' (सा० द०)

—अर्थात् संभव होने पर भी दूसरी वस्तु के गुण का न ग्रहण करना अतद्गुण अलंकार है। जयदेव ने 'चन्द्रालोक' में अतद्गुण का निम्नोक्त लक्षण-निरूपण किया है—

'संगताऽन्य गुणानंगीकारमाहुरतद्गुणम्'

—अर्थात् सामीप्य से किसी के गुण को अंगीकार न करना अतद्गुण है।

कुलपति मिश्र ने 'रस-रहस्य' में और भी स्पष्ट करते हुए लिखा है—

'संभव हू में नहिं गहै'।

अतद्गुण अलंकार की एक और स्थिति कल्पित की गयी है। वह यह कि किसी कारणवश जहाँ प्रकृत के द्वारा अप्रकृत के गुण की अनुकृति न हो। इस तरह अतद्गुण की दो स्थितियाँ हुईं।

१. जब अप्रकृत, प्रकृत के उत्कृष्ट गुण के समीप रहने पर भी उसे ग्रहण नहीं करता।

२. जब प्रकृत, अप्रकृत के उत्कृष्ट गुण के समीप रहने पर भी उसे ग्रहण नहीं करता।

श्री ब्रजरत्नदास ने 'अलंकाररत्न' नामक पुस्तक में इस तथ्य का स्पष्टीकरण कुछ भिन्न शब्दावली में किया है—

"१. जब अवर्ण्य वस्तु न्यून गुण होते तथा उत्कृष्ट गुण वाले वर्ण्य वस्तु के समीप होते भी उसका गुण ग्रहण नहीं करता।

२. जब वर्ण्य वस्तु अवर्ण्य वस्तु के समीप होते गुण ग्रहण नहीं करता।"
(जाने क्यों— वस्तु का व्यवहार पुल्लिग में किया गया है !)
पहली स्थिति में जो अतद्गुण होता है— उसका उदाहरण—

प्रिय अनुरागी ना भयो बसि रागी मन माँहि।

"अनुरक्त हृदय में बसने पर भी प्रिय अनुरक्त नहीं हुआ। यहाँ प्रिय अवर्ण्य वस्तु है और वर्ण्य अनुरागिणी का हृदय है। राग शब्द श्लिष्ट है जिसका अर्थ लाली भी है। प्रिय वैसे रागी मन में बसने पर, समीपवर्त्ती होने पर भी उसके गुण का ग्रहण नहीं करता, जैसा होना संभव था। रागी होना उत्कृष्ट गुण है और इसका असर होना चाहिए था, पर नहीं हुआ। अनुरागी न होना अर्थात् लाल न होना प्रिय की धवलता का द्योतक है, जो रंग के अभाव में न्यून गुण कहा जायगा।"

द्वितीय अतद्गुण का उदाहरण—

राजहंस नित रहत हैं गंग-जमुन की धार।
घटै बढ़ै नहीं सेतता रहै एक अनुहार॥

"यहाँ राजहंस वर्ण्य वस्तु है तथा गंगा-यमुना अवर्ण्य वस्तु हैं। गंगा का श्वेत तथा यमुना के कृष्णहरित जल का कोई प्रभाव राजहंस की श्वेतता (सेतता) या शुभ्रता पर नहीं पड़ता, न उसकी शुभ्रता बढ़ती है और न हरित रंग से घटती है, वह एक-सा बना रहता है।"

यहाँ पर विशेषोक्ति के कुछ लक्षण भी प्रकट हो रहे हैं। कारण के होते हुए भी कार्य का अभाव— विशेषोक्ति का लक्षण है। लेकिन यहाँ गुण-ग्रहण की संभावना है किन्तु गुण-ग्रहण होता नहीं— इसलिए विशेष चमत्कार की सृष्टि हो रही है। विशेषोक्ति और अतद्गुण के इस पार्थक्य को सदा ध्यान में रखना चाहिए।

तद्गुण

स्वगुणत्याग से समीपस्थ पदार्थ या अप्रस्तुत के उत्कृष्ट गुण का ग्रहण जहाँ हो, वहाँ तद्गुण अलंकार माना जाता है।

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ के अनुसार इसकी परिभाषा है—

'तद्गुणः स्वगुणत्यागाद् अत्युत्कृष्टगुणग्रहः।'

तद्गुण शब्द का अर्थ है— किसी वस्तु में अन्य वस्तु के गुण का होना— तत्+गण=उसका गुण, अन्य वस्तु का गुण-ग्रहण। गुण शब्द का भी इसमें एक विशेष अभिप्राय है— रंग अथवा रूप। मम्मट ने भी इसका स्वरूप स्थिर करते हुए कहा है—

"तस्य अप्रकृतस्य गुणोऽत्तास्तीति तद्गुणः" (काव्यप्रकाश)

अर्थात् किसी वस्तु में दूसरी वस्तु (अप्रस्तुत या उपमान) का गुण होना। फिर मम्मट ने ही परिभाषा दी है—

'स्वमुत्सृज्य गुणं योगादत्युज्ज्वल गुणस्य यत्।
वस्तु तद्गुणतामेति भण्यते स तु तद्गुणः॥'
(काव्यप्रकाश : १०-१३७)

इस अलंकार को सर्वप्रथम रुद्रट ने अतिशय वर्ग के अंतर्गत उपस्थित किया था।

हिन्दी के आचार्य कवियों में 'रस-रहस्य' के लेखक श्री कुलपति मिश्र ने स्पष्ट परिभाषा दी है—

"अधिक और गुण जोग लें, निज तजि औरहि लेइ।
सोई तद्गुण जानिए, ताको गुण कहि देइ॥"

तद्गुण अलंकार की एक और स्थिति हो सकती है। वह यह कि स्पष्टतः दूसरे उत्कृष्ट पदार्थ के गुण-ग्रहण के बाद फिर अपना गुण ग्रहण किया जाता है, वहाँ भी तद्गुण अलंकार माना जाना चाहिए। अप्पय दीक्षित ने 'कुवलयानन्द' में ऐसी स्थिति में पूर्वरूप अलंकार माना है किन्तु सेठ कन्हैयालाल पोद्दार वहाँ भी तद्गुण अलंकार मानते हैं।

विहारी के दोहे में तद्‌गुण की बड़ी सफल कांति वर्त्तमान है—

अधर धरत हरिकैं पड़त, ओठ-दीठि-पट-जोति ।
हरित बाँस की बाँसुरी, इन्द्र-धनुष-रंग-होति ।।

—ओठ का रंग लाल होता है, दृष्टि का श्वेत और पट का पीत— इन तीन रंगों के असर से वाँसुरी अपने रंग का त्याग कर देती है। हरे बाँस की बाँसुरी का रंग वदल जाता है। श्रीकृष्ण ओठ, दीठ और पीले वस्त्र— इन तीनों का उत्कृष्ट प्रभाव-मिश्रण करते हैं वाँसुरी के रंग में और वाँसुरी का रंग इन्द्रधनुषी हो जाता है।

हौं रीझी लखि रीझिहौं, छबिहिं छवीले लाल ।
सोनजुही सी होत दुति, मिलत मालती माल ।।

—चमेली की माला जब नायिका के अंगों के सन्निकट होती है तो नायिका की सुनहली अंगकांति के प्रभाव से मालती की माला सुन्दर श्वेत नहीं लगती बल्कि सोनजुही की तरह यानी सुनहली लगती है।

पन्तजी की इन पंक्तियों में भी तद्‌गुण की शोभा है—

यह ऊषा का नव विकास है,
जो रज को है रजत बनाता ।।

—धूल के धूमिल या गंदे रंग पर सुवह की प्रकाशपूर्ण आभा के प्रभाव से धूल का रजत में वदल जाना कल्पित है।

तद्‌गुण अलंकार का प्रयोग रीतिकालीन कवियों ने रंगों के मिश्रण के लिए किया है। चित्र-योजना में रंग-मिश्रण वड़ा आवश्यक हो जाता है। रीतिकाल के दरवारों में, जहाँ हिन्दी के कवियों को दरबारी चित्रकारों तथा फारसी के कवियों से होड़ लेनी पड़ रही थी— रंगों की विभिन्न छायाओं का मेल वड़ा आवश्यक हो उठा था।

वर्ण-तरंगों से नायक-नायिका या किसी प्रकृत वस्तु की मोहक भंगिमा उपस्थित करने में रीतिकाल के कवियों ने कुशल चितेरे के रंग-परिज्ञान का परिचय दिया है। यह कार्य, तद्‌गुण अलंकार के शिल्प की पच्चीकारी से सहज संभव हो उठा था।

तद्‌गुण अलंकार कभी-कभी अपने प्रभाव से भ्रान्तिमान् अलंकार को भी जीवंत और शक्तिशाली वना देता है। वेनी प्रवीन ने इस तरह की रचना की है—

काल्हई गूँथि ववा कि सौं मैं, गजमोतिन की पहिरी अति आला।
आई कहाँ ते इहाँ पुखराज की, संग गई यमुना तट वाला।
न्हात उतारी हौं वेनी प्रवीन हँसै सुनि वैनन नैन रसाला।
जानत ना अँग की वदली, सव सों वदली वदली कहै माला।

—(वावा की कसमें (सौंह) खाकर मैं कहती हूँ, अभी तो कल ही मैंने गजमोतियों

की माला गूँथ कर पहिनी थी। लेकिन यह पुखराज की माला कहाँ से आ गयी? यमुना तट पर नहाते वक्त किसी की माला से बदल तो नहीं गयी?

उस बेचारी नायिका को यह पता नहीं है कि शरीर की पीताभ छाया के प्रभाव से गजमुक्तामाला का श्वेत रंग कुछ इस तरह बदल गया है कि उससे पुष्पराग मणियों की माला का भ्रम हो रहा है।

शरीर की पीताभ कांति के प्रभाव से श्वेत गजमुक्ता का रंग बदल गया है और इससे नायिका के मनोरम स्वर्णाभ रूप की द्युति-तरंग उठती है। भ्रांतिमान के मूल में तद्‌गुण की यह स्थिति सौंदर्य-समागम उत्पन्न कर रही है।

व्याघात

एक व्यक्ति किसी विशेष उपाय से जो कार्य सिद्ध करता है, दूसरा यदि उसी उपाय से उस कार्य को व्यर्थ कर दे तो व्याघात अलंकार होता है।

व्याघात शब्द का अर्थ है : विशेष प्रकार का आघात। यह विरोधमूलक अर्थालंकार है।

इस अलंकार में किसी विशेष उपाय से सिद्ध कार्य को उसी उपाय से व्यर्थ करने का वर्णन होता है, इसलिए एक प्रकार के आघात की ही कल्पना है।

इस अलंकार का विवेचन रुद्रट ने पहली बार किया। मम्मट ने रुद्रट के लक्षण के आधार पर इस अलंकार के पूर्ण व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा की। मम्मट का लक्षण है—

"यद्यथा साधितं केनाप्यपरेण तदन्यथा।
तथैव यद्विधीयते स व्याघात इति स्मृतः॥"

—अर्थात् किसी बात को कोई जिस तरह से सिद्ध करता है, उसे यदि उसी तरह से बिगाड़ दे तो व्याघात अलंकार होता है। जिस उपाय से एक व्यक्ति ने जिस किसी कार्य की सिद्धि की है, जिस किसी बात की पुष्टि की है, तो उस कार्य या वस्तु या बात को जीतने की इच्छा से दूसरा व्यक्ति यदि उसी उपाय से बदल डाले तो सिद्ध किये गये कार्य में व्याघात पड़ता है— इसीलिए इस अलंकार को व्याघात के हेतु-कथन के रूप में व्यवहृत किया जाता है।

आचार्य विश्वनाथ ने व्याघात का लक्षण दिया है—

"व्याघातः स तु केनापि वस्तु येन यथाकृतम्।
तेनैव चेदुपायेन कुरुतेऽन्यस्तदन्यथा॥"

—अर्थात् जो वस्तु किसी एक ने एक प्रकार से सिद्ध की है, दूसरा यदि उसी उपाय से उसी वस्तु को पहले से विपरीत कर दे तो व्याघात अलंकार होता है। जैसे शिवजी ने कामदेव को दृष्टि से ही जलाया किन्तु स्त्रियों ने उसे दृष्टि से ही जिलाया। यहाँ दृष्टि नामक उपाय-सा साधन दोनों में है—पहले में विनाश का कार्य है, दूसरे में उस विनाश के कार्य को अन्यथा कर दिया गया है। साधित वस्तु को उसी उपाय से विपरीत कर देने का वर्णन है— इसीलिए व्याघात है। आलंकारिकों ने इसके दो भेद माने हैं, किन्तु मेरा विचार है कि इसके दो भेद भेदमात्र के लिए होंगे।

इस अलंकार का एक प्रसिद्ध उदाहरण है, जिसकी रचना बिहारी ने की है—

बिथुरयो जावक सौति पग, निरखि हँसि गहि गाँस।
सलज हँसौंही लखि लियो, आधी हँसी उसाँस ।।

इस दोहे में बिहारी ने अन्य-संभोग-दुःखिता नायिका की द्विधाजड़ित विडम्बना चित्रित की है। नायिका अपनी सौत को देखती है तथा सौत के पैर में बिथुरे हुए महावर को देखती है। वह सोचती है कि यह मेरी सौत कैसी फूहड़ है ? उसे महावर लगाना तक नहीं आता ? यह देखकर तथा सोचकर वह नायिका हँसती है, अपनी सौत की फूहड़ रुचि पर कहकहे लगाती है।

लेकिन कनिष्ठा हँसती रही और ज्येष्ठा (सौत नायिका) सस्मित रही। नायक इन दोनों के बीच में लज्जा से गड़ा जा रहा था, इसीलिए कवि ने सलज कहा है। नायक को सलज्ज तथा ज्येष्ठा नायिका को 'हँसौंही' देखकर कनिष्ठा नायिका को वास्तविकता का अनुमान हुआ कि नायक ने उसकी सौत के पाँव में महावर लगाया है, महावर लगाते समय 'कंप' सात्त्विक अनुभाव के कारण नायक का यह कार्य अस्त-व्यस्त हो गया है। फिर यह भी अनुमान हुआ कि हो सकता है नायक नायिका को मनाने के लिए उसके पाँवों पड़ा हो, इसलिए जावक बिथुर गया है।

तब इन अनुमानों के कारण कनिष्ठा नायिका की हँसी आधी ही रह गयी और आधी हँसी उसाँस बन गयी। मतलब, वेदना से वह आह भरने लगी।

इस उदाहरण में 'बिथुरा जावक' जो पहले हँसी का कारण हुआ था, वही बिथुरा जावक खेद तथा अंतर्दाह का कारण हो गया है। इसलिए इसमें व्याधात अलंकार है।

लोभी धन संचय करै दारिद को डर मानि।
दास यहै डर मानिके दान देत है दानि ।।

—लोभी जिस दरिद्रता के भय से धन-संचय करता है, दानी भी इसी भय से धन-दान करता है। दरिद्रता का भय— दोनों में समान उपाय है, कारण है। लेकिन पहले के कार्य को दूसरे में अन्यथा दिखलाया गया है।

परिकरांकुर

साभिप्राय विशेष्य से प्रकृत अर्थ का अभिधान परिकरांकुर अलंकार है।

यह सादृश्यगर्भ के गम्यौपम्याश्रय वर्ग का विशेष्यमूल अर्थालंकार है। यद्यपि यह अलंकार परिकर की सीमा में ही अंतर्भूत है किन्तु परिकर जहाँ विशेषण के वैचित्र्य से चमत्कार उत्पन्न करता है, परिकरांकुर दूसरी ओर विशेष्य के साभिप्राय वैचित्र्य से चमत्कार उत्पन्न करता है। विशेष्य की ही निजी विच्छित्ति से अभिनव अर्थ-संकेत उत्पन्न करने की क्षमता इस अलंकार में मानी गयी है। जयदेव के 'चन्द्रालोक' में इस अलंकार की स्वीकृति है। परन्तु सुधासागरकार ने जयदेव की इस स्वाधीन स्वीकृति का खण्डन करते हुए यह कहा है कि इस अलंकार की स्थिति में भी परिकर का ही चमत्कार है। उनके अनुसार विशेषण के बिना विशेष्यांश में साभिप्रायता आ ही नहीं सकती। परिकरांकुर में विशेष्य का वैचित्र्यमूल तथा साभिप्राय कथन तो विशेषणों की ही सहायता से होता है। इसलिए परिकरांकुर परिकर से अभिन्न है।

इस शास्त्रीय विवाद में तथ्य है। फिर भी विशेष्य की अलग स्थिति होती है, इसे भुलाना सत्य से विमुख होना है। इस दृष्टि से परिकरांकुर की स्वतन्त्र स्थिति तो हो ही सकती है। 'चन्द्रालोक' के रचयिता जयदेव, विद्याधर और अप्पय दीक्षित इसकी स्वतंत्र स्थिति के प्रतिपादक हैं। जयदेव के अनुसार इसका लक्षण है—

"साभिप्राये विशेष्ये तु भवेत्।"

इस अलंकार के उदाहरण के रूप में यह रचना प्रसिद्ध है—

बामा भामा कामिनी कहि बोलौ प्रानेस।
प्यारी कहत लजात नहिं पावस चलत विदेस॥

—यहाँ विदेश-गमन को उद्यत नायक से नायिका कह रही है— प्यारी कहने में क्या आपको लज्जा नहीं आ रही, जब कि आप इस पावस ऋतु में विदेश जाने को प्रस्तुत हैं? यदि मैं आपकी प्यारी होती, यदि आप मुझे सचमुच अपनी 'प्यारी' समझते तो पावस में शृंगार-संयोग का अवसर आप मुझसे नहीं छीनते। इसलिए हे प्रियतम (प्राणेश), आप मुझे बामा (कुटिला), भामा (कोप करने वाली, क्रोध से प्रचंड बनी हुई) ही कहिए, न कि प्यारी।

इस तरह इस दोहे में **विशेष्य** का साभिप्राय कथन है। इसीलिए परिकरांकुर अलंकार है।

बाल बेलि सूखी सुखद, यहि रूखे रुख घाम।
फेरी डहडही कीजिए, सुरस सींचि घनश्याम॥

यहाँ विशेष्य पद घनश्याम को मुख्यता देने से कृष्ण का बादलमय रूप है, इसलिए परिकरांकुर है।

उन्मीलित

यह भी लोकन्यायमूल अर्थालंकार के अंतर्गत स्वीकृत है।

दो पृथक् वस्तुओं में सादृश्य से तिरोधान होने पर भी सकारण भेद की प्रतीति के वर्णन में उन्मीलित अलंकार होता है।

उन्मीलित स्पष्ट रूप से मीलित का विलोम या विपरीत है। मीलित का खुल जाना ही उन्मीलित है। किसी कारणवश तिरोभूत वस्तु अपने रूप या गुण की पृथक्ता स्पष्ट कर ही देती है। ऐसी स्थिति का वर्णन इस अलंकार में बड़ा ही मनोरम और चमत्कारपूर्ण हो उठता है।

इस अलंकार के अस्तित्व को सर्वप्रथम जयदेव के द्वारा स्वीकृति मिली। मम्मट ने इसे 'सामान्य' के अन्तर्गत स्वीकार किया है। अप्पयदीक्षित की स्थापनाओं को स्वीकार करते हुए जसवन्त सिंह ने 'भाषाभूषण' में इसे मान्यता दी है। अभेद होने पर भी किसी हेतु से भेद खुलने की बात मतिराम, पद्माकर तथा भूषण के द्वारा स्वीकृत है। भूषण की परिभाषा है—

"सदृश वस्तु में मिलत पुनि जानत कौनेहु हेत।"

विहारी ने इस अलंकार के द्वारा उपस्थित होने वाली वैचित्र्यपूर्ण कथनशैली और वर्णन-वक्रता का उदाहरण प्रस्तुत किया है—

मिलि चन्दन बेंदी रही, गोरे मुख न लखाय।
ज्यों-ज्यों मद लाली चढ़ै, त्यों-त्यों उघरत जाय॥

—गौरवर्ण नायिका के भाल पर चन्दन की बेंदी दीख नहीं पड़ती। परन्तु ज्यों-ज्यों उसके रूपधर्म में निहित मद या मदपान की लाली उभरती है, त्यों-त्यों चन्दन की बेंदी प्रकट होती जाती है, दीखने लग जाती है।

दीठि न परत समान द्युति, कनक कनक से गात।
भूषण कर करकस लगत, परस पिछाने जात॥

—कनकवर्णा नायिका के शरीर पर कनक के आभूषण— दोनों समान द्युति से एकाकार होकर पृथक् नहीं दीखते। परन्तु नायक जब नायिका का स्पर्श करता है, तो कनक के आभूषण कड़े-कर्कश लगते हैं, जिससे उनकी पृथक्ता प्रकट हो जाती है। आभूषण कड़े और अंग सुकोमल— इसी हेतु से पार्थक्य स्पष्ट होता है।

तुलसीदास के द्वारा प्रस्तुत सीता की रूप-कांति के वर्णन में चम्पक की माला और सीता के अंगों की चम्पक द्युति का अभेद है परन्तु फिर चम्पक की माला जब सूखती है तो भेद लक्षित हो जाता है—

चम्पक हरवा अंग मिलि, अधिक सुहाय।
जानि परै सिय हियरे, जब कुम्हिलाय॥

मीलित

यह लोकन्यायमूल अलंकार के अन्तर्गत माना गया है।

रूपगुण के सादृश्य से दो पृथक् वस्तुओं का एकाकार हो जाना जहाँ वर्णित हो, वहाँ मीलित अलंकार होता है।

मीलित शब्द का अर्थ है मिल जाना। इसमें एक वस्तु दूसरी वस्तु से इस प्रकार मिल जाती है, कि उसे मिलना नहीं, खो जाना कहेंगे। एक वस्तु अपने रूप या गुण से दूसरी वस्तु में तिरोहित हो जाती है। इसी तिरोधान के फलस्वरूप एक वस्तु का दूसरी वस्तु में स्वरूप दृष्टिगोचर नहीं होता। जैसे, नीर-क्षीर-न्याय से हम स्पष्ट कर सकते हैं कि पानी जब दूध में मिल जाता है, तो पानी की निर्मलता का पता नहीं चलता। पानी दूध में मिलकर अपने स्वतंत्र अस्तित्व के रंग का लोप कर देता है। इस अलंकार को पहचानने के लिए ध्यान देने की बात है कि इसमें

(क) दो पृथक् वस्तुएँ होती हैं।

(ख) दोनों पृथक् वस्तुओं के तुल्य रूप अथवा धर्म की प्रतिष्ठा की जाती है।

(ग) एक वस्तु स्वाभाविक होती है (प्रसंग-सापेक्ष) तथा दूसरी वस्तु आगन्तुक होती है।

(घ) इसी तुल्य-धर्म के परिणामस्वरूप दोनों में भेद लक्षित नहीं होता अर्थात् एक वस्तु के रूप-गुण या धर्म का दूसरी वस्तु में तिरोभाव दिखलाया जाता है।

इस अलंकार का प्रयोग रूप और भाव की निविड़ संवेदना के चित्रांकन के लिए हुआ है। बिहारी ने भावानुभूति के तीव्र संघात को प्रदर्शित करने के लिए इस अलंकार का विशेष प्रयोग किया है। इस अलंकार की कल्पना रुद्रट के मन में हुई। उन्होंने 'काव्यालंकार' में इसके स्वरूप की चर्चा की। मम्मट ने इस अलंकार के स्वरूप का स्पष्टीकरण किया है—

"समेन लक्ष्मणा वस्तु वस्तुना यन्निगूह्यते।
निजेनागन्तुना वापि तन्मीलितमिति स्मृतम् ॥"

अर्थात् जहाँ अपने स्वाभाविक अथवा आगन्तुक साधारण चिह्न से किसी के द्वारा वस्तु का आच्छादन कर दिया जाय, वह मीलित अलंकार है।

मम्मट के अनुसार तो स्वाभाविक तथा औपाधिक (आगन्तुक) के तुल्य-धर्म के वर्णन की दृष्टि से इसके दो भेद होते हैं। सहज तथा आगन्तुक भेद से ये दोनों

भेद स्वीकृत हैं। **विश्वनाथ के "साहित्यदर्पण"** में इसकी परिभाषा स्पष्टतर है—

"मीलितं वस्तुनो गुप्तिः केनचित् तुल्यलक्षणा।"

अर्थात् किसी तुल्य-लक्षण वस्तु से किसी अन्य वस्तु के छिप जाने पर मीलित अलंकार होता है।

आचार्य मम्मट द्वारा कल्पित इसके दो भेद विश्वनाथ ने भी स्वीकृत किये हैं। अतएव इसमें एक वस्तु का दूसरी वस्तु में तिरोभूत होना दो प्रकार का होता है (१)—स्वाभाविक लक्षण पर आधारित तथा (२) आकस्मिक लक्षणों पर आधारित।

आचार्य विश्वनाथ ने इसका उदाहरण बड़ा अच्छा दिया है—

सरस्वती ने पहचाना नहीं
विष्णु के वक्षःस्थल में लगी
लक्ष्मी के कुचस्थल की कस्तूरी का चिह्न।
(क्योंकि नीलकमल सदृश भगवान की शरीरकान्ति से वह एकरूप था।)

'कुवलयानन्द' के आधारों को ग्रहण करते हुए जसवन्त सिंह ने इसका लक्षण दिया है—

'मीलित सोई सादृश्यतें भेद जवै न लखाय।' (भारतभूषण)

जसवन्त सिंह ने जिसे सादृश्य कहा है, उसे ही मम्मट दो प्रकार का मानते हैं।

इस अलंकार का उदाहरण हिन्दी में एक-से-एक सुन्दर मिलता है। परन्तु विहारी के उदाहरण में नायिका की रूप-कान्ति और भी मनोरम हो उठी है।

स्वाभाविक तुल्य-धर्म से तिरोधान—

भई जु छवि तन वसन मिलि, बरनि सकै सु न बैन।
आँग ओप आँगी दुरी, आँगी आँग दुरै न।

इसमें नायिका के अंगों की कान्ति और अंगिया की चमक— दोनों मिलकर एकाकार हो रही है। नायिका की स्वाभाविक रूपकान्ति में अंगिया के रूप का तिरोभाव वर्णित किया गया है।

पानपीक अधरान में, सखी! लखी नहिं जाय।
कजरारी अँखियान में, कजरा री! न लखाय॥

—यहाँ नायिका के अधरों की सहज रक्तिम लालिमा में पान का रंग मिल गया है और कजरारी आँखों में काजल का रंग लुप्त हो गया है। इस तरह नायिका के अधरों तथा नेत्रों के स्वाभाविक धर्म में आगन्तुक वस्तुओं ने अपने को तिरोभूत कर दिया है।

वरन वास सुकुमारता, सब विध रही समाय।
पँखुरी लगी गुलाब की, गाल न जानी जाय॥

—नायिका के गुलाबी गालों से गुलाब की पंखड़ी सटी हुई है किन्तु पता ही नहीं चलता कि वहाँ गुलाब की पंखड़ी भी है ! इस तरह नायिका की गुलाबी मुख-कान्ति स्वाभाविक है, जिसमें गुलाब की पंखड़ी ने अपने को तिरोभूत कर दिया है।

आकस्मिक तुल्यधर्म से तिरोधान—

भिखारीदास ने आगन्तुक धर्मों के द्वारा स्वाभाविक वस्तु का लोप दिखाया है—

केसरिया पट कनक तन कनकाभरन सिंगार।
गत केसर केदार में जानी जाति न दार ॥

—केसरिया वस्त्र और कनक-आभरण के शृंगार में नायिका का कनकतन ऐसा एकाकार हो गया है कि नायिका का पता नहीं चलता। यहाँ आगन्तुक धर्म का चमत्कार है कि उसने स्वाभाविक को आत्मसात् कर तिरोभूत कर दिया है।

रीतिकाल में इस अलंकार के बड़े ही कवित्वपूर्ण प्रयोग मिलते हैं। यह बात दूसरी है कि नायिका की सजधज और रूप-तरंग के वर्णन में ही ऐसी अनूठी काव्य-शैली मँजी और निखरी।

अतिशयोक्ति का यह भेद-निरूपण बड़ा सैद्धान्तिक है। आचार्यों ने इस प्रसंग में एक व्यावहारिक बात कही है। उनके अनुसार अतिशयोक्ति के सभी भेदों में प्रकृत और अप्रकृत होते हैं; पर केवल रूपकातिशयोक्ति में उपमेय और उपमान होते हैं।

रूपकातिशयोक्ति

जहाँ उपमेय और उपमान का इतना अभेद वर्णित हो कि केवल उपमान का ही कथन किया जाय, वहाँ रूपकातिशयोक्ति होती है।

सवाल यह है कि इसे रूपकातिशयोक्ति क्यों कहते हैं? मेरे विचार से इसलिए कि इसमें रूपक की अतिशयोक्ति होती है। तात्पर्य यह कि रूपक में उपमेय और उपमान का अभेद कथन किया जाता है। पर रूपकातिशयोक्ति में यह अभेद इतना बढ़ जाता है कि **मुखचन्द्र** न कहकर केवल **चन्द्र** कहने से ही पूरा आशय प्रकट हो जाता है। रूपक में उपमेय और उपमान दोनों का स्पष्ट कथन होता है; पर रूपकातिशयोक्ति में केवल उपमान का ही प्रत्यक्ष कथन होता है, तथा उपमेय अप्रत्यक्ष रूप में विद्यमान रहता है। दूसरे शब्दों में रूपक में उपमेय-उपमान दोनों वाच्य रहते हैं; पर रूपकातिशयोक्ति में उपमान वाच्य होता है तथा उपमेय व्यंग्य।

रूपकातिशयोक्ति का चमत्कार इन विशेषताओं के कारण है—

१. इसमें उपमान के द्वारा उपमेय निगल लिया जाता है। मतलब यह कि इसमें उपमान का कथन होता है, उपमेय का नहीं।

२. इसमें उपमान कुछ ऐसा रमणीय एवं साम्ययुक्त होता है कि उसी से उपमेय का भी संकेत मिल जाता है।

३. इसमें गौणी साध्यवसाना लक्षणा होती है। फलतः, हर शब्द लाक्षणिक चमत्कार से युक्त होता है।

४. इस अलंकार में सबसे बड़ी शक्ति यह है कि पाठकों के मन में कवि के विषय को पाने की उत्कंठा उत्पन्न होती है। फलतः, पाठकों की कल्पना उत्तेजित होती है। इसलिए पाठकों को वर्ण्य विषय का पुनर्निर्माण (Recreation) करना पड़ता है।

५. इस अलंकार में जितने भी उपमान प्रयुक्त होते हैं, वे प्रायः रूढ़ प्रतीक (Symbols) ही होते हैं। इसलिए रूपकातिशयोक्ति का चमत्कार प्रतीक-योजना पर निर्भर करता है।

इसी प्रसंग में यह तथ्य भी उल्लेखनीय है कि यदि रूपकातिशयोक्ति में प्रसिद्ध उपमानों या रूढ़ उपमानों का व्यवहार न हुआ तो कविता दुरूह हो जाती है। कवि के निजी जटिल अनुभवों से सम्बद्ध उपमानों का यदि व्यवहार होता है तो वर्ण्य विषय स्पष्ट नहीं हो पाता और कविता की रमणीयता नष्ट हो जाती है।

१. कनक लतानि इन्दु इन्दु माहिं अरबिंद,
झरैं अरबिंदन तें बुंद मकरंद के।

मुस्लिम बेगमों की देह के लिए कनकलता, उनके मुख के लिए इन्दु, तथा नेत्रों के लिए अरविंद और आँसुओं के लिए मकरंद की बूँदों का प्रयोग हुआ है।

२. बाँधा है विधु को किसने इन काली जंजीरों से।
फणि वाले मणियों का मुख क्यों भरा हुआ हीरों से॥

मुख के लिए विधु, केशराशि के लिए काली जंजीरों का व्यवहार किया गया है।

३. अद्‌भुत एक अनूपम बाग।
जुगल कमल पर गजवर क्रीड़त, तापर सिंह करत अनुराग।

यहाँ चरण के बदले कमल, जाँघ के बदले गजवर तथा कटि के बदले सिंह का प्रयोग किया गया है।

भेदकातिशयोक्ति

जहाँ दो वस्तुओं में अभेद रहते हुए भी भेद दिखलाया जाता है, वहाँ भेदकातिशयोक्ति होती है।

मध्यकाल के कवियों ने 'औरे और' कहकर एक वस्तु के दो रूप दिखलाये हैं और उनमें भेद किया है। उदाहरण के लिए निम्नोक्त दोहा देखिए—

जब तें तन जौवन बढ़ौ, तब तें भई गति और।
नयन और, औरे नजर, रति औरे, मति और॥

कवि युवावस्था का वर्णन कर रहा है। वह कहता है कि युवावस्था आने पर नयन, नजर, रति और मति में परिवर्त्तन आ गये हैं। यहाँ भेद न होने पर भी भेद दिखलाया गया है; यद्यपि इस भेद-वर्णन से कविता का चमत्कार बढ़ता ही है।

अनियारे दीरघ दृगनि, किती न तरुनि समान।
वह चितवनि औरे कछू, जिहि बस होत सुजान॥

जिस चितवन से सज्जन वशीभूत हो जाते हैं, उस चितवन में कुछ और ही होता है। यहाँ भी चितवन-चितवन में 'औरे' शब्द से भेद प्रकट किया गया है।

इसी प्रकार **औरे और, न्यारी, औरे भये** इत्यादि शब्दों के द्वारा भेद-वर्णन किया जाता है। इस अलंकार की पहचान के ये बाहरी चिह्न हैं।

सम्बन्धातिशयोक्ति

जहाँ सम्बन्ध न हो, फिर भी सम्बन्ध बतलाया जाय, वहाँ सम्बन्धातिशयोक्ति होती है।

दो या दो से अधिक वस्तुओं में पारस्परिक योग न होते हुए भी योग की कल्पना करना इस अलंकार का चमत्कार है। जैसे—

छाले परिबे के डरनि, सकै न हाथ छुवाय।
झिझकति हिय गुलाब के, झँवा झँवावत पाय॥

अतिशयोक्ति

प्रस्तुत वस्तु का असाधारण रूप से बढ़ाचढ़ाकर वर्णन करना अतिशयोक्ति अलंकार कहलाता है।

अतिशय उक्ति करना ही अतिशयोक्ति है। शब्दार्थ से ही स्पष्ट है कि असाधारण रूप से बढ़ाचढ़ाकर कहना इसका गुण है। इस अलंकार में वर्णन की विचित्रता ही प्रधान वस्तु है। इसीलिए इसे वैचित्र्यमूल अलंकारों की कोटि में रखा गया है।

अलंकार-सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक आचार्य भामह के समय से ही अतिशयोक्ति को महत्त्व मिलता रहा है। भामह ने कहा है—किसी कारणवश लोकोत्तर अर्थ के बोधक वचन को अतिशयोक्ति कहते हैं। यहाँ दो शब्दों पर ध्यान देना आवश्यक है—कारणवश तथा लोकोत्तर अर्थ। भामह का अभिप्राय इस प्रकार है—जो लोक में न पाया जाता हो, मतलब, लोकातिक्रांत अर्थ का बोधन कराना और किसी विशेष उद्देश्य से ऐसा कथन करना, यानी कारणवश। निष्कर्ष यह कि अतिशयोक्ति में प्रस्तुत के वर्णन में किसी विशेष अर्थ के प्रतिपादन के लिए ही लोकसीमा का उल्लंघन करने वाली उक्ति का विधान होता है। उदाहरण के लिए बिहारी का यह प्रसिद्ध दोहा देखा जा सकता है—

मैं बरजी कै बार तू, इत कत लेति करौंट।
पँखुरी लगे गुलाब की, परिहै गात खरौंट॥

नायिका को गुलाब की पंखुड़ियों की खरोंच लगती है। क्या यह संभव है? नहीं। यह लोकसीमा का उल्लंघन करने वाली उक्ति है। पर नायिका की दशा का असाधारण रूप से बढ़ाचढ़ाकर वर्णन करने के लिए ऐसा कहा गया है। अतिशयोक्ति की प्रकृति का पूरा ज्ञान प्राप्त करने के लिए निम्नोक्त तथ्यों पर ध्यान दें—

१. अतिशयोक्ति अलंकार के मूल में गौणी साध्यवसाना लक्षणा काम करती रहती है। लक्षणा की सहायता के बिना किसी भी उक्ति का अर्थ, इसमें, स्पष्ट नहीं होता। इस अलंकार का चमत्कार, फलतः उत्कर्ष भी—लक्षणा पर ही निर्भर करता है।

२. अतिशयोक्ति में उपमान की प्रधानता होती है। उपमेय लुप्त तो नहीं होता, पर उपमान उसे आत्मसात् कर लेता है। उपमेय का अध्यवसान उपमान में हो जाता है।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि क्या उपमान इतना प्रधान हो जाता है कि वह उपमेय को आत्मसात् कर ले, उपमेय का निगरण कर ले और उपमेय का अस्तित्व लुप्त हो जाय ?

नहीं, ऐसा नहीं होता। लक्षणा की सहायता से उपमेय का अस्तित्व और भी प्रकाशमान हो उठता है। वाच्य-वाचक भाव से तो उपमेय अप्रकाशित रहता है, पर लक्ष्य-लक्षक भाव से उपमेय ही प्रधान हो उठता है। लक्षणाशक्ति की सहायता से जब उपमेय और उपमान का भेद स्पष्ट होता है, तथा अतिशयोक्तिपूर्ण कथन का अर्थ स्पष्ट होता है, तब उपमेय की सत्ता का पूर्ण ज्ञान हो जाता है। इस तरह अतिशयोक्ति में लोकसीमा का उल्लंघन जिस निमित्त से किया गया है, वह भी स्पष्ट हो जाता है। निष्कर्ष यह कि अतिशयोक्ति में उपमान के द्वारा उपमेय का अध्यवसान—उपमेय के वर्णन में तीव्रता, सौन्दर्य और चमत्कार लाने के उद्देश्य से ही किया जाता है।

३. अतिशयोक्ति का चमत्कार और कथनशैली की गूढ़ता जो समझते हैं, वे यह भी मानते हैं कि सारे अलंकारों के मूल में थोड़ी-बहुत अतिशयोक्ति होती है। यहाँ तक कि उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा इत्यादि के मूल में भी अतिशयोक्ति ही है। कुछ आचार्यों का तो यह मत है कि उपमा आदि अलंकारों की यात्रा-सिद्धि है अतिशयोक्ति तक पहुँचना।

इसीलिए आचार्य दंडी ने इसे **अलंकारोत्तम**, आनन्दवर्द्धन ने **सर्वालंकाररूप**, अभिनवगुप्त ने **सर्वालंकार-सामान्यरूप** तथा मम्मट ने **सकलालंकार-प्राणस्वरूप** माना है।

अतिशयोक्ति की कथनशैली में इतनी व्यापक शक्ति है; इसीलिए आचार्यों ने इसकी महिमा का समादर किया है।

अतिशयोक्ति के भेद

भेद, सम्बन्ध और कार्य-कारण भाव के आधार पर अतिशयोक्ति के भेदों का निरूपण हुआ है। जहाँ दो वस्तुओं में भेद हो, पर अभेद दिखलाया जाय, वहाँ **रूपकातिशयोक्ति** मानी जाती है। इसके विपरीत जहाँ दो वस्तुओं में अभेद हो, पर भेद दिखलाया जाय, वहाँ **भेदकातिशयोक्ति** मानी जाती है।

सम्बन्ध के आधार पर यह मान्य है कि जहाँ दो वस्तुओं में सम्बन्ध होते हुए भी, कोई भी सम्बन्ध न बतलाया जाय, वहाँ **असम्बन्धातिशयोक्ति** मानी गयी है। इसके विपरीत, जहाँ दो वस्तुओं में कोई भी सम्बन्ध नहीं है, पर सम्बन्ध का निरूपण किया गया है, वहाँ **सम्बन्धातिशयोक्ति** मानी गयी है।

अन्तिम दो भेद कार्य-कारण भाव पर आश्रित हैं। जहाँ कार्य-कारण का एक साथ होना बताया जाय, वहाँ **अक्रमातिशयोक्ति** होती है; पर जहाँ कार्य ही पहले हो और कारण बाद में हो, वह **अत्यन्तातिशयोक्ति** मानी गयी है।

अतिशयोक्ति का यह भेद-निरूपण बड़ा सैद्धान्तिक है। आचार्यों ने इस प्रसंग में एक व्यावहारिक बात कही है। उनके अनुसार अतिशयोक्ति के सभी भेदों में प्रकृत और अप्रकृत होते हैं; पर केवल रूपकातिशयोक्ति में उपमेय और उपमान होते हैं।

रूपकातिशयोक्ति

जहाँ उपमेय और उपमान का इतना अभेद वर्णित हो कि केवल उपमान का ही कथन किया जाय, वहाँ रूपकातिशयोक्ति होती है।

सवाल यह है कि इसे रूपकातिशयोक्ति क्यों कहते हैं? मेरे विचार से इसलिए कि इसमें रूपक की अतिशयोक्ति होती है। तात्पर्य यह कि रूपक में उपमेय और उपमान का अभेद कथन किया जाता है। पर रूपकातिशयोक्ति में यह अभेद इतना बढ़ जाता है कि **मुखचन्द्र** न कहकर केवल **चन्द्र** कहने से ही पूरा आशय प्रकट हो जाता है। रूपक में उपमेय और उपमान दोनों का स्पष्ट कथन होता है; पर रूपकातिशयोक्ति में केवल उपमान का ही प्रत्यक्ष कथन होता है, तथा उपमेय अप्रत्यक्ष रूप में विद्यमान रहता है। दूसरे शब्दों में रूपक में उपमेय-उपमान दोनों वाच्य रहते हैं; पर रूपकातिशयोक्ति में उपमान वाच्य होता है तथा उपमेय व्यंग्य।

रूपकातिशयोक्ति का चमत्कार इन विशेषताओं के कारण है—

१. इसमें उपमान के द्वारा उपमेय निगल लिया जाता है। मतलब यह कि इसमें उपमान का कथन होता है, उपमेय का नहीं।

२. इसमें उपमान कुछ ऐसा रमणीय एवं साम्ययुक्त होता है कि उसी से उपमेय का भी संकेत मिल जाता है।

३. इसमें गौणी साध्यवसाना लक्षणा होती है। फलतः, हर शब्द लाक्षणिक चमत्कार से युक्त होता है।

४. इस अलंकार में सबसे बड़ी शक्ति यह है कि पाठकों के मन में कवि के विषय को पाने की उत्कंठा उत्पन्न होती है। फलतः, पाठकों की कल्पना उत्तेजित होती है। इसलिए पाठकों को वर्ण्य विषय का पुनर्निर्माण (Recreation) करना पड़ता है।

५. इस अलंकार में जितने भी उपमान प्रयुक्त होते हैं, वे प्रायः रूढ़ प्रतीक (Symbols) ही होते हैं। इसलिए रूपकातिशयोक्ति का चमत्कार प्रतीक-योजना पर निर्भर करता है।

इसी प्रसंग में यह तथ्य भी उल्लेखनीय है कि यदि रूपकातिशयोक्ति में प्रसिद्ध उपमानों या रूढ़ उपमानों का व्यवहार न हुआ तो कविता दुरूह हो जाती है। कवि के निजी जटिल अनुभवों से सम्बद्ध उपमानों का यदि व्यवहार होता है तो वर्ण्य विषय स्पष्ट नहीं हो पाता और कविता की रमणीयता नष्ट हो जाती है।

१. कनक लतानि इन्दु इन्दु माहिं अरबिंद,
झरैं अरबिंदन तें बुंद मकरंद के।

मुस्लिम बेगमों की देह के लिए कनकलता, उनके मुख के लिए इन्दु, तथा नेत्रों के लिए अरबिंद और आँसुओं के लिए मकरंद की बूँदों का प्रयोग हुआ है।

२. बाँधा है विधु को किसने इन काली जंजीरों से।
फणि वाले मणियों का मुख क्यों भरा हुआ हीरों से॥

मुख के लिए विधु, केशराशि के लिए काली जंजीरों का व्यवहार किया गया है।

३. अद्भुत एक अनूपम बाग।
जुगल कमल पर गजवर क्रीड़त, तापर सिंह करत अनुराग।

यहाँ चरण के बदले कमल, जाँघ के बदले गजवर तथा कटि के बदले सिंह का प्रयोग किया गया है।

भेदकातिशयोक्ति

जहाँ दो वस्तुओं में अभेद रहते हुए भी भेद दिखलाया जाता है, वहाँ भेदकातिशयोक्ति होती है।

मध्यकाल के कवियों ने 'औरे और' कहकर एक वस्तु के दो रूप दिखलाये हैं और उनमें भेद किया है। उदाहरण के लिए निम्नोक्त दोहा देखिए—

जब तें तन जौवन बढ़ौ, तब तें भई गति और।
नयन और, औरे नजर, रति औरे, मति और॥

कवि युवावस्था का वर्णन कर रहा है। वह कहता है कि युवावस्था आने पर नयन, नजर, रति और मति में परिवर्त्तन आ गये हैं। यहाँ भेद न होने पर भी भेद दिखलाया गया है; यद्यपि इस भेद-वर्णन से कविता का चमत्कार बढ़ता ही है।

अनियारे दीरघ दृगनि, किती न तरुनि समान।
वह चितवनि औरे कछू, जिहि बस होत सुजान॥

जिस चितवन से सज्जन वशीभूत हो जाते हैं, उस चितवन में कुछ और ही होता है। यहाँ भी चितवन-चितवन में 'औरे' शब्द से भेद प्रकट किया गया है।

इसी प्रकार **औरे और, न्यारी, औरे भये** इत्यादि शब्दों के द्वारा भेद-वर्णन किया जाता है। इस अलंकार की पहचान के ये बाहरी चिह्न हैं।

सम्बन्धातिशयोक्ति

जहाँ सम्बन्ध न हो, फिर भी सम्बन्ध बतलाया जाय, वहाँ सम्बन्धातिशयोक्ति होती है।

दो या दो से अधिक वस्तुओं में पारस्परिक योग न होते हुए भी योग की कल्पना करना इस अलंकार का चमत्कार है। जैसे—

छाले परिबे के डरनि, सकै न हाथ छुवाय।
झिझकति हिय गुलाब के, झँवा झँवावत पाय॥

गुलाब को छूने से हाथ में छाला पड़ने का भय है। भला बताइये तो गुलाब का, छाला पड़ने से क्या सम्बन्ध ? पर सम्बन्ध बतलाया गया है।

गुलाब से ख़रोंच लगाने वाला बिहारी का दोहा भी इसी का उदाहरण है।

असम्बन्धातिशयोक्ति

जहाँ सम्बन्ध हो, पर उस सम्बन्ध को न बतलाया जाय, वहाँ असम्बन्धातिशयोक्ति होती है।

दो या दो से अधिक वस्तुओं में परस्पर अयोग होते हुए भी योग दिखलाने से यह अलंकार होता है; जैसे—

अति सुन्दर लखि तिय मुख तेरो ।
आदर हम न करत ससि केरो ॥

सुन्दरी के मुख का आदर नहीं होता, वह तो चन्द्रमा का आदर है। मुख और चन्द्रमा में साम्य है, पर उस साम्य को प्रत्यक्षतः अव्यक्त रखकर मुख का आदर से सम्बन्ध-विच्छेद कराया गया है।

अक्रमातिशयोक्ति

जहाँ कार्य और कारण का एक साथ घटित होना दिखलाया जाय, वहाँ अक्रमातिशयोक्ति होती है।

प्रश्न यह है कि इसे अक्रमातिशयोक्ति क्यों कहते हैं ? इसमें अक्रम या क्रमहीनता क्या है ? आमतौर पर पहले कारण उपस्थित होता है, उसके बाद उसका कार्य होता है। पर इस अलंकार में कारण और कार्य दोनों का एक साथ उपस्थित होना वर्णित किया जाता है। यही क्रमहीनता है। ये पंक्तियाँ इस दृष्टि से चमत्कारपूर्ण हैं—

वह शर इधर गांडीव गुण से भिन्न जैसे ही हुआ,
धड़ से जयद्रथ का उधर सिर छिन्न वैसे ही हुआ।

आमतौर पर पहले बाण छूटता है, तब कोई वस्तु छिन्न होती है। पर जहाँ जैसे ही, तैसे ही द्वारा कार्य-कारण का साथ-साथ होना वर्णित है।

अत्यन्तातिशयोक्ति

कार्य पहले हो और कारण बाद में—ऐसी विपरीत दशा का वर्णन अत्यन्तातिशयोक्ति अलंकार होता है।

शर खींच उसने तूण से कब किधर संधाना उन्हें।
बस विद्ध होकर ही विपक्षी वृन्द ने जाना उन्हें ॥

बाण कब छूटा, किधर गया— इसका पता नहीं; पर विद्ध होने पर ही विपक्षियों को मालूम हुआ कि बाण कब और किधर से छूटा। कार्य पहले और कारण बाद में वर्णित है।

असंगति

कार्य एवं कारण यदि भिन्न-भिन्न आश्रयों में वर्णित हों तो असंगति अलंकार होता है।

सबसे पहले **असंगति** शब्द के अर्थ पर विचार करना आवश्यक है। जहाँ संगति न हो, जहाँ मेल न हो, वहाँ असंगति होती है। दूसरे शब्दों में स्वाभाविक संगति के त्याग के वर्णन में यदि चमत्कार हो तो असंगति होती है। अब प्रश्न यह उठता है कि किन वस्तुओं में स्वाभाविक संगति का अभाव दिखाया जाता है। इसके उत्तर में आचार्यों का मत है कि कार्य-कारण में ही स्वाभाविक संगति नहीं होती।

दरअसल कार्य-कारण की संगति का अभाव भी एक विशेष स्थिति में ही दिखाया जाता है। जिन कार्य-कारणों का एक स्थान में रहना प्रसिद्ध है, उनका एक स्थान में नहीं दिखाया जाना ही, इस अलंकार का विषय है। इसे ही शास्त्रीय शब्दावली में **एकाधिकरण वालों का वैयधिकरण** कहते हैं। मतलब यह है कि जिन वस्तुओं का एक आश्रय में रहना लोक-प्रसिद्ध है, उनका भिन्न आश्रयों में रहना वतलाया जाता है। कार्य-कारण भाव की एकत्र स्थिति न वर्णित कर, अन्यत्र स्थिति वर्णित करने से इसका चमत्कार प्रस्फुटित होता है। **दीन** जी की यह उक्ति भी इसी अलंकार का उदाहरण है—

तुमने पैरों में लगायी मेहँदी
मेरी आँखों में समायी मेहँदी।

नायिका के पैरों में मेहँदी लगी है; पर वह नायक की आँखों में समा गयी है। कारण कहीं है और कार्य कहीं और।

कोयल काली है मतवाली,
पर आम्रमंजरी रही झूम।

मतवाली है कोयल; झूमना उसे ही चाहिए, पर झूम रही है आम्रमंजरी। कारण कहीं और कार्य कहीं और वर्णित है। इस उदाहरण से यह स्पष्ट होता है कि कोयल के झूमने का वर्णन, आम्रमंजरी के झूमने के मायध्म से किया गया है। यहाँ लक्षणा की सहायता से इस अर्थ तक आप पहुँच पाते हैं। इस तरह आप देखते हैं कि असंगति का चमत्कार लक्षणा की सहायता से और भी रमणीय हो उठता है।

विहारी का यह दोहा प्रसिद्ध है तथा असंगति के चमत्कार की दृष्टि से सफल रचना है—

दृग उरझत, टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीति।
पड़त गाँठि दुरजन हिये, दई नई यह रीति॥

प्रेमी-प्रेमिका की आँखें उलझती हैं; पर टूटते हैं कुटुम्ब यानी सम्बन्धियों से सम्बन्ध टूट जाता है और सज्जनों के हृदय में प्रीति जुड़ती है। पर दुर्जनों के हृदय में गाँठें पड़ती हैं—ईश्वर की यह विचित्र रीति है। आँखें जब प्रेमी-प्रेमिका की उलझती हैं, तो जो चीजें उलझती हैं, उन्हीं को टूटना चाहिए; पर टूटते हैं कुटुम्ब; गाँठ पड़नी चाहिए उलझने वाली चीजों में, पर होता है इसके विपरीत। गाँठ दुर्जनों के हृदय में पड़ती है।

इस तरह कार्य और कारण की एकत्र स्थिति नहीं है, वल्कि अन्य स्थिति है; निष्कर्ष यह कि स्वाभाविक संगति के त्याग के वर्णन से ही प्रेम-प्रसंग का इतना सटीक सामाजिक चित्र प्रस्तुत किया गया है। चमत्कार असंगति के कारण ही है।

लगालगी लोचन करैं, मन नाहक बँधि जाय।

सम्बन्ध तो आँखों से आँखों का होता है, पर बँध जाते हैं मन। यहाँ वँधना चाहिए था आँखों को, पर मन के वँधने के वर्णन से असंगति होती है।

दृगन लगत वेधत हियो, विकल करत अँग आन।
ये तेरे सब तें, विषम, ईछन तीछन वान॥

आँखों के वाण लगते हैं आँखों में, वेधते हैं हृदय को और विकल करते हैं सारे अंगों को। इस तरह कारण कहीं और कार्य कहीं का वर्णन यहाँ भी है।

पलनि पीक, अंजन अधर, धरै महावर भाल।
आजु मिले सो भलि करी भले वने हो लाल॥

पान की पीक पलकों में लगी है, आँखों का अंजन अधरों में लगा है और पाँव में लगने वाला महावर भाल पर लगा है। कारण और कार्य की अन्यत्र स्थिति का कितना अस्वाभाविक वर्णन है!

विशेषोक्ति

कारण के होने पर भी यदि कार्य सिद्ध न हो तो विशेषोक्ति होती है।

विशेषोक्ति शब्द का अर्थ है विशेष उक्ति अर्थात् ऐसी उक्ति जिसमें असाधारण स्थिति का वर्णन हो। कारण उपस्थित होने पर भी यदि कार्य या फल की उत्पत्ति न हो तो असाधारण स्थिति ही मानी जायगी। इस अलंकार के लक्षण को निर्दोष रखने के लिए कुछ आचार्यों ने यह भी कहा कि **सम्पूर्ण कारणों या प्रबल कारणों के होते हुए भी कार्योत्पत्ति का अभाव बतलाना विशेषोक्ति है।**

अक्सर रोज की बातचीत में हमलोग कहते हैं—वह धनी है, पर धन का अहंकार उसे नहीं है। वह विद्वान् है, पर अपने ज्ञान का दंभ उसे नहीं है। साम्यवादी सरकार है, पर साम्य कहाँ ? वह है तो अभी युवक ही, पर बड़ा गंभीर है; यानी युवक को चंचल होना चाहिए, पर वह चंचल नहीं है। वह ऊँचे पद पर है, पर अपने प्रभुत्व का मद उसे नहीं है।

ऐसे कथन विशेषोक्ति के ही उदाहरण हैं। कारण मौजूद हैं, पर उन कारणों के जो फल होते हैं, वे मौजूद नहीं हैं।

आलंकारिकों ने विशेषोक्ति के सम्बन्ध में कुछ महत्वपूर्ण बातें कही हैं—

१. भामह ने कहा कि एक गुण हानि होने पर, विशेषता की अभिवृद्धि के लिए, दूसरे गुण का जो वर्णन किया जाता है उसे विशेषोक्ति कहते हैं।

२. 'अलंकार-सर्वस्व' के रचयिता रुय्यक ने कहा है कि कारण के होते हुए भी कार्य की उत्पत्ति न होना—वास्तव में भिन्न कार्य की उपस्थिति का वर्णन है; फलतः भिन्न कारण या विशेष कारण का वर्णन है। दूसरे शब्दों में विशेषोक्ति में ऐसा वाच्य-वैचित्र्य होता है, जिससे दूसरे कारण की अभिव्यंजना संभव हो पाती है।

विशेषोक्ति का यह उदाहरण देखें, विहारी का दोहा है—

लिखनि वैठि जाकी सवी गहि गहि गरव गरूर।
भये न केते जगत के चतुर चितेरे कूर॥

सभी चित्रकार रंग और तूलिका लेकर उस अनिंद्य सुन्दरी का चित्र खींचने वैठे; सबने विश्वास और अभिमान के साथ यह कार्य शुरू किया। पर किसी से उसका चित्र नहीं उतर सका। (यहाँ संकेत यह है कि उस अनिंद्य सुन्दरी को देख कर चित्रकारों को रोमांच आदि हो आता था, फलतः रंग विखर जाता था; इसलिए चित्र पूर्ण न हो सका।)

यहाँ सभी कारण उपस्थित हैं, पर कार्य न हो सका। इसलिए विशेषोक्ति अलंकार है। इस दोहे में चित्र न उतर सका, कार्य न हो सका, इसके कारण की उक्ति नहीं है। इसलिए इसे अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति का उदाहरण मानते हैं।

सोवत जागत सपन बस, रस रिस चैन कुचैन।
सुरति स्याम घन की सुरति, विसराये विसरै न ॥

स्वप्न, जागरण और शयन—तीनों अवस्थाओं में श्याम की मूर्त्ति भूलती नहीं है। विसराने का प्रयत्न किया जाता है, पर वह नहीं विसरते। यहाँ भी अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति है।

लीने हू साहस सहस, कीने जतन हजार।
लोयन लोयन-सिंधु तन, पैरि न पावत पार ॥

साहसपूर्वक हजारों दफे यत्न किये जाते हैं; पर ये आँखें उस नायिका के सौन्दर्य-सिन्धु को पार नहीं कर पाती हैं। यहाँ भी कारण है, यानी सौन्दर्य-सिन्धु को पार करने का प्रयत्न है, पर फलोत्पत्ति नहीं होती। क्यों नहीं हो पाती? इसका कारण नहीं वतलाया गया है। इसलिए अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति है।

अब छुटता नहीं छुड़ाये रँग गया हृदय है ऐसा।
आँसू से धुला निखरता यह रंग अनोखा ऐसा ॥

—प्रसाद

इस उदाहरण में भी रंग छुड़ाने का प्रयत्न व्यक्त है, पर रंग नहीं छूटता है।

दूसरी तरफ विशेषोक्ति के कुछ उदाहरण ऐसे भी होते हैं जिसमें कार्य-सिद्धि न होने का कारण भी वतलाया जाता है। ऐसे उदाहरणों में उक्तनिमित्ता विशेषोक्ति मानी जाती है— मतलब यह कि जहाँ निमित्त उक्त (कहा गया) हो।

त्यों-त्यों प्यासेई रहत, ज्यों-ज्यों पियत अघाय।
सगुन सलोने रूप की, जु न चख तृषा बुझाय ॥

जितना पिया जाता है, उतनी ही प्यास बढ़ती जाती है। पर यह प्यास क्यों बढ़ती है? प्यास वुझने का कार्य क्यों नहीं होता? इसलिए कि वह जल सलोना (नमक-सहित) है।

प्रकारान्तर से यहाँ उस (सलोना) लावण्ययुक्त रमणी के रूप-जल का संकेत है तथा आँखों से उस रूप को पान करने वाले तरुण आसक्त प्रेमी की तृषा का संकेत है।

यहाँ कारण वतलाया गया है। इसलिए उक्तनिमित्ता विशेषोक्ति का यह उदाहरण माना जाता है।

है वहुत वरसी धरित्री पर अमृत की धार।
पर, नहीं अब तक सुशीतल हो सका संसार ॥

—दिनकर (कुरुक्षेत्र)

यहाँ कारणों के होते हुए भी कार्य का असिद्ध होना बतलाया गया है; पर यह कार्य क्यों न हो सका—इसका निमित्त नहीं कहा गया है। इसलिए इसे अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति का उदाहरण मानेंगे।

अचिन्त्यनिमित्ता विशेषोक्ति का अलग भेद स्वीकारना उचित नहीं प्रतीत होता क्योंकि बड़ी सरलता से इसका अंतर्भाव अनुक्तनिमित्ता में हो जा सकता है।

विशेषोक्ति विभावना का प्रतिलोम है। इन दोनों का पार्थक्य समझने के लिए **अलंकार-युग्मों का तुलनात्मक विवेचन** (अंत) देखें।

विभावना

कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति के वर्णन से जो चमत्कार होता है, वह विभावना अलंकार कहा जाता है।

विभावना का अर्थ है विशिष्ट भावना या कल्पना। सामान्य भावना तो यह है कि जहाँ कारण होगा, वहाँ कार्य अवश्य होगा। कारण का अभाव हो, फिर भी कार्य की उत्पत्ति हो जाय— यह विशिष्ट कल्पना से ही संभव है।

विभावना के प्रसंग में यह तथ्य उल्लेखनीय है कि कारण के अभाव का अर्थ वास्तव में कारण का न होना— नहीं है। कारण तो रहता ही है। पर लोक-प्रसिद्ध या सामान्य कारण का अभाव दिखाया जाता है। कार्य की उत्पत्ति में विशिष्ट कारण उपस्थित रहते हैं। भामह के अनुसार कारण के निषेध से उसके फल की कल्पना में विभावना होती है। दण्डी के अनुसार विभावना का वैचित्र्य यह है कि प्रसिद्ध कारण का तो परित्याग किया जाता है, पर अप्रसिद्ध कारण की कल्पना की जाती है।

विभावना के मूल में अतिशयोक्ति होती है। क्यों? इसलिए कि अप्रसिद्ध कारण की कल्पना की जाती है और लोकप्रसिद्ध कारण का परित्याग किया जाता है। ऐसा वर्णन तो एक तरह से लोकसीमा का उल्लंघन ही है। अतिशयोक्ति की सहायता से विभावना का चमत्कार और भी बढ़ जाता है।

दरअसल विभावना का चमत्कार कवि-कल्पना पर आश्रित है। जिस कवि के पास जितनी ही विलक्षण कल्पना-शक्ति है, उतना ही विभावना का उत्कर्ष होगा। कवि की विदग्धता ही इस अलंकार की जननी है।

विभावना के ये प्रसिद्ध उदाहरण हैं—

बिनु पद चलै सुनै बिनु काना।
कर बिनु कर्म करै विधि नाना॥
आनन रहित सकल रसभोगी।
बिन बानी बकता बड़ जोगी॥

पैरों से ही चलने का कार्य हो सकता है। कान से ही सुनने का काम हो सकता है। हाथों से ही काम करना संभव है। पर उस ईश्वर को पैर, कान, हाथ— कुछ भी नहीं हैं। फिर भी वह चलता है, सुनता है और सकल कर्म नाना विधियों से करता है।

मुख से ही विभिन्न पदार्थों का रसभोग किया जा सकता है। वह आनन-रहित है, फिर भी सकल रसभोगी है। उसके पास वाणी नहीं है, फिर भी वह वक्ता है।

इस उदाहरण में गोस्वामी तुलसीदास ने निराकार ईश्वर की महिमा का बखान किया है, कारण के अभाव में कार्य का होना बतलाया है। विभावना की ऐसी कथनभंगी के मूल में अतिशयोक्ति का संचार हो रहा है।

सून्य भित्ति पर चित्र, रंग नहिं, तनु बिनु लिखा चितेरे।

शून्य भित्ति पर चित्र क्या संभव है? विना रंग के क्या चित्र बनाया जा सकता है? क्या कोई अशरीरी चित्रकार हो सकता है? इस तरह यहाँ भी कारण के अभाव में कार्य-सिद्धि दिखलायी गयी है।

विभावना के भेद

आचार्यों ने विभावना के भेद दो प्रकार से किये हैं। पहले प्रकार के भेदों का आधार **निमित्त-कथन** है। जहाँ कारण के अभाव में कार्य-सिद्धि का निमित्त निर्दिष्ट होता है, वहाँ उक्तनिमित्ता विभावना और जहाँ निमित्त निर्दिष्ट नहीं होता है, वहाँ अनुक्तनिमित्ता विभावना होती है।

दूसरे प्रकार के भेद का आधार कुछ भी नहीं है पर उसके छः भेद किये गये हैं।

मेरे विचार से ऐसा भेद-निरूपण बड़ा ऊटपटाँग है; इसलिए अलंकारशास्त्र को जटिल शुष्क गद्यग्रन्थ न बनाने के विचार से ऐसे भेदों से मोक्ष प्राप्त कर लेना ही उचित प्रतीत होता है।

विभावना के कुछ और उदाहरण

१. तिय कित कमनैती पढ़ी, विन जिह भौंह कमान।
चित वेधन चूकत नहीं, बंक विलोचन वान॥

उस रमणी ने कहाँ धनुषविद्या सीख ली! उसकी भौंहे विना प्रत्यंचा के धनुष हैं, वाण भी टेढ़े हैं; पर निशाना वह अचूक लगाती है।

इस उदाहरण में अधूरे कारण से कार्योत्पत्ति बतायी गयी है।

काम कुसुम-धनु-सायक लीन्हें।
सकल भुवन अपने वश कीन्हें॥
गुरु गृह पढ़न गये रघुराई।
अल्पकाल सब विद्या पाई॥

कामदेव ने कुसुमों के धनुष से सारे संसार को पराजित कर अपने वश में कर लिया है। यहाँ अपर्याप्त कारण से कार्योत्पत्ति की गयी है। दूसरे उदाहरण में यह बतलाया गया है कि अल्पकाल में ही सभी विद्या का ज्ञान हो गया। इसमें भी अपर्याप्त कारण से कार्य-सिद्धि वर्णित है।

नैंना नेक न मानहीं, कितो कहौं समुझाय।
ये मुँहजोर तुरंग लौं, ऐंचत हू चलि जाय॥

ये आँखें मानती नहीं हैं, चाहे लाख समझाया जाय। ये तो जबर्दस्त घोड़े की तरह लगाम कसने पर भी नहीं मानतीं, लगाम झटककर उसी तरफ चली जाती हैं। यहाँ कार्योत्पत्ति का बाधक मौजूद है—यानी समझाना, लगाम लगाना आदि; पर कार्योत्पत्ति हो जाती है। प्रतिबंधक के होते हुए भी कार्योत्पत्ति के वर्णन में विशेष चमत्कार है; यह चमत्कार अतिशयोक्ति पर ही आश्रित है।

विरोधाभास

दो वस्तुओं के आपाततः विरुद्धवत् प्रतीयमान होने से जिस चमत्कार की सृष्टि होती है वह विरोधाभास कहलाता है।

शब्दार्थ पर ध्यान देने से स्पष्ट होता है कि इस अलंकार का चमत्कार विरोध का आभास प्रकट करने में है; वास्तव में विरोध नहीं होता। यह विरोध केवल वाच्यार्थ तक ही सीमित होता है; तात्पर्य का विचार करने के बाद विरोध का अवसान हो जाता है। कथनशैली के चमत्कार की दृष्टि से यह एक प्रकार से छल का आघात है जो सहसा विस्मय की सृष्टि करता है और अर्थ के घनीभूत रूप के प्रति हमारा ध्यान आकृष्ट करता है। जहाँ वास्तविक विरोध दिखलाया जाता है, वहाँ यह अलंकार नहीं होता।

प्रस्तुत वस्तु का उत्कर्ष वर्णित करने के लिए विरुद्ध वस्तुओं का संसर्ग दिखाया जाता है। दण्डी ने 'काव्यादर्श' में यहाँ तक कह दिया है कि **विरुद्ध वस्तुओं के समानाधिकरण का वर्णन** ही इस अलंकार का प्राण-तत्त्व है। यहाँ यह स्पष्ट रूप में समझ लेना चाहिए कि जिन वस्तुओं का समान अधिकरण में होना या समान आश्रय में होना दिखाया जाता है, वे वस्तुएँ विरुद्ध प्रतीत होती हैं; पर वास्तव में वे विरुद्ध नहीं होतीं। इस तरह विरोध की प्रतीति से ही चमत्कार होता है।

विरोधाभास और असंगति की तुलना पुस्तक के अंत में की गयी है। उसे देखें। यहाँ इतना याद रखें कि असंगति में एकाधिकरण वालों का वैयधिकरण होता है और विरोधाभास में विरुद्ध प्रतीत होने वाले पदार्थों का समानाधिकरण होता है। इस अलंकार का बड़ा उत्कृष्ट उदाहरण 'बिहारी सतसई' में है—

लागत कुटिल कटाच्छ सर, क्यों न होंहि बेहाल।
कढ़त जु हियो दुसार करि, तऊ रहत नटसाल॥

कुटिल कटाक्ष शर लग जाता है; तो फिर हृदय बेहाल क्यों न हो। कटाक्ष शर भी ऐसा कि दुसार (आर-पार निकलने वाला तीर) तो निकल जाता है, पर नटसाल (टूटकर टुकड़ा गड़ा रहने वाला तीर) भीतर ही बिंधा रह जाता है। यहाँ एक ही शर के दुसार और नटसाल होने में विरोध है। पर कटाक्ष के प्रसंग में जब तात्पर्य स्पष्ट होता है तो विरोध का अवसान हो जाता है।

इस उदाहरण में गुण का गुण से विरोध दिखाया गया है। शर का एक गुण है आर-पार निकल जाना और दूसरा गुण है अंश-रूप में भीतर ही टूटकर गड़े

रहना। एक ही शर दो गुणों वाला नहीं हो सकता। इसलिए गुण-विरोध पर आश्रित विरोधाभास है।

या अनुरागी चित्त की गति समुझै नहिं कोइ।
ज्यों-ज्यों बूड़ै श्याम रँग त्यों-त्यों उज्ज्वल होइ॥

इस प्रेमी हृदय की गति विचित्र है; यह ज्यों-ज्यों श्याम रंग में डूबता है, त्यों-त्यों उज्ज्वल होता है। श्याम रंग में डूबने पर कोई चीज उज्ज्वल कैसे हो सकती है? यहाँ विरोधाभास स्पष्ट है। पर श्लेष की सहायता से अर्थ स्पष्ट होता है। कृष्ण के प्रति प्रेम में यह हृदय जितना डूबता है, उतना ही निर्मल होता जाता है। यहाँ गुण का गुण के साथ विरोध का आभास है।

लोचन लोल विसाल विलोकनि को न विलोकि भयो बस माई।
वा मुख की मधुराई कहा कहौं मीठी लगै अँखियान लुनाई॥

नायिका की आँखें बड़ी-बड़ी और चंचल हैं। उन्हें देखकर कौन वशीभूत न हुआ? उस मुख के माधुर्य का क्या कहना! खासकर आँखों का लावण्य तो अत्यन्त मीठा है।

यहाँ विरोध स्पष्ट है। आँखों में लावण्य है (लुनाई); तो फिर लावण्य मीठा कैसे लगेगा? गुण से गुण का विरोध दिखाया गया है।

तंत्री-नाद, कवित्त-रस, सरस राग, रति-रंग।
अनबूड़, बूड़े तिरे जे बूड़े सब अंग॥

जो लोग तंत्रीनाद आदि में रसमग्न होकर न बूड़े, वे सचमुच में बूड़ गये (डूब गये)। और, जो लोग उसमें रसमग्न होकर बूड़े, वे सचमुच बूड़े यानी पार कर गये। कैसी जटिल और निरर्थक पहेली प्रतीत होती है कि 'जो न डूब सके, वे डूब गये और जो डूबे, वे पार हो गये।' पर कवि का इष्टार्थ यह है कि जो इनमें तल्लीन हुए, उनका जीवन सार्थक है और जो इनका आनन्द न ले सके, उनका जन्म व्यर्थ हो गया। यहाँ क्रिया-क्रिया का विरोध है। अनबूड़े-बूड़े तथा तिरे-बूड़े के विरोध की प्रतीति से चमत्कार की सृष्टि हुई है।

विरोधाभास के दस भेद माने गये हैं। इसके भेदों की कल्पना गुण, जाति, द्रव्य और क्रिया के विरोध पर आश्रित है। इसके सभी भेदों का अलग से निरूपण करना ठीक नहीं लगता इसलिए कि हर अभिव्यक्ति का चमत्कार किसी-न-किसी तरह के विरोध से ही होता है। तब फिर दस तरह के भेद ही मानना गलत होगा।

आधुनिक काव्य के ये उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

१. आग हूँ जिससे ढुलकते बिन्दु हिमजल के।
शून्य हूँ जिसमें बिछे हैं पाँवड़े पल के॥

—महादेवी वर्मा

२. तुम मांसहीन तुम रक्तहीन,
हे अस्थिशेष तुम अस्थिहीन।

तुम शुद्ध बुद्ध आत्मा केवल,
हे चिर पुराण हे चिर नवीन।

—पंत

३. भिगोता हिमजल में यह कौन।
जलाने वाली शीतल आग ॥

—हृदयेश

४. और यह मृतक शरीर जो बचा है शेष
चुपचुप मानो पूछता है मुझसे पुकार,
विजय का एक उपहार मैं बचा हूँ, बोलो
जीत किसकी है और किसकी हुई है हार ?

—दिनकर

(मृतक शरीर पुकारकर पूछता है। 'मरे हुए व्यक्ति का पूछना' में विरोधाभास है।)

विनोक्ति

जहाँ एक के अभाव में दूसरा शोभित या अशोभित वर्णन हो, वहाँ विनोक्ति होती है।

इस अलंकार को बहुत बाद में स्वीकृति मिली। सबसे पहले मम्मट तथा रुय्यक ने ऐसे चमत्कारपूर्ण कथन के उदाहरण ढूँढ़ निकाले और विनोक्ति का नामकरण किया। विनोक्ति शब्द से ही स्पष्ट है कि जहाँ विना, रहित, अभाव, नहीं होना, हीन होना इत्यादि की उक्ति होती है, वहाँ ऐसा अलंकार होता है। **दरअसल दो परस्पर सम्बद्ध वस्तुओं का सहभाव बतलाना ही इस अलंकार का विषय है।** यह सहभाव अभाव कथन से व्यक्त होता है। एक के विना दूसरे के अशोभन या शोभन होने का कथन ही इस अलंकार का चमत्कार है। रामचरितमानस में गोस्वामी तुलसीदास ने इन पंक्तियों में इसी के चमत्कार की सृष्टि की है—

प्राननाथ तुम बिनु जगमाहीं।
मोकहँ कतहुँ सुखद कछु नाहीं।
जिय बिनु देह नदी बिनु बारी।
तैसइ नाथ पुरुष बिनु नारी।

यहाँ राम के विना सीता, प्राण के विना देह और जल के बिना नदी के अशोभित होने का कथन किया गया है।

देखत दीपति दीप की, देत प्रान अरु देह।
राजत एक पतंग मैं, बिना कपट को नेह॥

यहाँ निष्कपट प्रेम का शोभित होना बतलाया गया है।

बिन घन निर्मल सरद नभ राजत है निज रूप।
अरु रागादि दोष बिन मुनि मन विमल अनूप॥

बिना बादल के शारदीय नभ निर्मल और शोभित लगता है; उसी तरह रागादिक दोषों से रहित होने पर मुनियों का मन विमल, अनूप तथा शोभित होता है।

शशि बिन सूनी रैन, ज्ञान बिन हिरदै सूनो।
कुल सूनो बिन पुत्र, पत्र बिन तरुवर सूनो॥

शशि के बिना रात सूनी यानी अशोभित लगती है; उसी तरह ज्ञान के बिना हृदय, पुत्र के बिना कुल तथा पत्तों के बिना तरुवर सूने लगते हैं।

बिना दुख के सब सुख निस्सार,
बिना आँसू के जीवन भार। —पंत

न्याय शांति का प्रथम न्यास है
जबतक न्याय न आता,
कैसा भी हो महल शान्ति का
सुदृढ़ नहीं रह पाता।

—दिनकर

यहाँ न्याय के विना शान्ति को अशोभन बताया गया है।

विनोक्ति के प्रसंग में इस तथ्य का उल्लेख आवश्यक है कि इस अलंकार के वर्ण्य विषय अधिकतर नीतिकथन, जीवन-दर्शन, किसी सत्य का उद्घाटन, कोई मर्म-वचन इत्यादि ही होते हैं। कुछ अतिशय शृंगारिक उदाहरण भी मिलते हैं। (जैसे—चाँद के बिना रात मूर्च्छित लगती है; चारों तरफ अँधेरा छाया रहता है; फलत: कामिनियों के साथ विलास का आनन्द भी व्यर्थ हो जाता है।) पर ऐसे उदाहरण बहुत कम हैं। सूरदास ने वियोगिनी नायिका का जो वर्णन किया है—**पिया बिनु नागिन काली रात**—यह भी इसी अलंकार का उदाहरण माना जाना चाहिए।

सहोक्ति

जहाँ सहभाव के बोधक शब्दों की सहायता से एक शब्द के दो अर्थ निकलें वहाँ सहोक्ति अलंकार होता है।

सहभाव का बोध कराने वाले शब्दों की प्रधानता के कारण ही इस अलंकार का नाम सहोक्ति रखा गया है। आचार्य मम्मट ने अपने 'काव्य-प्रकाश' में इसका लक्षण यों दिया है—"जहाँ सह शब्द के अर्थ की सामर्थ्य से एक पद दो अर्थों का वाचक हो, वहाँ सहोक्ति होती है।"

इस तरह स्पष्ट है कि साहचर्य ही इस अलंकार का प्राणबीज है, और इसी साहचर्य की सामर्थ्य से एक पद दो अर्थों से सम्बद्ध हो जाता है। इन दो अर्थों में एक प्रधान तथा दूसरा गौण हो जाता है।

इस अलंकार में क्रिया एक होती है पर सह, साथ, एक साथ, संग इत्यादि शब्दों की सहायता से दो वस्तुओं में अन्वित होती है। जैसे कोई कहे—**धन के साथ मान की भी हानि हुई; विद्या के साथ विनय भी उदित हुई; राम और सीता के साथ लक्ष्मण भी वन गये; सूर्योदय के साथ कमल भी दीख पड़ा**—तो ऐसी उक्तियों में सहोक्ति होती है। अन्वय के कारण एक क्रिया के दो अर्थ निकलते हैं। निम्नोक्त उदाहरण देखें—

फूलन के सँग फलिहैं रोम,
परागन के सँग लाज उड़ाइहै।
पल्लव गुंजन सँग अलि,
हियरा अनुराग के रँग रँगाइहै॥

फूलों के साथ रोम भी प्रफुल्लित होते हैं; परागों के उड़ने के साथ लाज भी उड़ती है; पल्लव भौंरों के गुंजन के साथ गुंजित होते हैं और हृदय अनुराग के रंग में रँग जाता है। यहाँ भी हर कथन में दो वस्तुओं का एक साथ होना यानी एक क्रिया का द्व्यर्थक अन्वय दिखाया गया है। इसलिए इसमें सहोक्ति है।

मन सँग रक्ताधर भये, सैसव सँग गति मन्द।
मनमथ सँग गुरुता लहीं तरुनी कुचन अमन्द॥

मन के साथ अधर भी अनुरक्त हुए, शैशव के साथ गति भी मन्द हुई और काम-भावना के विकास से तरुणी के कुचों में भी विकास हुआ।

दिनकर के 'कुरुक्षेत्र' की ये पंक्तियाँ सहोक्ति की ही उदाहरण हैं—

सत्य ही तो मुष्टिगत करना जिसे,
चाहता था, शत्रुओं के साथ ही,

उड़ गये वे तत्त्व मेरे हाथ में,
व्यंग्य पश्चात्ताप केवल छोड़कर।

'साथ ही' शब्दों की सामर्थ्य से शत्रुओं और तत्त्वों— दोनों का उड़ना बतलाया गया है। **उड़ना** क्रिया का अन्वय द्वयर्थक रूप में होता है।

सहोक्ति अलंकार वास्तव में अर्थालंकार नहीं है। यह अन्वय तथा वाक्य-योजना का चमत्कार है। इसे अर्थालंकार के अन्तर्गत परिगणित करना तथा महत्त्व देना समीचीन नहीं प्रतीत होता।

समाधि

किसी आकस्मिक कारण या कर्त्ता के योग से यदि किसी कार्य की सिद्धि सुगम हो जाय, तो वहाँ समाधि अलंकार माना जाता है।

समाधि शब्द का अर्थ है—अच्छी तरह से, सुगमता से किसी कार्य का किया जाना। इस अलंकार में होता यह है कि कर्त्ता कोई कार्य कर रहा होता है। पर संयोगवश कोई दूसरा व्यक्ति या कारण उसे योग दे देता है। फलतः उसकी कार्य-सिद्धि सुगम हो जाती है। इसे आचार्यों ने काकतालीय न्याय से कार्य-सिद्धि माना है। (तालवृक्ष के छज्जे का गिरना तो निश्चित था; पर कौए के बैठने से एकाएक गिर पड़ा। इसे ही काकतलीय न्याय कहते हैं।)

राधा रूठी हैं। उनका मान तोड़ने के लिए कृष्ण मीठी बातों से चाटुकारी कर रहे हैं। इसी बीच संयोग से मेघ घिर आते हैं, वर्षा शुरू हो जाती है; फलतः राधा के मन में उद्दीपन होता है और उनका मान-भंग होता है। मानिनी नायिका का मान-भंग कराने के लिए एकाएक वर्षा होना आकस्मिक कारणान्तर का योग है, जिससे कार्य-सिद्धि सुगम हो गयी है—

मान मिटावन हित लगे, रस सींचन घनश्याम।
लागे त्यों चहुँधा उनइ, रस सींचन घनश्याम॥

यहाँ **घनश्याम** शब्द में श्लेष है। श्लेषाश्रित समाधि अलंकार का यह उदाहरण है। इसी भाव का दूसरा उदाहरण भी द्रष्टव्य है—

हरि चाह्यो पग परन को, मानवती लखि वाम।
भई तड़ित घनस्याम में, निरखि तड़ित घनस्याम॥

यहाँ बिजली चमकने जैसे आकस्मिक कारणान्तर के योग से मान-भंग कराने का काम और भी सुगम हो जाता है।

एक दूसरी मनोरम शृंगारिक दशा का वर्णन निम्नोक्त पद्य में हुआ है। कृष्ण ने नायिका की मुखछवि देखने के लिए अपनी दृष्टि फेंकी; उधर चंचल हवा के झोंके से नायिका के मुख का घूँघट हट गया। यहाँ मुखछवि देखने का उपक्रम पहले से ही चल रहा था। पर एकाएक चंचल हवा के झोंके से अवगुंठन हट गया, फलतः कार्य-सिद्धि हो गयी—

निरखन कों तिय वदन छवि, पठई डीठि मुरारि।
उत ह्वाँ चपल समीर ने, घूँघट दियो उघारि॥

अभिसार, मानिनी का मान-प्रसंग तथा केलि के लिए तत्परता आदि स्थितियों में इस अलंकार का चमत्कार रीतिकाल में खुलकर प्रयुक्त हुआ है। इस अलंकार का एक उदाहरण वात्सल्य-वर्णन से भी सम्बन्धित है। यशोदा कृष्ण को मना रही हैं। घर चलने को कह रही हैं। पर वालक कृष्ण अपने हठ पर अड़े हैं कि नहीं जायेंगे। ऐसी दशा में ही वादल गरजने लगे; वस फिर तो यशोदा को मनाने की जरूरत भी न पड़ी; नन्दलाल घर की तरफ भाग खड़े हुए—

विनय यशोदा करति हैं गृह चलिये गोपाल।
घन गरज्यो बरसा भई भागि चले नँदलाल॥

इसमें भी प्रधान कर्त्ता के कार्य की सिद्धि, आकस्मिक कारणान्तर के योग से सुगम हो गयी है। अतः समाधि अलंकार है।

समुच्चय

किसी कार्य की सिद्धि के लिए अनेक कारणों का योग होने से समुच्चय अलंकार होता है।

समुच्चय का अर्थ है—समूह। इसमें अनेक कारणों का समूह उपस्थित कराया जाता है। जैसे खलिहान में एक कबूतर के आते ही, कबूतरों का समूह ही आ पड़ता है, उसी तरह इसमें भी कारणों के दल पर दल आ जाते हैं। इसीलिए इस अलंकार में **खलेकपोतिकान्याय** से कार्यसिद्धि के निमित्त कारण-समूह की कल्पना की गयी है। इस अलंकार की विशेषता यह है कि कार्य-सिद्धि के लिए समर्थ कारण के रहते हुए भी अन्यान्य कारणों का कथन होता है।

अहमहमिकया भाव से अर्थात् मैं आगे तो मैं आगे जैसी स्पर्द्धा के साथ इसमें कारणों का कथन किया जाता है। दूसरी बात यह है कि इसमें सभी कारणों में विरोध नहीं होता। सभी कारण एक कार्य की सिद्धि के लिए ही परस्पर होड़ाहोड़ी करते हैं। तीसरी बात यह कि समुच्चय में निर्दिष्ट सभी कारण समान बल वाले होते-हैं। चौथी बात यह कि सभी कारणों की एकत्र स्थिति होती है।

रामचरितमानस में गोस्वामी तुलसीदास की यह उक्ति रामवनगमन प्रसंग में कितनी चमत्कारपूर्ण है—

तात वचन, पुनि मातु हित, भाई भरत अस राऊ।
मो कहँ दरश तुम्हार प्रभु, सब मम पुण्य प्रभाउ॥

एक तो वनगमन के लिए पिता की आज्ञा है; फिर इससे माँ कैकेयी का चित्त प्रसन्न होगा, अतः माँ का इसमें हित है; फिर भाई भरत को राज्य मिलेगा, जो राम के लिए सुखद विषय है; और इससे भी बड़ी बात यह है कि वन में मुनिजनों-गुरुजनों के दर्शन मिलेंगे— इतने कारणों के होते हुए भी वह वन कैसे नहीं जाना पसन्द करेंगे? वन जाने के लिए यद्यपि पिता की आज्ञा ही समर्थ कारण है, पर इतने कारणों का जहाँ समुच्चय हो, वहाँ वन जाने रूपी कार्य की सिद्धि क्यों न होगी?

आधुनिक कविता में छायावाद-युग की 'परिवर्त्तन' शीर्षक पूरी कविता समुच्चय के चमत्कार से ही अनुप्राणित है। निम्नोक्त पंक्तियों में जगत् में परिवर्त्तन-रूपी कार्य की सिद्धि में समर्थ अनेक कारणों का समूह उपस्थित किया गया है—

आधि व्याधि बहुवृष्टि, पात, उत्पात, अमंगल।
वह्नि, बाढ़, भूकम्प तुम्हारे विपुल सैन्य दल॥
— सुमित्रानंदन पंत

कृष्ण गोपियों के हृदय जीतने में स्वयं ही समर्थ हैं। पर भौंहों की मटक, उनके पीत वस्त्र की चमक, लटकती चाल, चंचल नेत्र तथा चित्त को चुराने वाली चितवन— इतने कारण उपस्थित हैं; तो फिर गोपियों के हृदय वह क्यों न जीत लें!

भृकुटी मटकनि, पीत पट चटक, लटकती चाल।
चल चख, चितवन चोरि चित्त लियो बिहारी लाल ॥

गोस्वामी तुलसीदास की ये पंक्तियाँ तो समुच्चय के चमत्कार की दृष्टि से सर्वोत्कृष्ट कही जा सकती हैं—

ग्रह-गृहीत पुनि वात वस, तेहि पुनि बीछी मार।
ताहि पिग्राइय वारुनी, कहो कौन उपचार ॥

जो व्यक्ति ग्रह-दशा से गुजर रहा हो, फिर उसे वात रोग हो जाय, उसे बिच्छू काट ले और उस पर उसे कोई वारुनी पिला दे—तो क्या उसकी दशा इतनी बुरी नहीं हो जायगी कि उपचार ही न हो सके। जहाँ इतने कारणों का समुच्चय हो, वहाँ उस व्यक्ति की मृत्यु तो खैर निश्चित ही है।

नायिका केलि का निमंत्रण देती हुई प्रतीत होती है। नायक के सम्मुख वह हँस-हँस कर बोलती है, मद की उमंग में वहकी-वहकी बातें, बार-बार लिपट जाना— जहाँ इतने कारण हों, वहाँ नायक का उद्दीप्त होना कार्य क्यों न हो ?

हँसि-हँसि हेरति नवल तिय मद के मद उमदाति।
वलकि-वलकि बोलत वचन ललकि-ललकि लपटाति ॥

काव्यलिंग

किसी वाक्य या पद का अर्थ यदि वर्णनीय विषय के हेतु-रूप प्रतीयमान हो तो काव्यलिंग अलंकार होता है।

काव्यलिंग शब्द का अर्थ है—काव्य में आया हुआ कारण; लिंग का अर्थ है कारण; अर्थात् ऐसा कारण जो चमत्कारपूर्ण हो तथा रमणीय अर्थ के प्रतिपादन के लिए काव्य में प्रयुक्त होता हो। आचार्य विश्वनाथ ने कहा है कि यदि किसी अर्थ के उपपादन के लिए वाक्यार्थ या पदार्थ का हेतु-रूप से उपनिवन्धन हो तो काव्यलिंग होता है।

दरअसल इसमें होता यह है कि एक वात कही जाती है; पर वह वात इतनी असाधारण तथा चमत्कारपूर्ण होती है कि उसे युक्तियुक्त वनाने के लिए कारण वताना पड़ता है। इसलिए काव्यलिंग में वर्णनीय विषय का हेतु भी वतलाया जाता है। जैसे अज्ञेय ने अपनी एक कविता में कहा कि **दुःख ही श्रेष्ठ है, क्योंकि दुःख सवको माँजता है।** यहाँ दुःख की श्रेष्ठता का कारण भी वताया गया है। इसी तरह आगे उन्होंने और भी कारण वताये कि दुःख दृष्टि देता है, दुःख धैर्यवान् वनाता है आदि-आदि। विहारी के एक प्रसिद्ध दोहे में ग्रीष्म ऋतु का वर्णन है कि सर्प, मयूर, मृग, और वाघ एकत्र होकर वैठे हैं। क्यों ? इसलिए कि दीरघ दाघ निदाघ ने संसार को तपोवन (श्लेष से दो अर्थ— तपा हुआ वन, तथा तपस्वियों का वन) वना दिया है। तपोवन में सभी जीवजंतु अपने-अपने दुर्गुणों का त्याग कर निर्विकार वन जाते हैं। इसीलिए साँप, मृग, मयूर तथा वाघ एकत्र वैठें हैं। इस दोहे में भी वर्णनीय विषय का हेतु वतलाया गया है।

कहलाने एकत वसत, अहि मयूर मृग वाघ।
जगत तपोवन सो कियो दीरघ दाघ निदाघ॥

इस विश्लेषण से निष्कर्ष यह निकलता है कि काव्यलिंग का चमत्कार अधिक तर स्थलों पर कविकल्पित कारण-निर्देश से ही होता है। फिर, दूसरी वात यह है कि इसमें एक वाक्यार्थ दूसरे हेतु-रूप उपपादक वाक्य की आकांक्षा रखता है।

सार्वकालिक और सामान्य सत्य के कथन के साथ यदि कारण-निर्देश हो तो ऐसे वर्णन में कोई चमत्कार नहीं माना जाता। काव्यलिंग में सदैव असाधारण तथा कवि-कल्पित सत्य कहा जाता है और उसका हेतु वतलाया जाता है। **निष्पादक हेतु होने पर ही काव्यलिंग होता है।**

सवसे महत्त्वपूर्ण वात यह है कि काव्यलिंग में जिस हेतु की अपेक्षा की जाती है

वह वाच्य नहीं होना चाहिए। वाच्यार्थ से तो काव्यलिंग के हेतु-निर्देश का चमत्कार ही विनष्ट हो जाता है। **अतः हेतु व्यंग्य या गम्य होना चाहिए।** लक्षण में दिये **प्रतीयमान** शब्द पर ध्यान रखना आवश्यक है।

बिहारी का यह प्रसिद्ध दोहा काव्यलिंग का ही उदाहरण है—

मेरी भव बाधा हरौ, राधा नागरि सोय।
जा तन की झाँई परै, स्याम हरित दुति होय॥

वह चतुर राधा मेरी सांसारिक बाधाओं को हर ले, जिसके गोरे तन की छाया पड़ने से कृष्ण के श्याम बदन की द्युति हरी हो जाती है। दूसरा अर्थ यह है कि जिस राधा के सम्पर्क में आने से श्याम प्रसन्न हो जाते हैं, वही चतुर राधा मेरी बाधाओं का शमन कर सकती है। **मेरी भव बाधा हरौ**—इस कथन की युक्ति के रूप में दूसरा वाक्य कहा गया है।

इसी तरह एक प्रसिद्ध उक्ति है—

कनक-कनक तें सौ गुनी, मादकता अधिकाय।
वह खाये बौरात नर, यह पाये बौराय॥

धतूरे के नशे की तुलना में सोने का मद या धन का मद कहीं अधिक नशीला होता है। ऐसा इसलिए कि धतूरा खाने पर आदमी मदांध होता है, पर सोने को तो पाते ही आदमी मदांध हो जाता है। यहाँ भी एक चमत्कारपूर्ण कथन का हेतु प्रस्तुत किया गया है। यह हेतु वाक्यार्थगत है; यानी पूरे दूसरे वाक्य का अर्थ हेतु-रूप में ही है।

लाला भगवान दीन ने बिहारी के निम्नोक्त दोहे को व्यतिरेक का उदाहरण माना है; पर मेरे विचार से इसमें काव्यलिंग का चमत्कार ही प्रमुख है; इसलिए मुख्य रूप से इसे काव्यलिंग का ही उदाहरण मानना उचित है—

पावक-झर तें मेह-झर, दाहक दुसह विसेख।
दहै देह वाके परस, याहि दृगन ही देख॥

अग्निवृष्टि की अपेक्षा जलवृष्टि ही अधिक दाहक, दुःसह है; क्योंकि अग्नि-वृष्टि में तो स्पर्श से जलन होती है, पर वियोगिनी के लिए जलवृष्टि देखते ही जलन होती है। यहाँ द्वितीय वाक्यार्थ हेतु-रूप में प्रस्तुत है।

कनक-कनक तें वाला उदाहरण काव्यलिंग के चमत्कार को प्रस्तुत करता है। तो फिर उपर्युक्त उदाहरण उससे भिन्न किस तरह है? इस उदाहरण में व्यतिरेक की ध्वनि हो सकती है— खींचतान करने पर। पर प्रत्यक्षतः **यह काव्यलिंग के चमत्कार से ही समृद्ध है;** क्योंकि **इसमें हेतु का ही चमत्कार प्रमुख** है। व्यतिरेक में उपमान-उपमेय भाव के उत्कर्ष-अपकर्ष का चमत्कार होता है, पर काव्यलिंग में वाक्यार्थ या पदार्थ हेतु का गम्यमान होना प्रमुख होता है। इस दृष्टि से कोई भी आलंकारिक

विहारी के उपर्युक्त दोहे को काव्यलिंग का ही उदाहरण मानेगा। दूसरी वात यह भी है कि पावक-झर और मेह-झर में उपमान-उपमेय भाव कहाँ है ? तुलना के भाव और औपम्य भाव में क्या अन्तर नहीं है ?

प्रसंगान्तर के भय से, काव्यलिंग के अन्य उदाहरणों का उल्लेख ही समीचीन जान पड़ता है। गालिव का यह शेर कितना चमत्कारपूर्ण है, देखें—

वाग में मुझको न ले जा वर्ना मेरे हाल पर
हर शगूफा एक चश्मे खूँफशाँ हो जायगा।

एक वियोगदग्ध नायक कह रहा है कि मुझे वाग में न ले जा। अजीव वात है। भाई क्यों ? सभी कोई वाग में तो खुशी से जाते हैं। तुम जाने से कतराते क्यों हो ? इसलिए कि उसके जाते ही, उसकी दशा पर करुणा आ जाने के कारण, हर फूल, खून वहाने वाली आँख वन जायगा।

कितना खूवसूरत शेर है। इसकी खवसूरती आयी कहाँ से ? काव्यलिंग के चमत्कार से ही इससे खूवसूरती टपक रही है।

सुमित्रानन्दन पंत की ये पंक्तियाँ काव्यलिंग की ही उदाहरण हैं—

वेदना ही में तपकर प्राण,
दमक दिखलाते स्वर्ण हुलास।

अर्थान्तरन्यास

सामान्य का विशेष से अथवा विशेष का सामान्य से समर्थन होने पर अर्थान्तरन्यास अलंकार होता है।

सबसे पहले अर्थान्तर शब्द के अर्थ पर विचार करना आवश्यक है। अर्थान्तर=दूसरा अर्थ तथा न्यास=स्थापित करना, रखना। एक अर्थ को प्रकट करने के लिए दूसरा अर्थ रखने पर यह अलंकार होता है। इन दो अर्थों में एक समर्थ्य तथा दूसरा समर्थक होता है। इस तरह अर्थान्तरन्यास में समर्थ्य-समर्थक भाव होता है। दूसरी बात यह है कि एक, सामान्य कथन होता है और दूसरा, विशेष कथन। या इसके विपरीत भी हो सकता है—यानी पहला विशेष कथन और दूसरा सामान्य कथन। सबसे अनिवार्य विशेषता यह है कि **सामान्य-विशेष कथनों के मूल में समर्थ्य-समर्थक भाव ऐसा हो जिससे चमत्कार की सृष्टि हो।**

रोजाना बातचीत में हम ऐसे कथनों का प्रयोग करते हैं, जैसे—

(१) अच्छे लोगों पर कुसंगति का कोई प्रभाव नहीं पड़ता; चन्दन में सर्प लिपटा रहता है, पर उसमें विष नहीं व्याप्त होता। (२) सबल के सहायक सब होते हैं, निर्बल का कोई सहायक नहीं; हवा आग को तो लहका देती है, पर दिये को बुझा देती है। (३) उसकी बात कौन सुनता है; अकेले तो बृहस्पति भी झूठे होते हैं।

इस तरह आप देखते हैं कि अर्थान्तरन्यास में दो वाक्य होते हैं और दोनों में समर्थ्य-समर्थक भाव होता है। दोनों वाक्यों को यदि अलग भी कर दिया जाय तो उनका अर्थ स्पष्ट ही रहेगा। अतः अर्थान्तरन्यास के सामान्य और विशेष कथन सिद्धि-निरपेक्ष होते हैं।

रहीम का यह दोहा प्रसिद्ध है—

रहिमन नीच कुसंग सों, लगत कलंक न काहि।
दूध कलारी कर लखैं, को मद जानत नाहि॥

यहाँ सामान्य कथन का विशेष कथन द्वारा समर्थन किया गया है।

कोटि जतन कोऊ करौ, परै न प्रकृतिहिं बीच।
नल बल जल ऊँचो चढ़ै, अंत नीच को नीच॥

नीच लोगों की प्रकृति में कोई अन्तर नहीं पड़ता, चाहे कोई करोड़ों दफे कोशिश क्यों न करे। नल की सहायता से पानी को तो ऊपर चढ़ाया जाता है, पर

अंत में वह नीचे ही आ जाता है। इस उदाहरण में भी पूर्वार्द्ध सामान्य कथन है, जिसका समर्थन उत्तरार्द्ध के विशेष कथन द्वारा किया गया है।

जो रहीम उत्तम प्रकृति, का करि सकत कुसंग।
चंदन विष व्यापत नहीं, लपटत रहत भुजंग॥

यहाँ भी सामान्य वाक्य का विशेष वाक्य द्वारा समर्थन किया गया है।

प्रीति करि काहू सुख न लह्यों।
प्रीति पतंग करी दीपक सों आपै प्रान दह्यो॥

प्रीति करने से किसी को सुख नहीं मिलता है— इस सामान्य कथन का समर्थन इस विशेष वाक्य द्वारा किया गया है कि पतंग ने दीपक से प्रीति की, पर उसने अपने प्राण को जलाकर क्षार कर दिया।

सबै सोहायेई लगैं, बसत सोहाये ठाम।
गोरे मुख वेंदी लसैं; अरुन, पीत, सित, स्याम॥

अच्छे स्थान पर सभी चीजें अच्छी लगती हैं; गोरे मुख पर लाल, पीली, उजली, काली—कोई भी वेंदी अच्छी ही लगती है। पहला वाक्य सामान्य कथन है, दूसरा विशेष। पहला समर्थ्य है और दूसरा समर्थक है।

गुन औगुन कौं तनकऊ, प्रभु नहिं करत विचार।
केतकि कुसुम न आदरत, हर सिर धरत कपार॥

यहाँ सामान्य समर्थ्य वाक्य की विशेष समर्थक वाक्य द्वारा पुष्टि है।

अर्थान्तरन्यास के दूसरे प्रकार के उदाहरण वे हैं, जिनमें विशेष समर्थ्य वाक्य का सामान्य समर्थक वाक्य द्वारा समर्थन होता है; जैसे—

कैसे फूले देखियत, प्रात कमल के गोत।
दास मित्र-उद्योत लखि, सबै प्रफुल्लित होत॥

प्रात:काल को उदित देख कमल भी फूल उठा। क्यों नहीं? मित्र का उद्योत देखकर सभी प्रफुल्लित होते हैं।—इस उदाहरण में पहला वाक्य विशेष है और दूसरा सामान्य। विशेष कथन के समर्थन के लिए, सामान्य कथन भी उदाहरणवत् आया है।

अस कहि चला विभीषन जवहीं।
आयुहीन भे निसिचर तवहीं॥
साधु-अवज्ञा तुरत भवानी।
कर कल्याण-अखिल कइ हानी॥

यहाँ पहले विशेष कथन है कि ज्योंही विभीषण लंका को त्यागकर रामजी की शरण में चला, त्योंही सब निशिचर आयुहीन हो गये।

दूसरा कथन सामान्य वाक्य के रूप में है कि साधु की अवज्ञा सभी प्रकार के कल्याण की हानि करती है।

हरि प्रसाद गोकुल बच्यो, का नहिं करहिं महान।

कृष्ण के प्रसाद से गोकुल नष्ट होने से बचा; महान् लोग क्या नहीं कर सकते! पूर्वार्द्ध विशेष कथन है और उत्तरार्द्ध सामान्य कथन।

पद्माकर की ये पंक्तियाँ कृष्ण की अभ्यर्थना में कही गयी हैं—

हरि ल्यायो हरि कल्पतरु, जीति इन्द्र के ताहिं।
यह न आचरज बड़ेन को, है दुर्लभ कछु नाहिं॥

कृष्ण कल्पतरु का हरण कर लाये—इन्द्र के यहाँ से जीतकर; पर यह अचरज की बात नहीं है, क्योंकि बड़ों को कुछ भी दुर्लभ नहीं है। इस उदाहरण में भी प्रथम वाक्य विशेष कथन है और द्वितीय सामान्य कथन। इन दोनों में समर्थ्य-समर्थक भाव है।

मैथिलीशरण गुप्त की ये पंक्तियाँ भी विशेष कथन का समर्थन, सामान्य कथन द्वारा करती हैं—

जीवन में सुख-दुःख निरंतर आते ही रहते हैं।
सुख तो सभी भोग लेते हैं, दुःख धीर ही सह पाते हैं॥
मनुज दुग्ध से दनुज रुधिर से अमर सुधा से जीते हैं।
किन्तु हलाहल भवसागर का शिवशंकर ही पीते हैं॥

अर्थान्तरन्यास की चमत्कार-शक्ति पर ध्यान देने से यह पता लगता है कि इस अलंकार का सफल-प्रयोक्ता वही हो सकता है जिसका ज्ञान व्यापक है; जिसे व्यापक अनुभवों की थाती प्राप्त है। इस अलंकार में किसी सार्वभौम सत्य की पुष्टि के लिए अनुभवगम्य यथार्थ से उदाहरण देना पड़ता है। यह अलंकार कवि-कल्पित सत्य पर आश्रित नहीं, कवि द्वारा अनुभूत सत्य पर आश्रित है। अगर कवि के पास निजी अनुभव नहीं है तो लोकानुभव का उसे सहारा लेना पड़ता है। यह अलंकार जीवन को देखने, परखने, समझने और सत्य के अंगीकार की दृष्टि देता है। यह सच में, सत्य का वाहक है।

कवि जितना व्यापक लोकज्ञान रखता है, उतना ही मर्मवेधी चमत्कार उत्पन्न कर सकता है—इस अलंकार में ऐसी अद्भुत क्षमता है। जो कृतिकार जीवन के यथार्थ से कटे हुए हैं और पुस्तकसेवी मात्र हैं—वे इस अलंकार का चमत्कार नहीं उत्पन्न कर सकते। एक सत्य को, दूसरे वस्तुगत जीवन-सत्य में उद्घाटित करने से ही अर्थान्तरन्यास का चमत्कार प्रस्फुटित होता है। यह अलंकार कवि से सत्य के शोध और पाठक से सत्य के परिशीलन की क्षमता की माँग करता है।

दृष्टान्त

जहाँ उपमान, उपमेय और साधारण धर्म का विम्ब-प्रतिविम्ब भाव हो, वहाँ दृष्टान्त अलंकार होता है।

आम तौर पर दृष्टान्त शब्द का अर्थ उदारहण से लिया जाता है। पर यह उदाहरण उक्त घटना के मेल में होना चाहिए—दोनों की बातें हू-ब-हू मिलें। उपमान और उपमेय के साथ साधारण धर्म का भी परस्पर विम्ब-प्रतिविम्ब भाव होना चाहिए। दरअसल इस अलंकार के द्वारा किसी सत्य का प्रामाणिक रूप से निश्चय कराया जाता है।

इस तरह आप देखते हैं कि दृष्टान्त में उपमान और उपमेय—दो स्वाधीन तथा पृथक्-पृथक् वाक्य रहते हैं; दोनों में सामंजस्य या साम्य है—ऐसा कभी नहीं कहा जाता; पर दोनों के साधारण धर्म भी प्रतिच्छवित (Reflected) होते हैं—एक-दूसरे की छाया मिलती है। सूरदास की इन पंक्तियों से बात स्पष्ट होगी—

निरखि रूप नँदलाल को, दृगन रुचै नहिं आन,
तजि पियूष कोऊ करत, कटु औषधि को पान ?

श्रीकृष्ण के रूप को देखने के उपरान्त और कोई रुचता नहीं है। भला कोई अमृत को छोड़कर कड़वी दवा का पान कैसे करेगा ? दोनों वाक्य स्वतंत्र हैं। फिर भी दोनों जैसे एक-दूसरे से सम्बद्ध प्रतीत होते हैं। इन दो स्वाधीन वाक्यों की सम्बद्धता में ही चमत्कार है। यह सम्बद्धता विम्ब-प्रतिविम्ब भाव के कारण है।

ऊपर के उदाहरण को देखकर यह तो आप भी बता सकते हैं कि प्रसंगवश कोई बात कही गयी; उस बात को और भी प्रभावशाली बनाने के लिए उस बात से मिलती-जुलती एक दूसरी बात भी कह दी गयी। इन दोनों बातों में वैसा ही मेल होना चाहिए जैसा मेल विम्ब और प्रतिविम्ब में होता है।

दृष्टान्त में दो पृथक् सत्य-कथनों का साम्य व्यंजित कराया जाता है। साम्य के वाचक शब्द एकदम नहीं होते। यह गम्यौपम्याश्रय वर्ग का अर्थालंकार है।

अर्थान्तरन्यास और दृष्टान्त की भिन्नता समझने के लिए इतना याद रखें कि पहले में एक वाक्य सामान्य सत्य का कथन होता है और दूसरा वाक्य उदाहरण होता है; पर दूसरे (दृष्टान्त) में दोनों वाक्य उदाहरणवत् ही होते हैं। समझना यों चाहिए कि अर्थान्तरन्यास में समर्थन होता है, दृष्टान्त में विम्ब-प्रतिविम्ब भाव होता है।

प्रतिवस्तूपमा से दृष्टान्त का अन्तर भी समझ लेना चाहिए। प्रतिवस्तूपमा में केवल साधारण धर्म प्रतिच्छवित (Reflected) होता है, पर दृष्टान्त में उपमान, उपमेय तथा साधारण धर्म तीनों।

दृष्टान्त का यह उदाहरण मध्यकालीन वीरता का आख्यान है—

सिव औरंगहि जिति सकै और न राजा राव।
हत्थिमत्थ पै सिंह बिनु, आन न घालै घाव॥

औरंगजेब पर शिवाजी ही विजय प्राप्त कर सकते हैं; हाथियों पर सिंह ही घाव घालकर विजय प्राप्त कर सकता है।

इन दोनों कथनों में कितनी आन्तरिक समता है! **दो कथनों का यह आन्तरिक तादात्म्य ही बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव कहा जाता है।** दृष्टान्त के दोनों वाक्यों में इसी आन्तरिक तादात्म्य से भावोत्कर्ष व्यंजित किया जाता है।

रामकाव्य के कवि ने भी राम की सुषमा के आगे सबको तुच्छ बताया है—

राम कलाधर की सुषमा लखि आँखिन को रुख और न भावै।
छोड़ि तरंग सुधा-सरि की कोउ पोखरि को जल पीवन धावै॥

राम के सौन्दर्य को देखने के बाद इन आँखों को और कोई भी अच्छा नहीं लगता। अमृत के सरोवर की तरंग को छोड़कर कौन पोखर का जल पीने जायेगा!

कृष्ण-काव्य का दूसरा उदाहरण भी अच्छा है—

पगीं प्रेम नँदलाल के हमैं न भावत जोग।
मधुप, राजपद पाय कै, भीख न माँगत लोग॥

कृष्ण के प्रेम के रस में पग जाने के बाद 'योग' कैसे आयेगा? ओ मधुप (उद्धव), राजा का पद प्राप्त करने के बाद लोग भीख नहीं माँगते।

दृष्टान्त और उदाहरण अलंकार में समानता देखकर भ्रम में न पड़ें। इतना सूत्र याद रखें कि **दृष्टान्त में वाचक शब्द या साम्यबोधक शब्द का प्रयोग एकदम नहीं होता; पर उदाहरण में वाचक शब्द का प्रयोग आवश्यक है।** इसे यों कहना चाहिए कि दृष्टान्त का सादृश्य गम्यमान है और उदाहरण का सादृश्य वाच्य। प्रभाव-साम्य पर आधारित अधिकतर पद्यांश इसी अलंकार के उदाहरण हैं।

बिहारी द्वारा प्रस्तुत दृष्टान्त का यह उदाहरण उत्तम बन पड़ा है—

बहकि न इहिं बहिनापने, जब तब वीर निवासु।
बचै न बड़ी सबील हूँ, चील्ह-घोंसुआ माँसु॥

नायक की प्रेमिका से उसकी सखी कह रही है—नायक की पत्नी से बहिनापा जोड़कर तुमने अच्छा नहीं किया; खैर अभी भी इस बहिनापे से बहकना नहीं, अर्थात् बचकर रहना; जब-तब उसे अपने घर में निवास देने का प्रयत्न न करना। चील के घोंसले में मांस कहीं सुरक्षित रहता है?

यह दोहा विहारी के जीवजगत्-सम्बन्धी ज्ञान का अच्छा उदाहरण है। केशवदास का यह उदाहरण भी कम चमत्कारपूर्ण नहीं है—

कान्हर कृपा कटाच्छ की, करै कामना दास।
चातक चित में चेत ज्यों, स्वाति बूँद की आस॥

तुलसीदास की ये पंक्तियाँ भी दो वाक्यों की सार्थक विम्व-प्रतिबिम्ब-योजना की उदाहरण हैं—

भरतहिं होइ न राजमद, विधि-हरि-हर-पद पाइ।
कबहुँ कि कांजी सीकरनि, छीरसिंधु विलगाइ॥

भरत को अयोध्या क्या, ब्रह्मा का पद भी दे दिया जाय तो उसे राजमद नहीं हो सकता। क्या दो-चार बूँद कांजी (दूध को फाड़ने वाला) से क्षीरसमुद्र विलग जायगा? इन दो वाक्यों में विम्ब-प्रतिबिम्ब भाव है।

गुरुभक्त सिंह 'भक्त' की ये पंक्तियाँ भी इसी अलंकार के चमत्कार से रसमयी हो गयी हैं—

एक म्यान में दो तलवारें कभी नहीं रह सकती हैं।
किसी और पर प्रेम नारियाँ पति का क्या सह सकती हैं?

अंत में पंत की 'सुख-दुख' शीर्षक कविता से दृष्टान्त का उदाहरण देना रुचिकर होगा—

सुख-दुख के मधुर मिलन से यह जीवन हो परिपूरन।
फिर घन में ओझल हो शशि फिर शशि से ओझल हो घन।

अन्त में इतना कहना आवश्यक है कि दृष्टान्त अलंकार—प्रारंभ से ही कवियों का प्रिय रहा है। जीवन के सभी पक्षों के रूपरंग तथा भावविचार इसके चमत्कार से प्राणवंत होकर व्यक्त होते हैं।

अर्थान्तरन्यास की तुलना में यह कहीं अधिक कठिन और कवि की अनुभव-शक्ति की परख करने वाला अलंकार है।

निदर्शना

जहाँ वस्तुओं का संभव या असंभव सम्बन्ध उपमा की कल्पना कराये, वहाँ निदर्शना अलंकार होता है।

निदर्शना का अर्थ है—निदर्शन कराना; दिखाना; झलक देना।

(१) इसमें दो वाक्य-खंड होते हैं, जिनके मिलने से एक पूरा वाक्य बनता है, पर दृष्टान्त में दो वाक्य होते हैं, दो वाक्य-खंड नहीं। (२) निदर्शना में दोनों वाक्य-खंड एक-दूसरे से सापेक्ष होते हैं, एक-दूसरे पर निर्भर करते हैं। (३) दोनों वाक्य-खंडों में अर्थ की संगति तब तक नहीं बैठती, जब तक कि उपमा की कल्पना न की जाय। (४) आपाततः निदर्शना के दोनों वाक्य-खंड एक-दूसरे से असम्बद्ध और ऊटपटाँग-से प्रतीत होते हैं, पर जब उपमा की कल्पना की जाती है, तो अर्थ स्पष्ट होता है और कथन के मूल आशय से चमत्कार की सृष्टि होती है। (५) प्रायः असंभव सम्बन्ध से ही निदर्शना का चमत्कार स्फुट होता है। (६) निदर्शना के दोनों वाक्य-खंडों में जो बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव होता है, वह व्यंग्य और आत्मभूत रहता है। (७) निदर्शना के उपमेय वाक्य-खंड का पोषण उपमान-वाक्य-खंड द्वारा होता है—इसलिए इसमें औपम्य योजना ही प्रबल होती है। पर दृष्टान्त में एक ही मूल विचार दो रूपों में व्यक्त होता है; फलतः औपम्य योजना नहीं होती। (८) निदर्शना में आवश्यकतानुसार सादृश्यवाचक शब्दों का प्रयोग होता है, पर दृष्टान्त में सादृश्य एकदम नहीं होता।

दैनिक वार्तालाप में हमलोग निदर्शना के चमत्कार से अपनी बात कहते हैं। जैसे—(अ) नेता होना तलवार की धार पर धावना है; (आ) आपकी प्रशंसा करना तो सूर्य को दीपक दिखाना है; (इ) आपके गुणों का इस अल्पबुद्धि से वर्णन करना मेरु पर्वत को लाँघना है; (ई) भोगविलास में मैंने जीवन व्यर्थ कर दिया, मैंने इसे काँच के मोल बेच डाला; (उ) तुम तो अपने मन को भोग में लगा रहे हो, सच में तुम तोते को बिलाव के मुख में फेंक रहे हो, हिरन को बघेरे के जबड़ों में डाल रहे हो और घोड़े को भैंसे की सींगों पर डाल रहे हो; (ऊ) सैनिक होना, लोहे के चने चबाना है; (ए) अँगरेज भारत में क्या थे, शेरों की माँद में सियार थे।

इन उदाहरणों से यह स्पष्ट होता है कि निदर्शना में एक ही वाक्य होता है—उसके दो खंड होते हैं; एक खंड में उपमेय वस्तु और दूसरे खंड में उपमान वस्तु होती है। पर इन दोनों के सम्बन्ध का स्पष्टीकरण सादृश्य-कल्पना के उपरान्त होता है।

अर्थ तब खुलता है जब इन दो वाक्य-खण्डों के संभव सम्बन्ध की धारणा भी स्पष्ट होती है कि पतंग का दीपक पर जल मरना अपने प्राणों को प्रेमपात्र के आगे अर्पित करने के समान है।

संभव वस्तु-सम्बन्धाश्रित निदर्शना के अधिकतर उदाहरण ऐसे भी हैं जिनमें किसी वस्तु या स्थिति के उल्लेख से किसी सत्य को प्रकट कराया जाता है; ऐसा बताया जाता है कि अमुक वस्तु, ऐसा करके, ऐसी रीति या यह सत्य सिखला रही है। सत्य का सच्चा निदर्शन ऐसे ही उदाहरणों से होता है। ऐसे उदाहरणों में आलंकारिकों ने सदसदर्थ निदर्शना (सत् + असत् + अर्थ = सदसदर्थ) मानी है। लक्षण है—इसमें किसी वस्तु का अपनी क्रिया से सत् या असत् अर्थ की शिक्षा का संकेत कराया जाता है। 'प्रियप्रवास' के रचयिता हरिऔध द्वारा प्रस्तुत ये पंक्तियाँ, इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं—

सदैव देके विष बीज व्याज ले,
स्वकीय मीठे फल के समूह को।
दिखा रहा था तरुवृन्द में खड़ा,
स्व-आततायीपन पेड़ आक का।

निम्नोक्त उदाहरण भी कम चमत्कारपूर्ण नहीं है—

उदय होत ही जगत को, हरत, तपनि दुख दंद।
सबही को सुख दीजिए, बढ़े बतावत चंद॥

उदित होते ही चाँद संसार के दुःख-द्वन्द्व, तपन आदि का हरण करता है। चाँद यह बतलाता रहता है कि सबको ही सुख देना चाहिए। यहाँ भी सदसदर्थ व्यंजना है।

प्रतिवस्तूपमा

उपमेय और उपमान वाक्यों में एक ही धर्म का पृथक्-पृथक् शब्द-भेद द्वारा कथन प्रतिवस्तूपमा अलंकार माना जाता है।

प्रतिवस्तूपमा शब्द का अर्थ है—प्रत्येक वस्तु यानी प्रत्येक वाक्यार्थ में उपमा होना; दूसरे शब्दों में, उपमेय और उपमान वाक्यार्थों में उपमा होती है और एक ही धर्म का दो भिन्न-भिन्न शब्दों से दो बार कथन किया जाता है। प्रतिवस्तूपमा के लिए चार बातें आवश्यक हैं—(१) दो वाक्यार्थों का होना, (२) दोनों वाक्यार्थों में एक का उपमेय और दूसरे का उपमान होना, (३) दोनों वाक्यार्थों में एक ही समान धर्म का होना तथा (४) उस एक समान धर्म का, पुनरुक्ति-दोष से बचने के लिए, भिन्न-भिन्न शब्दों में कथन।

भामह तथा दंडी ने इसे उपमा का एक भेद माना है। सर्वप्रथम उद्भट ने इसे स्वतंत्र अलंकारों की श्रेणी में रखा। मम्मट, विश्वनाथ तथा अप्पय दीक्षित ने भी इसकी स्वतंत्र सत्ता स्वीकृत की है। पर पंडितराज जगन्नाथ इसे स्वतंत्र अलंकार नहीं मानते। उनके अनुसार यह दृष्टान्त से अभिन्न है। वह यह मानते हैं कि मात्र शब्द-भेद से इसे स्वतंत्र अलंकार नहीं माना जा सकता; क्योंकि शब्द-भेद भी तो एक ही समानधर्म का होता है।

बिहारी का यह प्रसिद्ध दोहा प्रतिवस्तूपमा का ही उदाहरण माना जाता है—

चटक न छाँड़त घटत हू, सज्जन नेह गँभीर।
फीको परै न बरु फटै, रँग्यो चोल-रँग चीर॥

इस दोहे में सज्जन की प्रीति की दृढ़ता का वर्णन है। सज्जन का स्नेह घटने पर भी चटकीलापन नहीं छोड़ता, वह गंभीर ही बना रहता है। गहरे लाल रंग से रँगा वस्त्र फट जाने पर भी फीका नहीं होता। यहाँ पूर्वार्द्ध उपमेय-वाक्य है और उत्तरार्द्ध उपमान-वाक्य; दोनों का एक ही धर्म है—**कम न होना**; इसी धर्म को 'न छाँड़त' तथा 'फीको परै न'—इन दो पदों से कहा गया है। एक ही धर्म का पृथक्-पृथक् शब्दों से कथन किया गया है।

पद्माकर द्वारा प्रस्तुत यह उदाहरण भी दो वाक्यार्थों के सादृश्य और शब्द-भेद कथन का उदाहरण है—

'राजत मुख मृदु बानि सों, लसत सुधा सों चन्द।
निर्झर सों नीको सु गिरि, मद सों भलो गयन्द॥

हमेशा याद रखें कि निदर्शना एक प्रकार का दृष्टान्तकरण या उदाहरण-प्रदर्शन है; पर इस उदाहरण-प्रदर्शन के मूल में दो विषम वस्तुओं के बीच भाव-साम्य के कारण उपमा का आरोप या आक्षेप करने से ही अर्थ-संगति बैठती है।

निदर्शना के इस उदाहरण से इसके स्वरूप की प्रतीति संभव है—

जंग जीत जे चहत हैं तो सों बैर बढ़ाय।
जीबे की इच्छा करत कालकूट ते खाय॥

जो तुमसे शत्रुता बढ़ाकर युद्ध जीतना चाहते हैं, वे विष खाकर जीने की इच्छा करते हैं। यहाँ दो विषम वाक्यों-खंडों में भाव-साम्य के कारण उपमेयोपमान भाव की कल्पना से सम्बन्ध स्पष्ट होता है।

कबीरदास की निम्नोक्त साखी भी इसी अलंकार के चमत्कार से सरस हो गयी है—

निर्बल को न सताइए, जाकी मोटी हाय।
मुई खाल की साँस सों, लोह भसम हो जाय॥

निर्बल को न सताया करें, उसकी 'हाय' मोटी होती है; मरी हुई खाल (भाथी) की साँसों से लोहा भी भस्म हो जाता है। यहाँ भी दो वाक्य-खंडों में भाव-साम्य से उपमेयोपमान भाव स्थापित हो जाता है। इसलिए इसे निदर्शना का ही उदाहरण मानना युक्तियुक्त है।

निदर्शना के भेद

निदर्शना के भेदों का कोई आधार स्पष्ट नहीं है। साधारणतः इसके पाँच भेद माने गये हैं। पर मेरे विचार से ऐसी भेद-कल्पना बुद्धिविलास मात्र है। अधिक-से-अधिक इसके दो भेद किये जा सकते हैं—(१) असंभव वस्तु-सम्बन्धाश्रित निदर्शना और (२) संभव वस्तु-सम्बन्धाश्रित निदर्शना।

भेदों के इस विरोध के पक्ष में तर्क यह है कि निदर्शना एक तो यों ही दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास और प्रतिवस्तूपमा के चमत्कारों के सन्निकट है; इनमें पारस्परिक अन्तर करना काफी मुश्किल काम है। जब कोई ऐसी कवित्वपूर्ण उक्ति सामने आती है कि उसमें निदर्शना, अर्थान्तरन्यास, दृष्टान्त, प्रतिवस्तूपमा इत्यादि सबके चमत्कार दीखते हैं, तो वहाँ बड़ा भ्रम होता है। फिर सामान्य काव्य-रसिकों की व्यवहार-बुद्धि हतप्रभ होने लगती है। इसलिए भेद-प्रभेदों से बचना ही युतियुक्त-सा दीखता है।

अपने इसी तर्क के आधार पर मैं निदर्शना के दो ही भेद मानता हूँ। वास्तव में ये भी दो भेद नहीं हैं, दो प्रकार के उदाहरणों की कोटियाँ हैं।

असम्भव वस्तु-सम्बन्धाश्रित निदर्शना

जे अस भगति जानि परिहरहीं। केवल ज्ञान हेतु स्रम करहीं॥
ते जड़ कामधेनु गृह त्यागी। खोजत आक फिरहिं पय लागी॥

जो व्यक्ति भक्ति को सुगम समझ उसका परित्याग करते हैं और केवल ज्ञान के चक्कर में श्रम करते हैं वे जड़ हैं; घर की कामधेनु का त्याग कर दूध की खोज में आक का वृक्ष ढूँढ़ते फिर रहे हैं।

स्पष्ट देख रहे हैं कि इन दो वाक्य-खंडों में परस्पर सम्बन्ध का अभाव है। पर उपमा का आक्षेप करने पर दोनों का जो सम्बन्ध असंभव लगता था, उसका शमन होता है और अर्थ की संगति स्पष्ट होती है।

दूसरा उदाहरण भी मनन के योग्य है—

सुनु खगेस ! हरि-भगति विदाई। जे सुख चाहहिं आन उपाई ॥
ते सठ महासिंधु विनु तरनी। पैंरि पार चाहत जड़ करनी ॥

हे पक्षिराज ! हरि-भक्ति का त्याग कर जो दूसरे उपायों से सुख पाना चाहते हैं, वे अत्यन्त मूर्ख और हठी हैं; इसका मतलब यह है कि वे तो बिना नौका के, तैरकर, महासिंधु पार करना चाहते हैं। हरिभक्ति त्याग कर सुख प्राप्त करना और विना नौका के महासिंधु प्राप्त करना—दोनों असंभव वातें हैं। पर इन दोनों असंभव वातों में भी आपसी सम्बन्ध असंभव-सा लगता है। पर सादृश्य की कल्पना के वाद दोनों का मेल या विम्ब-प्रतिविम्ब भाव स्पष्ट हो जाता है।

निम्नोक्त उदाहरण कई दृष्टियों से उत्कृष्ट अभिव्यक्ति के गुणों से सम्पन्न है—

भरिवो है समुद्र को संवुक में,
छिति को छिगुनी पर धारिवो है।
बाँधिवो है मृनाल सों मत्त करी,
जुही फूल सों सैल विदारिवो है ॥
गनिवो है सितारन को,
कवि शंकर रेनु सों तेल निकारिवो है।
कविता सुमझाइवो मूढ़न को,
कविता गहि भूमि पै डारिवो है ॥

इस उदाहरण में भी उपमान और उपमेय वाक्य-खण्डों के बीच असंभव सम्वन्ध है। पर उपमा के आक्षेप के वाद सम्वन्ध स्थापित हो जाता है और विम्व-प्रतिविम्व भाव की धारणा से चमत्कार पूर्णत: अभिव्यक्त होता है।

संभव वस्तु-सम्वन्धाश्रित निदर्शना

तजि आशा तन प्रान की, दीपहि मिलत पतंग।
दरसावत सव नरन को, परम प्रेम को ढंग ॥

अपने तन-प्राण की आशा तजकर पतंग दीप से मिलता है; फिर सवलोगों के आगे परम प्रेम के ढंग का आदर्श उपस्थित करता है। इन पंक्तियों का साफ-साफ

अर्थ तब खुलता है जब इन दो वाक्य-खण्डों के संभव सम्बन्ध की धारणा भी स्पष्ट होती है कि पतंग का दीपक पर जल मरना अपने प्राणों को प्रेमपात्र के आगे अर्पित करने के समान है।

संभव वस्तु-सम्बन्धाश्रित निदर्शना के अधिकतर उदाहरण ऐसे भी हैं जिनमें किसी वस्तु या स्थिति के उल्लेख से किसी सत्य को प्रकट कराया जाता है; ऐसा बताया जाता है कि अमुक वस्तु, ऐसा करके, ऐसी रीति या यह सत्य सिखला रही है। सत्य का सच्चा निदर्शन ऐसे ही उदाहरणों से होता है। ऐसे उदाहरणों में आलंकारिकों ने सदसदर्थ निदर्शना (सत् + असत् + अर्थ = सदसदर्थ) मानी है। लक्षण है—इसमें किसी वस्तु का अपनी क्रिया से सत् या असत् अर्थ की शिक्षा का संकेत कराया जाता है। 'प्रियप्रवास' के रचयिता हरिऔध द्वारा प्रस्तुत ये पंक्तियाँ, इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं—

सदैव देके विष बीज व्याज ले,
स्वकीय मीठे फल के समूह को।
दिखा रहा था तरुवृन्द में खड़ा,
स्व-आततायीपन पेड़ आक का।

निम्नोक्त उदाहरण भी कम चमत्कारपूर्ण नहीं है—

उदय होत ही जगत को, हरत, तपनि दुख दंद।
सबही को सुख दीजिए, बढ़े बतावत चंद॥

उदित होते ही चाँद संसार के दुःख-द्वन्द्व, तपन आदि का हरण करता है। चाँद यह बतलाता रहता है कि सबको ही सुख देना चाहिए। यहाँ भी सदसदर्थ व्यंजना है।

प्रतिवस्तूपमा

उपमेय और उपमान वाक्यों में एक ही धर्म का पृथक्-पृथक् शब्द-भेद द्वारा कथन प्रतिवस्तूपमा अलंकार माना जाता है।

प्रतिवस्तूपमा शब्द का अर्थ है—प्रत्येक वस्तु यानी प्रत्येक वाक्यार्थ में उपमा होना; दूसरे शब्दों में, उपमेय और उपमान वाक्यार्थों में उपमा होती है और एक ही धर्म का दो भिन्न-भिन्न शब्दों से दो बार कथन किया जाता है। प्रतिवस्तूपमा के लिए चार बातें आवश्यक हैं—(१) दो वाक्यार्थों का होना, (२) दोनों वाक्यार्थों में एक का उपमेय और दूसरे का उपमान होना, (३) दोनों वाक्यार्थों में एक ही समान धर्म का होना तथा (४) उस एक समान धर्म का, पुनरुक्ति-दोष से बचने के लिए, भिन्न-भिन्न शब्दों में कथन।

भामह तथा दंडी ने इसे उपमा का एक भेद माना है। सर्वप्रथम उद्भट ने इसे स्वतंत्र अलंकारों की श्रेणी में रखा। मम्मट, विश्वनाथ तथा अप्पय दीक्षित ने भी इसकी स्वतंत्र सत्ता स्वीकृत की है। पर पंडितराज जगन्नाथ इसे स्वतंत्र अलंकार नहीं मानते। उनके अनुसार यह दृष्टान्त से अभिन्न है। वह यह मानते हैं कि मात्र शब्द-भेद से इसे स्वतंत्र अलंकार नहीं माना जा सकता; क्योंकि शब्द-भेद भी तो एक ही समानधर्म का होता है।

बिहारी का यह प्रसिद्ध दोहा प्रतिवस्तूपमा का ही उदाहरण माना जाता है—

चटक न छाँड़त घटत हू, सज्जन नेह गँभीर।
फीको परै न बरु फटै, रँग्यो चोल-रँग चीर॥

इस दोहे में सज्जन की प्रीति की दृढ़ता का वर्णन है। सज्जन का स्नेह घटने पर भी चटकीलापन नहीं छोड़ता, वह गंभीर ही बना रहता है। गहरे लाल रंग से रँगा वस्त्र फट जाने पर भी फीका नहीं होता। यहाँ पूर्वार्द्ध उपमेय-वाक्य है और उत्तरार्द्ध उपमान-वाक्य; दोनों का एक ही धर्म है—**कम न होना**; इसी धर्म को 'न छाँड़त' तथा 'फीको परै न'—इन दो पदों से कहा गया है। एक ही धर्म का पृथक्-पृथक् शब्दों से कथन किया गया है।

पद्माकर द्वारा प्रस्तुत यह उदाहरण भी दो वाक्यार्थों के सादृश्य और शब्द-भेद कथन का उदाहरण है—

राजत मुख मृदु बानि सों, लसत सुधा सों चन्द।
निर्झर सों नीको सुगिरि, मद सों भलो गयन्द॥

मृदु वाणी से मुख राजता है अर्थात् सुशोभित होता है; अमृत से चन्द्रमा लसता है अर्थात् सुशोभित होता है; निर्झर से पहाड़ नीका लगता है अर्थात् अच्छा लगता है और मद से गयन्द भला लगता है। इस उदाहरण में भी सुशोभित होना—एक धर्म है, जिसे राजत और लसत—दो पृथक्-पृथक् शब्दों से कहा गया है। दूसरी पंक्ति का धर्म है अच्छा लगना, जिसे नीको और भलो—दो शब्दों से कहा गया है। इस उदाहरण में दोनों पंक्तियों में अलग-अलग प्रतिवस्तूपमा है।

तुलसीदास का यह नीति-कथन भी प्रतिवस्तूपमा के चमत्कार से प्रभावित करता है—

फलै फलै न बेंत, यद्यपि सुधा बरषहि जलद।
मूरख हृदय न चेत, जो गुरु मिले विरंचि सम॥

फूलना-फलना तथा चेत होना—इन दो शब्दों में ही धर्म का कथन है। नीचे का उदाहरण भी देखें—

तिन्हहिं सुहाय न अवध बधावा।
चोरहिं चाँदनि राति न भावा॥

उन (दुष्टों) लोगों को अवध का मोद-मंगल नहीं सुहाता है; चोरों को भी चाँदनी रात अच्छी नहीं भाती है। **अच्छा नहीं लगना**—दोनों वाक्यों का समान धर्म है, जिसे 'सुहाय न' तथा 'न भावा'—इन दो शब्दों से कहा गया है।

साधु-संग पायहु नहीं, खल को खलपन जाय।
सुधा पियायहु अहि, नहि तजत गरल दुखदाय॥

साधुओं की संगति मिलने पर भी दुष्टों की दुष्टता नहीं जाती; दूध पिलाने पर भी साँप विष का त्याग नहीं करता। **न छोड़ना**—दोनों वाक्यार्थों का एक समान धर्म है; इसे **नहीं जाना** तथा **नहीं तजना**—इन दो शब्दों से कहा गया है।

प्रतिवस्तूपमा के प्रसंग में यह तथ्य उल्लेखनीय है कि **इसमें सादृश्य व्यंग्य होता है**। और, सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि एक ही समान धर्म का दो शब्दों से कथन के लिए **पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग करना पड़ता है**। आलंकारिकों ने यह माना है कि इसके उपमेय और उपमान वाक्यार्थों में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव नहीं होता; वस्तु-प्रतिवस्तु भाव होता है। वस्तु-प्रतिवस्तु भाव समझने के लिए इतना याद रखें कि उपमेय भी अपने वाक्य में पूर्ण होता है और उपमान भी अपने वाक्य में पूर्ण होता है। उपमेय भी अपने धर्म के साथ कथित होता और उपमान भी अपने धर्म के साथ कथित होता है। इसलिए दोनों वाक्यार्थों में दो वस्तुएँ होती हैं अथवा दो स्थितियाँ होती हैं। इन दो स्थितियों के सादृश्य को हम तभी पहचान पाते हैं, जब साधर्म्य-कथन के शब्द-भेद का छल या कौशल पहचानते हैं। दो पृथक्-पृथक् प्रकार के वाचक शब्दों की अन्तरात्मा पहचानने पर ही इस अलंकार की रमणीयता स्पष्ट होती है।

उदाहरण

किसी सत्य का कथन हो और यदि उसके स्पष्टीकरण के लिए उदाहरण दिया जाय तो उदाहरण अलंकार होता है।

उदाहरण अलंकार का प्रयोग प्राय: हम रोज की वातचीत में करते हैं। उदाहरण अलंकार और दृष्टान्त अलंकार में समानता दृष्टिगोचर होती है। उदाहरण का अर्थ दृष्टान्त प्रस्तुत करना ही है। दोनों में भेद यह है कि उदाहरण में उदाहरण देने के पहले **जैसे, ज्यों, यथा** इत्यादि शब्दों का प्रयोग किया जाता है; पर दृष्टान्त में ऐसे शब्दों के प्रयोग से विम्ब-प्रतिविम्ब भाव को वाच्य नहीं किया जाता। उदाहरण में भाव-साम्य प्राय: वाच्य रहता है, पर दृष्टान्त में व्यंग्य रहता है। लाला भगवान दीन ने दोनों का अन्तर इस प्रकार स्पष्ट किया है— "दृष्टान्त अलंकार में कवि का मुख्य लक्ष्य उपमान वाक्य (उत्तरार्द्ध भाग) पर होता है, उदाहरण अलंकार में कवि का मुख्य लक्ष्य उपमेय वाक्य (पूर्वार्द्ध भाग) पर होता है, उत्तरार्द्ध केवल वानगी के तौर पर आता है।"

कुछ आलंकारिकों ने यह भी माना है कि उदाहरण अलंकार में पूर्वार्द्ध वाक्य सामान्य कथन होता है और उत्तरार्द्ध वाक्य विशेष कथन। पर यह स्थिति सदैव नहीं होती। कुछ ऐसे भी उदाहरण हैं, जिनमें उदाहरण अलंकार का चमत्कार तो है, पर उनमें सामान्य-विशेष भाव नहीं है।

निम्नोक्त उदाहरणों से इसके वास्तविक स्वरूप का स्पष्टीकरण हो सकता है—

अनरसहू रस पाइए, रसिक रसीली-पास।
जैसे सांठे की कठिन गांठी भरी मिठास॥

रसिक व्यक्ति यदि रसीली रमणी के पास जायें तो उसके अनरस होने (मान करने, रूठी हुई होने) पर भी रस मिलने लगता है; जैसे ऊख की कठिन गाँठों में रस भरा होता है।

बुरो बुराई जो तजै, तो चित खरो सकात।
ज्यों निकलंक मयंक लखि, गनैं लोग उतपात॥

यदि बुरे लोग बुराइयाँ त्याग दें, तो भी उनसे चित्त डरता रहता है, ज्यों निष्कलंक चन्द्रमा को देखकर लोग अनिष्ट की आशंका करने लगते हैं।

जगत वनायो जिहि सकल, सो हरि जान्यो नाहिं।
ज्यों आँखिन सब देखिये, आँख न देखी जाहिं॥

के समान प्रतीत होते हैं। इसी साम्य की व्यंजना के लिए भ्रांति का प्रसंग उपस्थित किया गया है। निष्कर्ष यह कि भ्रांतिमान् का चमत्कार भ्रमित होने में नहीं है, साम्य की व्यंजना में है।

भ्रांतिमान् के चमत्कार की पहली शर्त तो यही कि भ्रान्ति उत्पन्न करने वाले सादृश्यमूलक प्रसंग घिसे हुए न हों; उनमें ताजगी और मन को उद्‌बुद्ध करने की क्षमता हो। रीतिकाव्य के महाकवि विहारी के निम्नोक्त मुक्तक में ऐसा ही प्रसंग है—

पाय महावर देन को, नाइन वैठी आय।
फिर-फिर जानि महावरी, एँड़ी मीड़ति जाय॥

नाइन को नायिका की एड़ी में महावर की गोली का भ्रम हो जाता है। ऐसा भ्रम क्यों होता है ? व्यंग्य यह है कि नायिका की एड़ी विलास-कक्ष की कामिनी होने के कारण सुकुमार तथा अतिशय लाल है। इसी अतिशय लाली के कारण उसकी एड़ी को ही नाइन महावर की गोली समझ बैठली है। फलत: वह महावर की गोली न मलकर, नायिका की एड़ी को ही मिलती चली जाती है।

भौंरे और तोते की लड़ाई का वर्णन भ्रांतिमान् के चमत्कार के माध्यम से किया गया है—

किंशुक कुसुम जानकर झपटा भौंरा शुक की लाल चोंच पर,
तोते ने निज ठोर चलाई जामुन का फल उसे सोचकर।

भौंरे ने तोते की चोंच को किंशुक का फूल समझा (अतिशय लाली के कारण) और तोते ने भौंरे के कालेपन के कारण उसे पका हुआ जामुन समझा। भ्रम की सीमा इस निश्चय तक पहुँच गयी कि दोनों ने एक-दूसरे पर हमला किया।

एक अत्यंत विरहदग्ध प्रेमी कह रहा है कि मरने को जहाँ भी जाओ, वहाँ तो कष्ट ही कष्ट है। पर पलाश की डालों पर जो निर्धूम अंगार रखे हुए हैं, उनसे

भ्रांतिमान् को यदि स्वतंत्र रूप में देखा जाय तो यह पता लगेगा कि भ्रांतिमान् सभी अर्थालंकारों में श्रेष्ठतम है। आप पूछेंगे क्यों ? इसका उत्तर यह है कि नाटक में राम का अभिनय नट करता है, दुष्यंत का अभिनय नट करता है या अन्य किसी भी ऐतिहासिक या काल्पनिक पात्र का। यहाँ आपसे यह पूछा जा सकता है कि नट क्या अपने हावभाव, आहार-व्यवहार, रूप-रंग तथा वेशभूषा से अपने अभिनय में राम का भ्रम नहीं उत्पन्न करता है ? क्या नाटक या फिल्म देखते वक्त आप मूल पात्र और अभिनेता को एक नहीं समझते ? क्या इसी भ्रम की सृष्टि करने पर ही नाट्याभिनय अधारित नहीं है ? और क्या इसी भ्रम की सृष्टि अभिनेता की सफलता नहीं है ?

प्रसिद्ध मार्क्सवादी समीक्षक कॉडवेल ने Illusion and Reality नामक पुस्तक में तो यहाँ तक कहा कि साहित्य जीवन की वास्तविकता का भ्रम उत्पन्न करता है। निष्कर्ष यह कि भ्रम उत्पन्न करना ही कला है। सारी कलाओं के मूल में यह **भ्रम** ही लक्ष्य बनकर काम करता रहता है।

मरना श्रेयस्कर है। फिर ऐसा अवसर कभी नहीं आयेगा—

अन्त मरैंगे चलि जरे, चढ़ि पलास की डार।
फिरि न मरैं मिलि हैं अली, ए निरधूम अँगार ॥

यहाँ भी सादृश्य व्यंग्य है और इसी गम्यमान सादृश्य के कारण भ्रांतिमा चमत्कार बढ़ जाता है। पलाश के दहके हुए चटख सुर्ख फूलों में प्रेमी महोदय को निर्धूम अंगार का भ्रम हो गया है। तुर्रा यह कि पलाश की डाल पर बैठकर अंगारों से वे मरना चाहते हैं। भला, ऐसी आग कहाँ मिलेगी जहाँ धुआँ न इसलिए दहकते हुए लाल किंशुक पुष्पों से वे मरना चाहते हैं; जो अंगार तो हैं उनमें धुआँ नहीं है।

जिस ईश्वर ने सारी सृष्टि का ज्ञान कराया, उसी को हम नहीं जानते; ज्यों इन आँखों से सारे संसार को देखा जा सकता है, पर हम अपनी आँखें नहीं देख सकते।

गोस्वामी तुलसीदास की इन पंक्तियों में भी यही चमत्कार है—

वरषहिं जलद भूमि नियराये।
यथा नवहिं बुध विद्या पाये॥

बरसने की हालत में (यानी पर्याप्त जल से परिपूर्ण होने के बाद) मेघ धरती के समीप आ जाते हैं; जैसे विद्या प्राप्त कर लेने के बाद विद्वान् नम्र हो जाते हैं।

रहीम के इस दोहे में भी उदाहरण का ही कौशल और अर्थोत्कर्ष है—

यों रहीम जस होत है, उपकारी के संग।
बाँटनवारे कैं लगै, ज्यों मेहँदी को रंग॥

उपकारी व्यक्तियों या उदार लोगों के सम्पर्क में रहने से थोड़ा यश मिल जाता है, ज्यों मेहँदी बाँटने वाले के हाथ में थोड़ी मेहँदी लग ही जाती है।

उदाहरण अलंकार की प्रकृति का स्पष्ट ज्ञान होने के बाद आप इसे दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास और प्रतिवस्तूपमा से सहज ही पृथक् कर ले सकते हैं। इसमें **जैसे, ज्यों, यथा** इत्यादि का प्रयोग अवश्य ही होता है—कम-से-कम इतना स्मरण रखने से आप भ्रमित नहीं होंगे।

भ्रांतिमान्

अतिशय सादृश्य के कारण एक वस्तु में किसी दूसरी वस्तु का निश्चयात्मक ज्ञान जहाँ वर्णित हो, वहाँ भ्रांतिमान् अलंकार होता है।

भ्रांति हो जाना, भ्रम में पड़ जाना, धोखा हो जाना ही इस अलंकार का मूल चमत्कार है। इस स्थिति का यदि कवित्वपूर्ण वर्णन हो, तभी भ्रांतिमान् अलंकार होता है। यों रस्सी में साँप का भ्रम तो आम बात है; प्रस्तर-प्रतिमा में सजीव मनुष्य का भ्रम भी अक्सर होता रहता है। पर प्रश्न यह है कि यदि किसी की ऐन्द्रिक दुर्बलता के कारण ऐसा भ्रम होता है और उसका वास्तविक वर्णन किया जाता है, तो क्या वहाँ चमत्कार होगा? मेरे विचार से वहाँ तो चमत्कार नहीं होना चाहिए; क्योंकि उस मनुष्य की कमजोरी के प्रति हमारे मन में दया का भाव ही जगेगा। वहाँ चमत्कार कहाँ?

आलंकारिकों ने इस दृष्टि से विचार नहीं किया है। पर संकेत यह मिलता है कि कवि की उन्मुक्त कल्पना से यदि ऐसा कोई चमत्कार फलित हो, तभी यह अलंकार होगा। अलंकारशास्त्र के आचार्यों ने दो वस्तुओं के अतिशय सादृश्य की व्यंजना के लिए भ्रांतिमान् अलंकार की स्थिति स्वीकृत की है। **भ्रांतिमान् में भ्रम की स्थिति वाच्य होती है तथा सादृश्य की कल्पना व्यंग्य होती है।** भ्रम के निश्चयात्मक होने से दो वस्तुओं की उत्कट समानता ही अभिव्यंजित होती है। रुय्यक ने इस अलंकार की सृष्टि के लिए **कवि-प्रतिभा की आवश्यकता मानी है।** यहाँ एक उदाहरण देखें—

फिर घर को नूतन पथिक, चले चकित चित भागि।
फूल्यो देखि पलास वन, समुहें समुझि दवागि॥

वसन्त ऋतु में विदेश की यात्रा करने वाले नये पथिकों की दशा का वर्णन है। जब वे जंगल पहुँचे तो उनलोगों ने पलाश के लाल रतनार फूलों को खिला देखा। उनलोगों ने कभी भी पलाश के फूल नहीं देखे थे। पर उनलोगों ने यह सुन रखा था कि जंगल में वृक्ष-वृक्ष आपस में रगड़ खाते हैं, फलतः दावाग्नि फैलती है। जब पलाश के खिले हुए लाल फूल उनकी आँखों के आगे प्रकट हुए, तो उनलोगों ने यह समझा कि दावाग्नि फैल रही है। फलतः वे सीधे अपने घरों की तरफ भाग खड़े हुए।

इस उदाहरण में यह दिखाया गया है कि वसन्त में पलाश के फूल स्फुलिंगों

के समान प्रतीत होते हैं। इसी साम्य की व्यंजना के लिए भ्रांति का प्रसंग उपस्थित किया गया है। निष्कर्ष यह कि भ्रांतिमान् का चमत्कार भ्रमित होने में नहीं है, साम्य की व्यंजना में है।

भ्रांतिमान् के चमत्कार की पहली शर्त तो यही कि भ्रान्ति उत्पन्न करने वाले सादृश्यमूलक प्रसंग घिसे हुए न हों; उनमें ताजगी और मन को उद्बुद्ध करने की क्षमता हो। रीतिकाव्य के महाकवि बिहारी के निम्नोक्त मुक्तक में ऐसा ही प्रसंग है—

पाय महावर देन को, नाइन बैठी आय।
फिर-फिर जानि महावरी, एँड़ी मीड़ति जाय॥

नाइन को नायिका की एड़ी में महावर की गोली का भ्रम हो जाता है। ऐसा भ्रम क्यों होता है? व्यंग्य यह है कि नायिका की एड़ी विलास-कक्ष की कामिनी होने के कारण सुकुमार तथा अतिशय लाल है। इसी अतिशय लाली के कारण उसकी एड़ी को ही नाइन महावर की गोली समझ बैठती है। फलतः वह महावर की गोली न मलकर, नायिका की एड़ी को ही मिलती चली जाती है।

भौंरे और तोते की लड़ाई का वर्णन भ्रांतिमान् के चमत्कार के माध्यम से किया गया है—

किंशुक कुसुम जानकर झपटा भौंरा शुक की लाल चोंच पर,
तोते ने निज ठोर चलाई जामुन का फल उसे सोचकर।

भौंरे ने तोते की चोंच को किंशुक का फूल समझा (अतिशय लाली के कारण) और तोते ने भौंरे के कालेपन के कारण उसे पका हुआ जामुन समझा। भ्रम की सीमा इस निश्चय तक पहुँच गयी कि दोनों ने एक-दूसरे पर हमला किया।

एक अत्यंत विरहदग्ध प्रेमी कह रहा है कि मरने को जहाँ भी जाओ, वहाँ तो कष्ट ही कष्ट है। पर पलाश की डालों पर जो निर्धूम अंगार रखे हुए हैं, उनसे

भ्रांतिमान् को यदि स्वतंत्र रूप में देखा जाय तो वह पता लगेगा कि भ्रांतिमान् सभी अर्थालंकारों में श्रेष्ठतम है। आप पूछेंगे क्यों? इसका उत्तर यह है कि नाटक में राम का अभिनय नट करता है, दुष्यंत का अभिनय नट करता है या अन्य किसी भी ऐतिहासिक या काल्पनिक पात्र का। यहाँ आपसे यह पूछा जा सकता है कि नट क्या अपने हावभाव, आहार-व्यवहार, रूप-रंग तथा वेशभूषा से अपने अभिनय में राम का भ्रम नहीं उत्पन्न करता है? क्या नाटक या फिल्म देखते वक्त आप मूल पात्र और अभिनेता को एक नहीं समझते? क्या इसी भ्रम की सृष्टि करने पर ही नाट्याभिनय अधारित नहीं है? और क्या इसी भ्रम की सृष्टि अभिनेता की सफलता नहीं है?

प्रसिद्ध मार्क्सवादी समीक्षक कॉडवेल ने Illusion and Reality नामक पुस्तक में तो यहाँ तक कहा कि साहित्य जीवन की वास्तविकता का भ्रम उत्पन्न करता है। निष्कर्ष यह कि भ्रम उत्पन्न करना ही कला है। सारी कलाओं के मूल में यह **भ्रम** ही लक्ष्य बनकर काम करता रहता है।

मरना श्रेयस्कर है। फिर ऐसा अवसर कभी नहीं आयेगा—

अन्त मरैंगे चलि जरे, चढ़ि पलास की डार।
फिरि न मरै मिलि हैं अली, ए निरधूम अँगार।।

यहाँ भी सादृश्य व्यंग्य है और इसी गम्यमान सादृश्य के कारण भ्रांतिमान् का चमत्कार बढ़ जाता है। पलाश के दहके हुए चटख सुर्ख फूलों में प्रेमी महोदय को लाल निर्धूम अंगार का भ्रम हो गया है। तुर्रा यह कि पलाश की डाल पर बैठकर इन्हीं अंगारों से वे मरना चाहते हैं। भला, ऐसी आग कहाँ मिलेगी जहाँ धुआँ न हो। इसलिए दहकते हुए लाल किंशुक पुष्पों से वे मरना चाहते हैं; जो अंगार तो हैं, पर उनमें धुआँ नहीं है।

स्वभावोक्ति

जाति, गुण, क्रिया अथवा द्रव्य के स्वभाव-वर्णन को स्वभावोक्ति अलंकार कहते हैं।

स्वभावोक्ति का अर्थ है—स्वभाव की उक्ति, स्वभाव-वर्णन, प्रकृत वर्णन। स्वभावोक्ति वास्तविक या यथातथ्य वर्णन को कहते हैं।

भामह से पूर्व ही इस अलंकार को स्वीकृति मिली। पर भामह ने इसका उल्लेख मात्र किया है। भामह स्वभावोक्ति में वक्रोक्ति का अभाव दिखलाते हुए इसे अलंकार नहीं मानते। वामन और कुन्तक भी इसी तर्क के आधार पर इसे अलंकार नहीं मानते।

आलंकारिकों का एक दूसरा वर्ग भी है, जो इसे अलंकार मानने के पक्ष में तर्क देता है। रुद्रट का कहना है कि वाच्य का भी वैचित्र्य होता है और स्वभावोक्ति में इसी वाच्य-वैचित्र्य के कारण चमत्कार होता है। विश्वनाथ का मत है कि किसी वस्तु के रूप और क्रिया का ऐसा वर्णन संभव है, जो कवि की सूक्ष्म दृष्टि से ही देखा जा सकता है। इस सूक्ष्म दृष्टि से वस्तु को देखने के फलस्वरूप जो भावोत्कर्ष होता है, वही स्वभावोक्ति है।

आधुनिक युग के महान् आलोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भी स्वभावोक्ति को अलंकार नहीं मानते। उनका तर्क यह है कि अगर स्वभावोक्ति भी अलंकार है तो बचा क्या? कौन-सा ऐसा वर्णन है, जिसमें अलंकार नहीं होता?

मम्मट ने इसका लक्षण बतलाते हुए कहा है— 'जिसमें बालक अथवा पदार्थ की प्रकृति-सिद्ध क्रिया या रूप का वर्णन होता है।'

उनके इस लक्षण के आधार पर सूरदास द्वारा वर्णित बालक कृष्ण के सभी प्रसंग स्वभावोक्ति के ही उदाहरण हैं। जैसे— 'घुटरुनु चलत, रेनु-तन मंडित मुख-दधि लेप किये।' या तुलसीदास द्वारा वर्णित—

भोजन करत चपल चित, इत उत औसर पाइ।
भागि चले किलकात मुख, दधि ओदन लपटाइ॥

विहारी द्वारा वर्णित कृष्ण का यथावत् रूप भी स्वभावोक्ति का ही उदाहरण होगा—

सीस मुकुट कटि काछनी, कर मुरली उर माल।
इहि बानिक मो मन बसौ, सदा विहारी लाल॥

निराला की 'भिक्षुक' शीर्षक कविता में भी भिक्षुक का यथार्थ-वर्णन किया गया है। इस यथार्थ वर्णन को हम स्वभावोक्ति का उदाहरण मान सकते हैं। या फिर नागार्जुन की 'दुखरन मास्टर' शीर्षक कविता भी स्वभावोक्ति का ही उदाहरण है। हाल में नागार्जुन की एक कविता प्रकाशित हुई है, जो अकाल से त्रस्त एक दरिद्र घर का यथावत् चित्र है—

कई दिनों तक चूल्हा रोया, चक्की रही उदास।
कई दिनों तक कानी कुतिया सोयी उसके पास।
कई दिनों तक लगी भीत पर छिपकलियों की गश्त।
कई दिनों तक चूहों की भी हालत रही शिकस्त।
दाने आये घर के अन्दर कई दिनों के बाद।
चमक उठी घर भर की आँखें कई दिनों के बाद।
धुआँ उठा घर के बाहर कई दिनों के बाद।
कौए ने खुजलायी पाँखें कई दिनों के बाद।

स्वभावोक्ति को अलंकार मानना कहाँ तक युक्तिसंगत है, इस प्रश्न पर आचार्यों ने विचार किया है। मेरा मत यही है कि इसे एक प्रकार की वर्णन-पद्धति मानना चाहिए, अलंकार नहीं।

व्याजोक्ति

प्रकट होते हुए रहस्य को किसी बहाने से छिपा लेना व्याजोक्ति है।

व्याजोक्ति का अर्थ है—व्याज अर्थात् बहाने से उक्ति। दरअसल इस अलंकार में कोई गुप्त बात एकाएक खुल जाती है; फिर उसे किसी बहाने से गोपनीय बनाने का प्रयत्न होता है। **असत्य के द्वारा प्रकट होते हुए सत्य को छिपाना ही इस अलंकार का चमत्कार है।**

उदाहरणों से बात स्पष्ट हो सकती है। बिहारी के इस दोहे का भाव-प्रसंग बड़ा रमणीय है। नायिका के घर में नायक कृष्ण आ जाते हैं। वह अपने प्रेमी कृष्ण को देखकर रोमांच तथा शृंगारिक कम्प का अनुभव करती है। कोई सखी उसकी इस स्थिति को समझ-सी जाती है। पर इस सत्य पर पर्दा डालने के लिए वह कहती है कि यह काला कृष्ण तो डरावना है; इससे डरकर, भयभीत होकर मैं काँप जाती हूँ। मेरी देह में थरथरी हो जाती है।

कारे बरन डरावने कत आवत यहि गेह।
कइ वा लख्यो सखी लखैं लगे थरथरी देह॥

नायिका कृष्ण को देखकर रोमांच और प्रकम्प का अनुभव करती है। कोई इसे समझ न ले, इसलिए वह कृष्ण के काले रंग को डरावना बताती है और अपने रोमांच-प्रकम्प आदि को शृंगारजनित न बताकर, भयजनित बताती है। यहाँ व्याजोक्ति का चमत्कार कितना मनोरम प्रसंग उपस्थित करता है! प्रकट होते हुए रहस्य को व्याज से छिपाने का यह उपक्रम-कथन सच में चमत्कारपूर्ण है।

बिहारी का ही दूसरा दोहा देखें। इसमें नायक नायिका से विदा ले रहा है। उसके विदेश-गमन की बात सुनकर नायिका की आँखों में आँसू आ जाते हैं। वहाँ उसकी सखियाँ भी उपस्थित हैं। उसके आँसू प्रेमभाव का रहस्य न मुखर बना दें, इस उद्देश्य से वह व्यर्थ ही जम्हाई लेने लगती है। वह प्रकट यह करना चाहती है कि आँखों के ये आँसू, अनुरागजनित नहीं हैं, बल्कि अँगड़ाई लेने से आये हैं—

ललन चलन सुनि पलन में, अँसुवा झलके आय।
भई लखाइ न सखिन हूँ, झूठे ही जमुहाय॥

यहाँ आँसुओं से प्रेम का रहस्य एकाएक प्रकट होने लगता है, कि झट से नायिका अँगड़ाई लेने लगती है और प्रकट होते हुए रहस्य को व्याज से छिपाती है।

बैठी हुती व्रज की बनितान में आइ गयो कहुँ मोहन लाल है।
ह्वै गयी देखत मोदमयी, निहाल भयी वह बाल रसाल है।।
रोम उठे मन काँप्यो कछू मुसकात लख्यो सखियान को जाल है।
'सीरी बयारि वही सजनी', उठियो कहिकै उन ओढ्यो जु साल है।

यह भी रीतिकाव्य का ही उदाहरण है। व्रज की ललनाओं के बीच कृष्ण आ गये। उनमें से एक नायिका कृष्ण को देखकर निहाल हो गयी। उसके रोम काँप उठे यानी उसे रोमांच हो आया। सखियाँ उसकी इस दशा पर व्यंग्य से मुस्कुराती दीख पड़ीं। प्रेमजनित रोमांच को छिपाने के लिए वह कहती है—"हे सखी, बड़ी ठंडी बयार बह रही है।" इतना कहकर वह उठ खड़ी हुई और अपने शरीर को दुशाले से ढँक लिया। इस उदाहरण में भी नायिका अपने प्रेमजनित रोमांच को छिपाने के लिए उसे ठंडी बयार का परिणाम बतलाने का उपक्रम करती है।

मध्यकालीन काव्य में ऐसे प्रसंगों की भरमार है, विशेषकर शृंगार के प्रकरण में ऐसी उक्तियाँ मिलती हैं।

भाविक

जहाँ भूत और भविष्यत् भावों या पदार्थों का प्रत्यक्षवत् दर्शन वर्णित किया जाय, वहाँ भाविक अलंकार होता है।

'भाविक' को अलंकार के रूप में नहीं, बल्कि 'गुण' के रूप में भामह ने स्वीकार किया है। भामह के अनुसार भाविकत्व प्रबंधविषयक गुण है। प्रबंध-विषयक इसी गुण के कारण भूत और भावी पदार्थ प्रत्यक्षवत् दीखते हैं।

रुद्रट ने **भाविक** को वाच्य-सौन्दर्य के रूप में प्रतिष्ठित किया है। वाच्य-सौन्दर्य सर्वदा अलंकार नहीं होता; वाच्य-सौन्दर्य शैली का गुण-विशेष भी हो सकता है। पर मम्मट ने इसे साफ तौर पर अलंकार माना है।

दरअसल भाविक अलंकार को स्मरण और अनुमान का संकर समझना चाहिए। इसे अलंकार के रूप में स्वीकृत करना व्यर्थ का विस्तार मात्र है। मम्मट ने संस्कृत का जो उदाहरण दिया है, उसके अनुवाद से स्पष्ट हो जा सकता है कि इसमें चमत्कार कुछ भी नहीं है—

हे प्रिये, मैं तुम्हारे उन नेत्रों को देख रहा हूँ, जिनमें अंजन लगा था और आगे अलंकृत होने वाली तेरी आकृति को साक्षात् देख रहा हूँ।

अब बताइये, इसमें क्या चमत्कार है? तो फिर भाविक को क्यों अलंकार माना जाय?

अर्थश्लेष

जहाँ एकार्थक शब्दों से अनेक वैचित्र्यपूर्ण अर्थ निकले, वाँ अर्थश्लेष अलंकार होता है।

श्लेष के दो भेद किये जाते हैं— शब्द पर जिस श्लेष का चमत्कार आश्रित है, उसे शब्दश्लेष और जिसका चमत्कार अर्थ पर आश्रित हो उसे अर्थश्लेष माना जाता है। संस्कृत के आचार्यों में मम्मट और विश्वनाथ ने इन दोनों भेदों को माना है और श्लेष के शब्दार्थ-सम्बन्धी विवाद का शमन चाहा है।

अर्थश्लेष को मम्मट और विश्वनाथ ने सादृश्यगर्भ के गम्यौपम्याश्रय वर्ग के विशेषण-वैचित्र्यमूल अर्थालंकार के वर्ग में रखा है।

रामचरितमानस में गोस्वामी तुलसीदास ने इसका बड़ा सुन्दर प्रयोग किया है—

साधु चरित शुभ चरित कपासू।
निरस विसद गुनमय फल जासू॥

नीरस, विशद और गुणमय—ये तीन विशेषण शब्द हैं। विशेष्य कपास और साधु के प्रसंग में इन तीनों शब्दों के कई अर्थ निकलते हैं।

अर्थश्लेष और शब्दश्लेष का अन्तर यह है कि अर्थश्लेष में एकार्थक शब्दों से प्रसंगवश अनेक अर्थ निकलते हैं, पर शब्दश्लेष में अनेकार्थक शब्दों का प्रयोग आवश्यक है, तभी अनेक अर्थ निकलेंगे।

व्याजस्तुति

जहाँ निन्दा के व्याज से प्रशंसा हो, वहाँ व्याजस्तुति अलंकार होता है।

व्याजस्तुति शब्द का अर्थ है—व्याज से स्तुति करना; बहाने से प्रशंसा करना। निन्दा के बहाने प्रशंसा करने से ही यह अलंकार होता है। उद्भट ने यह माना है कि जिस कवित्वपूर्ण उक्ति में शब्दों की अभिधाशक्ति निन्दा का बोध कराये, पर जो तात्पर्य या वाक्यार्थ निकले, वह स्तुतिपरक हो—वहाँ व्याजस्तुति होती है। इस अलंकार में निन्दा का अर्थ वाच्य होता है और प्रशंसा का अर्थ व्यंग्य होता है। व्यंग्यार्थ का चमत्कार ही इस अलंकार का लक्ष्य है।

भसम लपेटे विष अहि सहित, गंग कियो तैं मोहि।
भोगी तें जोगी कियो कहा कहौं अब तोहि॥

'गंगालहरी' से पद्माकर की ये पंक्तियाँ उद्धृत की गयी हैं। कवि शंकर की ओर से कह रहा है—हे गंगे, तूने मुझे कैसा बना दिया! शरीर पर भस्म लपेटना पड़ा, सर्प को धारण करना पड़ा। तूने मुझे भोगी से योगी बना दिया, हे गंगे, अब तुझे मैं क्या कहूँ! यहाँ प्रत्यक्षतः गंगा की निन्दा है। पर व्यंग्यार्थ यह है कि गंगा ने शंकर को मनुष्य से देवता बना दिया; भोगी से योगी बना दिया। गंगा की इस शक्ति की स्तुति की जा रही है।

कहा कहौं कहत न बनत, सुरसरि तेरी रीति।
ताके तू मूड़े चढ़ै, जा आवै करि प्रीति॥

गंगा की रीति निराली है; जो उसके पास प्रीति करने आता है, उसके सिर चढ़ जाती है (प्रत्यक्षतः निंदा)। तात्पर्य यह है कि शंकर उसके पास आये, उनकी जटा में निवास कर गंगा ने उन्हें महादेव बना दिया (व्यंग्यार्थ में प्रशंसा है)।

पद्माकर की 'गंगालहरी' में व्याजस्तुति के उदाहरण भरे पड़े हैं। गोस्वामी तुलसीदास की 'विनयपत्रिका' में भी 'बावरो रावरो नाह भवानी' वाला पद इसी अलंकार का उदाहरण है।

कहा लड़ैते दृग करे, परे लाल बेहाल।
कहुँ मुरली, कहुँ पीतपट, कहुँ मुकुट, बनमाल॥

सखी नायिका से कह रही है कि उसकी आँखें बड़ी लड़ाकू हैं; जिससे लड़ती हैं, उसका हाल बेहाल कर देती हैं, उस व्यक्ति की सुधबुध जाती रहती है। कृष्ण

का भी तो यही हाल हुआ कि **बाँसुरी** तो कहीं फेंकी है, पीतपट कहीं फेंका है, मुकुट और वनमाला का भी यही हाल है।

वाच्यार्थ की दृष्टि से तो इस दोहे में नायिका को कोसा गया है, उसकी निंदा की गयी है, उसकी आँखों को लड़ाकू कहा गया है तथा नायक की हालत खराब करने के कारण उसे दोषी ठहराया गया है। पर व्यंग्यार्थ की दृष्टि से यहाँ नायिका की आँखों की प्रशंसा की गयी है।

व्याजस्तुति का प्रतिलोम है **व्याजनिन्दा**। व्याज से निन्दा की जाती है। मतलब यह कि प्रत्यक्षतः तो प्रशंसा होती है, पर तात्पर्य निन्दा का होता है। इस अलंकार का कोई विशेष महत्त्व नहीं है।

भाविक

जहाँ भूत और भविष्यत् भावों या पदार्थों का प्रत्यक्षवत् दर्शन वर्णित किया जाय, वहाँ भाविक अलंकार होता है।

'भाविक' को अलंकार के रूप में नहीं, वल्कि 'गुण' के रूप में भामह ने स्वीकार किया है। भामह के अनुसार भाविकत्व प्रवंधविषयक गुण है। प्रवंध-विषयक इसी गुण के कारण भूत और भावी पदार्थ प्रत्यक्षवत् दीखते हैं।

रुद्रट ने भाविक को वाच्य-सौन्दर्य के रूप में प्रतिष्ठित किया है। वाच्य-सौन्दर्य सर्वदा अलंकार नहीं होता; वाच्य-सौन्दर्य शैली का गुण-विशेष भी हो सकता है। पर मम्मट ने इसे साफ तौर पर अलंकार माना है।

दरअसल भाविक अलंकार को स्मरण और अनुमान का संकर समझना चाहिए। इसे अलंकार के रूप में स्वीकृत करना व्यर्थ का विस्तार मात्र है। मम्मट ने संस्कृत का जो उदाहरण दिया है, उसके अनुवाद से स्पष्ट हो जा सकता है कि इसमें चमत्कार कुछ भी नहीं है—

हे प्रिये, मैं तुम्हारे उन नेत्रों को देख रहा हूँ, जिनमें अंजन लगा था और आगे अलंकृत होने वाली तेरी आकृति को साक्षात् देख रहा हूँ।

अव वताइये, इसमें क्या चमत्कार है? तो फिर भाविक को क्यों अलंकार माना जाय?

अर्थश्लेष

जहाँ एकार्थक शब्दों से अनेक वैचित्र्यपूर्ण अर्थ निकलें, वाँ अर्थश्लेष अलंकार होता है।

श्लेष के दो भेद किये जाते हैं— शब्द पर जिस श्लेष का चमत्कार आश्रित है, उसे शब्दश्लेष और जिसका चमत्कार अर्थ पर आश्रित हो उसे अर्थश्लेष माना जाता है। संस्कृत के आचार्यों में मम्मट और विश्वनाथ ने इन दोनों भेदों को माना है और श्लेष के शब्दार्थ-सम्बन्धी विवाद का शमन चाहा है।

अर्थश्लेष को मम्मट और विश्वनाथ ने सादृश्यगर्भ के गम्यौपम्याश्रय वर्ग के विशेषण-वैचित्र्यमूल अर्थालंकार के वर्ग में रखा है।

रामचरितमानस में गोस्वामी तुलसीदास ने इसका बड़ा सुन्दर प्रयोग किया है—

साधु चरित शुभ चरित कपासू।
निरस बिसद गुनमय फल जासू॥

नीरस, विशद और गुणमय—ये तीन विशेषण शब्द हैं। विशेष्य कपास और साधु के प्रसंग में इन तीनों शब्दों के कई अर्थ निकलते हैं।

अर्थश्लेष और शब्दश्लेष का अन्तर यह है कि अर्थश्लेष में एकार्थक शब्दों से प्रसंगवश अनेक अर्थ निकलते हैं, पर शब्दश्लेष में अनेकार्थक शब्दों का प्रयोग आवश्यक है, तभी अनेक अर्थ निकलेंगे।

मिश्रित अलंकार

जहाँ कई अलंकारों का मिश्रण होता है, वहाँ मिश्रित अलंकार होता है। यह मिश्रण शब्दालंकार और शब्दालंकार का भी हो सकता है, अर्थालंकार और अर्थालंकार का भी हो सकता है तथा शब्दालंकार और अर्थालंकार का भी हो सकता है। मिश्रित अलंकार की कल्पना इसलिए की गयी है कि एक ही उक्ति में कई तरह के चमत्कारों की एकत्र स्थिति दिखायी जा सके।

मिश्रित अलंकारों में दो ही प्रमुख हैं— संकर तथा संसृष्टि।

संकर

जहाँ अनेक अलंकारों की परस्पर सापेक्ष स्थिति हो, वहाँ संकर अलंकार होता है।

संकर शब्द का अर्थ है परस्पर घनीभूत रूप से संयुक्त; परस्पर ऐसा मिश्रण कि एक को दूसरे से अलग न किया जा सके। जिस तरह दूध और पानी के मिल जाने पर दोनों को एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता, उसी तरह संकर अलंकार में भी कई अलंकार इस तरह मिल जाते हैं कि एक को दूसरे से अलग करना असंभव हो जाता है।

आलंकारिकों ने इसी कारणवश संकर अलंकार में अलंकारों का नीर-क्षीर-न्याय से एकत्र होना माना है। कई अलंकार दूध-पानी की तरह मिले होते हैं, एक का अस्तित्व दूसरे पर निर्भर करता है और दूसरे का चमत्कार पहले के कारण होता है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि संकर में जितने अलंकार हैं, वे एक-दूसरे की अपेक्षा करते हैं; फलत: सापेक्ष होते हैं। एकाधिक अलंकारों के इस अभेद-सम्बन्ध के कारण ही इसे मिश्रालंकार की कोटि में रखा गया है।

'काव्यप्रकाश' के रचयिता मम्मट ने संकर में अलंकारों का एकत्र योग तीन प्रकार से माना है—(१) जहाँ प्रमुख अलंकारों का परस्पर अंगांगिभाव सम्बन्ध हो, (२) एक ही आश्रय में अनेक अलंकारों का प्रवेश हो तथा (३) एकाधिक अलंकारों का संदेह हो।

इसी अधार पर संकर अलंकार के तीन भेद माने गये हैं— (१) अंगांगिभाव संकर, (२) एकाश्रयनुपवेश संकर तथा (३) ससंदेह संकर।

अंगांगिभाव संकर

जहाँ एक अलंकार अंगी हो तथा शेष उसके अंग की तरह हों वहाँ अंगांगिभाव संकर होता है। अलंकारों का परस्पर पोष्य-पोषक भाव या अनुग्राह्य-अनुग्राहक भाव होने पर ही यह अलंकार होता है।

इसमें एक अलंकार प्रधान होता है, शेष अप्रधान। इसी के उत्पन्न होने पर शेष अलंकार भी अपना अस्तित्व प्रकट करते हैं। मतलब यह कि एक अंगी और शेष उसके अंग होते हैं।

खल बढ़ई बल करि थके, कटे न कुवत कुठार।
आलवाल उलझालरी, खरी **प्रेम तरु** डार॥

खल बढ़ई अपना बल प्रयोग करते-करते थक गया, पर उसके कुठार से प्रेम-तरु नहीं कटा। प्रेमतरु की डालें इतनी फैली हुई और शाखा-प्रशाखाओं में इतनी उलझी हुई हैं कि खल बढ़ई उलझकर रह जाता है, उसे काट नहीं पाता है।

यहाँ प्रधान अलंकार रूपक है। पर इसी रूपक के बल पर विशेषोक्ति का चमत्कार निर्भर करता है।

नाचि अचानक ही उठे, बिन पावस वन मोर।
जानति हौं नंदित करी, यह दिसि नंद किसोर॥

यहाँ कृष्ण में मोरों को मेघ का भ्रम होने से भ्रान्तिमान् अलंकार है। इसी भ्रान्तिमान् पर अनुमान निर्भर करता है कि इस तरफ जरूर नन्दकिशोर आये होंगे। इस तरह भ्रान्तिमान् अंगी है तथा अनुमान अलंकार उसका अंग है।

नयन नीलिमा के लघु नभ में, अलि किस सुषमा का संसार।
विरल इन्द्रधनुषी बादल-सा बदल रहा निज रूप अपार॥

नयन-नभ में रूपक होने के कारण ही कवि 'बादल-सा' कहकर उपमा का चमत्कार उत्पन्न करता है। यहाँ रूपक प्रधान है और उपमा अप्रधान; रूपक अंगी है, उपमा अंग।

एकाश्रयानुपवेश संकर

जहाँ एकाधिक अलंकारों की स्थिति एक आश्रय में दीख पड़े, वहाँ एकाश्रयानुपवेश संकर होता है।

इस भेद को एकवाचकानुपवेश संकर भी कहते हैं। अर्थ है— एक ही वाचक या पद या वाक्य में अनेक अलंकारों का प्रवेश होना।

वंदउँ गुरु **पद-पदुम** परागा। सुरुचि सुवास सरस अनुरागा॥

यहाँ पद-पदुम में छेकानुप्रास और रूपक दोनों हैं। फलत: यहाँ एकाश्रयानुपवेश संकर है।

डर न टरै नींद न परै, हरै न काल विपाक।
छिन छाके उछकै न फिरि, खरो विषम छवि छाक॥

यहाँ 'छवि छाक' में वर्णावृत्ति होने से अनुप्रास है; छवि रूप मदिरा का अर्थ होने से रूपक अर्थालंकार है। एक ही पद में दो अलंकारों की एकत्र स्थिति होने से एकाश्रयानुपवेश संकर है।

सिंधु-सेज पर धरा वधू अब,
तनिक संकुचित बैठी-सी।

सिंधु-सेज में रूपक तथा छेकानुप्रास दोनों अलंकार हैं।

ससन्देह संकर

जहाँ एक ही उक्ति में एकाधिक अलंकारों का सन्देह हो, वहाँ ससन्देह संकर माना जाता है।

जहाँ एक ही उदाहरण में कई अलंकारों का मिश्रित होना जान पड़े, पर निर्णय न हो सके यानी विकल्प बना रहे, वहाँ ससन्देह संकर माना जाता है।

काली आँखों में कितनी, यौवन के मद की लाली।
मानिक मदिरा से भर दी, किसने नीलम की प्याली॥

काली आँखों पर **नीलम की प्याली** का अभेद आरोप होने से रूपक है; **यौवन के मद** पर **मानिक मदिरा** का अभेद आरोप होने से रूपक है। पर ऊपर की पंक्तियों का अन्वय यदि इस प्रकार हो कि यौवन के मद से भरी काली आँखें, मानिक मदिरा से भरी नीलम की प्याली की तरह सुन्दर हैं—तो यहाँ लक्ष्योपमा होगी। फलतः अन्वय के कारण, रूपक है या लक्ष्योपमा—का विकल्प बना रह जाता है। इसलिए इस उदाहरण में ससन्देह संकर मानना चाहिए।

छायावाद-युग में इस अलंकार का बड़ा सफल प्रयोग मिलता है। कहना तो यह चाहिए कि निराला, प्रसाद, पंत और महादेवी की कविताओं में इस अलंकार के उदाहरणों की प्रचुरता है। छायावादी रचनाओं में अलंकार की दृष्टि से सदैव एकाधिक अलंकारों का सन्देह बना रह जाता है।

जब शान्त मिलन संध्या को हम हेमजाल पहनाते,
काली चादर के स्तर का खुलना न देखने पाते।

काली चादर और **हेमजाल** के प्रयोग से रूपकातिशयोक्ति है; यथा काली चादर और हेमजाल दोनों के अर्थ दोष-गुण सहित हैं, इसलिए उल्लास अलंकार भी माना जाता है। पर यह निर्णय नहीं हो पाता कि कौन-सा अलंकार है।

संसृष्टि

जहाँ एक ही छंद में एकाधिक अलंकारों की परस्पर निरपेक्ष स्थिति हो, वहाँ संसृष्टि अलंकार होता है।

संकर में तो एक अलंकार को दूसरे से पृथक् करना मुश्किल होता है; पर संसृष्टि में एक अलंकार दूसरे से पृथक् रहता ही है। संकर में एक का चमत्कार दूसरे में संक्रमित कर उसे पुष्ट करता है, उसे अर्थ-गौरव प्रदान करता है; पर संसृष्टि में एक अलंकार दूसरे से उसी प्रकार पृथक् रहता है, जैसे एक पात्र में रखे हुए तिल और चावल।

आलंकारिकों ने संसृष्टि में अलंकारों की स्थिति तिल-तंडुल भाव से मानी है। पात्र में रखे तिल और चावल को आसानी से अलग-अलग पहचाना जा सकता है; उसी तरह संसृष्टि में एक अलंकार को दूसरे से पृथक् कर सहज ही पहचान लिया जाता है।

प्रश्न यह है कि क्या संसृष्टि में कई अलंकारों को अलग-अलग पहचान लेना ही उसके चमत्कार को भी पहचान लेना है? नहीं। एकाधिक अलंकारों की निरपेक्षता से जो अभिव्यक्ति का सौन्दर्य उत्पन्न होता है, उसे पहचानना ही संसृष्टि के चमत्कार को पकड़ना है।

आचार्यों ने संसृष्टि के तीन भेद किये हैं— (१) शब्दालंकार संसृष्टि, (२) अर्थालंकार संसृष्टि तथा (३) उभयालंकार संसृष्टि।

शब्दालंकार संसृष्टि

जहाँ एकाधिक शब्दालंकारों की निरपेक्ष स्थिति हो; जैसे—

दीरघ साँस न लेहि दुख, सुख साईंहिं न भूलि।
दई-दई क्यों करतु है, दई-दई सु कबूलि॥

इसमें स तथा द वर्ण की आवृत्ति होने से छेकानुप्रास तथा दई-दई (दैव तथा दिया) की आवृत्ति से यमक अलंकार है। दो शब्दालंकारों की निरपेक्ष स्थिति होने से शब्दालंकार संसृष्टि है।

कुण्डल जिय रक्षा करन, कवच करन जय वार।
करन दान आहव करन, करन करन बलिहार॥

इस उदाहरण में लाटानुप्रास और यमक की निरपेक्ष स्थिति होने के कारण शब्दालंकार संसृष्टि है।

प्रलय करन बरषन लगे, जुरि जलधर इक साथ।
सुरपति-गर्व हर्‍यो हरषि, गिरिधर गिरिधर हाथ॥

पूर्वार्द्ध में र की आवृत्ति से वृत्त्यनुप्रास है, उत्तरार्द्ध में **हर्‍यो हरषि** में 'हर' की आवृत्ति से छेकानुप्रास है तथा **गिरिधर गिरि धर** में यमक है। यहाँ भी शब्दालंकार संसृष्टि है।

अर्थालंकार संसृष्टि

अनेक अर्थालंकारों का एकत्रीकरण जहाँ परस्पर निरपेक्ष रूप में हो; जैसे—

कच समेटि, कर भुज उलटि, खए सीस पट डारि।
काको मन बाँधै न यह, जूरो बाँधनिहारि॥

पूर्वार्द्ध में स्वभावोक्ति है। उत्तरार्द्ध में अर्थ-वक्रोक्ति है। इसलिए इस दोहे में दो अर्थालंकारों की संसृष्टि मानी गयी है।

अनत बसे निसि की रिसनि, उर बरि रही बिसेषि।
तऊ लाज आई उझकि, खरे लजौंहें देखि॥

नायिका के पति महोदय रात में कहीं और बस गये थे; इसलिए वह क्रोधित थी। पर उनके चेहरे पर लज्जा देखकर नायिका को उन्हें डाँटने में स्वयं विशेष लज्जा हो रही है।

यहाँ विभावना (प्रतिबंधक क्रोध के होते हुए भी प्रेम उमड़ आना) और हेतु की संसृष्टि है।

नील सरोरुह स्याम, तरुन अरुन वारिज नयन।
करो सो मम उर धाम, सदा क्षीर-सागर-शयन॥

पहले दो चरणों में लुप्तोपमा और चौथे चरण में पर्यायोक्ति अलंकार है। फलत: यहाँ लुप्तोपमा और पर्यायोक्ति की संसृष्टि है।

उभयालंकार संसृष्टि

जहाँ शब्दालंकार और अर्थालंकारों की परस्पर निरपेक्ष स्थिति हो; जैसे—

दंड यतिन कर भेद जहँ, नर्तक नृत्य समाज।
जीतहु मनहिं सुनिय अस, रामचंद्र के राज॥

नर्तक और नृत्य में न तथा रामचंद्र और राज में र की आवृत्ति होने से

अनुप्रास; पूरे दोहे में परिसंख्या अलंकार है। यहाँ अनुप्रास तथा परिसंख्या की संसृष्टि होने से उभयालंकार संसृष्टि है।

तरनि-तनूजा-तट तमाल-तरुवर बहु छाये।
झुके कूल सों जल परसन हित मनहुँ सुहाये॥

पूर्वार्द्ध में 'त' की आवृत्ति से वृत्त्यनुप्रास तथा उत्तरार्द्ध में 'मनहुँ' के प्रयोग से उत्प्रेक्षा है। दोनों की निरपेक्ष स्थिति के कारण इस उदाहरण में उभयालंकार संसृष्टि है।

सम सुबरन सुखमाकर सुखद न थोर,
सीय अंग सखि कोमल कनक कठोर।

'स' और 'क' वर्ण की आवृत्ति से वृत्त्यनुप्रास है। सीता के अंग को कोमल और कनक को कठोर बताने के कारण उपमेय के उत्कर्ष-वर्णन में व्यतिरेक अलंकार है। यहाँ वृत्त्यनुप्रास और व्यतिरेक की संसृष्टि है।

निराला की निम्नोक्त पंक्तियों में भी उभयालंकार संसृष्टि है—

जीवन प्रात समीरण-सा लघु, विचरण निरत करो,
तरु **तोरण तृण-तृण** की कविता, **छविमधु** सुरभि भरो।

पहले चरण में उपमा है, त, र, ण, की आवृत्ति से वृत्त्यनुप्रास है तथा छवि-मधु में रूपक है।



अलंकार-युग्मों का तुलनात्मक विवेचन

लाटानुप्रास तथा यमक

१. लाटानुप्रास में पदों की आवृत्ति होती है; पर यमक में वर्णों की आवृत्ति होती है।

२. लाटानुप्रास में जिन पदों की आवृत्ति होती है, उनके अर्थ में कोई भिन्नता नहीं होती; केवल प्रसंग के अनुसार उनके तात्पर्य में भिन्नता होती है।

पर यमक में यदि सार्थक वर्णों की आवृत्ति होती है, तो उनमें अर्थ की भिन्नता आवश्यक है।

लाटानुप्रास में एक ही अर्थ वाले पदों की आवृत्ति होती है, पर यमक में भिन्नार्थक शब्दों की आवृत्ति होती है।

३. लाटानुप्रास में कवि का उद्देश्य होता है शब्द और अर्थ दोनों की पुनरुक्ति से तात्पर्य की भिन्नता उपस्थित करना, पर यमक में कवि का उद्देश्य होता है एक ही शब्द को बार-बार दुहराकर भिन्न-भिन्न अर्थ का चमत्कार प्रस्तुत करना।

निष्कर्ष यह कि लाटानुप्रास में शब्द और अर्थ दोनों की आवृत्ति से चमत्कार उत्पन्न होता है, जब कि यमक में केवल शब्द की आवृत्ति से।

४. लाटानुप्रास में निरर्थक शब्दों की आवृत्ति नहीं होती, यमक में निरर्थक शब्दों की भी आवृत्ति हो सकती है।

५. लाटानुप्रास में श्लिष्ट शब्द नहीं होते, जब कि यमक में श्लिष्ट शब्द होते हैं, इसीलिए भिन्नार्थकता के लिए उन्हें बार-बार आना पड़ता है।

शब्द-श्लेष और अर्थ-श्लेष

१. शब्द-श्लेष के लिए जिस विशेष शब्द का व्यवहार हुआ है, उसी का रहना अनिवार्य है; परन्तु अर्थ-श्लेष के साथ ऐसी बात नहीं है। इसमें उस विशेष शब्द को हटाकर उसके बदले अन्य समानार्थक शब्द का प्रयोग किया जा सकता है।

मतलब यह कि शब्द-श्लेष में शब्द-परिवृत्ति-सहिष्णुत्व नहीं होता, जब कि अर्थ-श्लेष में शब्द-परिवृत्ति-सहिष्णुत्व होता है।

२. शब्द-श्लेष दूसरे अलंकारों का अंगीभूत भी हो सकता और स्वतंत्र भी हो सकता है; पर अर्थश्लेष सदैव अपना प्राधान्य बनाये रखता है। अर्थ-श्लेष दूसरे अलंकारों का अंगीभूत नहीं हो सकता।

३. शब्द-श्लेष का चमत्कार शब्द पर आश्रित है, पर अर्थ-श्लेष का चमत्कार अर्थ पर आश्रित।

४. अभंग और सभंग—दोनों प्रकार के श्लेष के उदाहरण—शब्द-श्लेष के अन्तर्गत आ सकते हैं, पर अर्थ-श्लेष के उदाहरण सदैव अभंग शब्दों के प्रयोग से ही मिलते हैं। निष्कर्ष यह कि शब्द-श्लेष के शब्दों का भंग करके भी अर्थ निकलता है, पर अर्थ-श्लेष के शब्दों का भंग नहीं किया जा सकता।

श्लेष और यमक

१. श्लेष में श्लिष्ट शब्दों का एक बार ही व्यवहार होता है, जब कि यमक में श्लिष्ट शब्दों का बार-बार व्यवहार होता है।

२. श्लेष में चमत्कार इस कौशल में निहित है कि अनेकार्थक शब्दों का प्रयोग एक ही बार किया जाय, फिर भी उनकी अनेकार्थकता बनी रहे। यमक में शब्दों की इस अनेकार्थकता के लिए उनका बार-बार प्रयोग अपेक्षित है।

उपमा और रूपक

१. उपमा में एक वस्तु पर दूसरी विजातीय वस्तु का भेदसहित आरोप होता है, पर रूपक में एक वस्तु पर दूसरी विजातीय वस्तु का अभेद आरोप होता है।

२. उपमा में दो वस्तुओं का सादृश्य स्थापित किया जाता है, पर रूपक में तादात्म्य।

३. उपमा के सादृश्य में उपमेय उपमान की तुलना में न्यून गुण वाला है, पर रूपक में उपमान-उपमेय दोनों समान गुण वाले होते हैं। उपमा में उपमेय का उपकार किया जाता है, पर रूपक में ऐसी बात नहीं होती।

४. उपमा में उपमान और उपमेय की दूरी बनी रहती है, पर रूपक में यह पार्थक्य मिट जाता है।

५. उपमा में सादृश्य वाच्य होता है, रूपक में सादृश्य व्यंग्य होकर आता है।

६. उपमा में वाचक शब्द तथा साधारण धर्म आवश्यक होते हैं, पर रूपक में न तो वाचक शब्द की और न साधारण धर्म के कथन की जरूरत पड़ती है।

७. उपमा का 'चाँद-सा सुन्दर मुख' रूपक में 'मुखचन्द्र' हो जाता है।

उपमा और उत्प्रेक्षा

१. उपमा का प्राण सादृश्य की कल्पना है, पर उत्प्रेक्षा का प्राण सादृश्य की संभावना है।

२. उपमा में एक वस्तु पर दूसरी वास्तविक विजातीय वस्तु का आरोप किया जाता है, पर उत्प्रेक्षा में एक वस्तु पर दूसरी वास्तविक या अवास्तविक विजातीय वस्तु की संभावना की जाती है। प्रसाद जी ने 'कामायनी' में श्रद्धा के मृदु अधखिले अंग के सम्बन्ध में संभावना की है—'खिला हो ज्यों बिजली का फूल, मेघवन बीच गुलाबी रंग।' बिजली के फूल की यह कल्पना अवास्तविक ही है। जैसे कोई कहे कि आज हंस जो उड़ रहे थे, वे मानों उजले कौए थे। इस कथन में **उजले कौए** वास्तविक नहीं हैं, अवास्तविक हैं; कौओं के उजले होने की कल्पना की गयी है।

इस तरह उत्प्रेक्षा के उपमान वास्तविक नहीं भी हो सकते हैं, पर उपमा के उपमान हमेशा वास्तविक होते हैं।

३. उपमा में उपमेय और उपमान का साम्य निश्चित होता है, उत्प्रेक्षा में यह साम्य अनिश्चित होता है। **ऐसा लगता है, मानों, जनु** इत्यादि वाचक शब्दों के व्यवहार से साम्य की धारणा अनिश्चित हो जाती है।

उत्प्रेक्षा में उपमान के प्रति संशय आवश्यक है। पर उपमा में यह संशय कदापि नहीं होता।

रूपक और रूपकातिशयोक्ति

१. रूपक में उपमेय और उपमान दोनों का कथन होता है, पर रूपकातिशयोक्ति में केवल उपमान का कथन होता है।

२. रूपक में उपमेय पर उपमान का अभेद आरोप होता है, पर रूपकातिशयोक्ति में उपमान, उपमेय को अपने में निगल लेता है।

३. रूपक के **मूल में गौणी सारोपा लक्षणा होती है, पर रूपकातिशयोक्ति के मूल में गौणी साध्यवसाना लक्षणा** होती है।

४. रूपक में उपमेय तथा उपमान दोनों का स्पष्ट बोध होता है, पर रूपकातिशयोक्ति में उपमान के द्वारा उपमेय का बोध कराया जाता है। रूपक का चमत्कार एक तरह से प्रशस्त होता है, पर रूपकातिशयोक्ति का चमत्कार कठिन कविकर्म से ही पूर्ण हो पाता है।

५. रूपक में उपमान-उपमेय दोनों प्रधान बने रहते हैं; पर रूपकातिशयोक्ति में उपमान प्रधान हो जाता है और उपमेय गौण हो जाता है।

६. रूपक अभेद-प्रधान है, पर रूपकातिशयोक्ति अभेद-सर्वस्व है।

रूपक और समासोक्ति

१. रूपक का चमत्कार रूप के आरोप के कारण है, पर समासोक्ति का चमत्कार व्यवहार के आरोप के कारण है।

२. रूपक के मूल में गौणी सारोपा लक्षणा है, पर समासोक्ति के मूल में गुणीभूत व्यंग्य।

३. रूपक में प्रस्तुत और अप्रस्तुत—दोनों अर्थ समान होते हैं, पर समासोक्ति में एक प्रधान और दूसरा गौण।

४. रूपक में उपमान या उपमेय एक-दूसरे की सहायता करते हैं और तब तादात्म्य होता है, पर समासोक्ति में वाच्यार्थ व्यंग्यार्थ को अपने अधीन कर लेता है, फलतः व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ को अलंकृत करने में ही अपनी सार्थकता समझता है।

५. रूपक में उपमान तथा उपमेय—दोनों वर्णित होते हैं, पर समासोक्ति में उपमेय वर्णित होता है और उपमान को आक्षिप्त करना पड़ता है।

समासोक्ति और श्लेष

१. समासोक्ति में एक वाच्यार्थ होता है और दूसरा व्यंग्यार्थ; पर श्लेष में दोनों अर्थ वाच्य ही होते हैं।

२. समासोक्ति में वाच्यार्थ प्रधान और व्यंग्यार्थ गौण होता है, पर श्लेष में दोनों वाच्यार्थ प्रधान ही होते हैं। श्लेष में एक अर्थ प्रमुख और दूसरा गौण जैसी स्थिति कभी नहीं होती।

३. समासोक्ति में एक अर्थ प्रस्तुत और दूसरा अप्रस्तुत होता है; पर श्लेष में दोनों अर्थ प्रस्तुत अथवा अप्रस्तुत होते हैं।

४. समासोक्ति में केवल विशेषण शब्द श्लिष्ट होता है, जब कि श्लेष में विशेषण-विशेष्य दोनों श्लिष्ट होते हैं।

५. श्लेष के श्लिष्ट शब्द में दोनों अर्थ प्रायः शब्दतः कथित होते हैं, जब कि समासोक्ति में केवल प्रस्तुत का कथन होता है, अप्रस्तुत का कथन नहीं होता।

६. समासोक्ति में प्रस्तुत और अप्रस्तुत के व्यवहार का साम्य होता है, पर श्लेष में ऐसे साम्य का प्रश्न ही नहीं उठता।

७. श्लेष का चमत्कार पूर्णतः अभिधाशक्ति पर आश्रित है, जब कि समासोक्ति का चमत्कार गुणीभूत व्यंग्य से अलंकृत होता है।

उत्प्रेक्षा और सन्देह

१. उत्प्रेक्षा में संशय केवल उपमान के प्रति होता है; पर सन्देह में संशय उपमान तथा उपमेय—दोनों के प्रति होता है।

२. उत्प्रेक्षा में ज्ञान एककोटिक है, पर सन्देह में ज्ञान द्विकोटिक होता है।

३. उत्प्रेक्षा में उपमान और उपमेय का सादृश्य वाच्य होता है, पर सन्देह में यह सादृश्य व्यंग्य होता है।

४. उत्प्रेक्षा में उपमेय और उपमान—दोनों के भेद का तथा दोनों के वास्तविक रूपों का ज्ञान रहता है; पर सन्देह में दोनों के प्रति संशय रहता है। इसीलिए उत्प्रेक्षा में व्यक्त सादृश्य की संभावना संशयात्मक होती है और उपमान के प्रति ही संशय होता है; पर सन्देह में दोनों के प्रति संशय होने के कारण चित्त की दशा विकलपपूर्ण होती है।

५. सन्देह में ज्ञान की दोनों कोटियाँ समकक्ष प्रतीत होती हैं, पर उत्प्रेक्षा में एक कोटि प्रबल होती है।

अप्रस्तुत प्रशंसा और पर्यायोक्ति

१. अप्रस्तुत प्रशंसा में अप्रस्तुत से प्रस्तुत की प्रतीति के लिए अवगमन व्यापार का सहारा लेना पड़ता है; पर पर्यायोक्ति में प्रस्तुत से ही प्रस्तुत की प्रतीति के लिए गुणीभूत व्यंग्य का सहारा लेना पड़ता है।

२. अप्रस्तुत प्रशंसा में अप्रस्तुत वाच्य होता है और प्रस्तुत व्यंग्य; पर पर्यायोक्ति में वाच्य तथा व्यंग्य दोनों प्रस्तुत होते हैं।

३. अप्रस्तुत प्रशंसा में वाच्य तथा व्यंग्य एक-दूसरे का कारण-कार्य या कार्य-कारण होते हैं, जब कि पर्यायोक्ति में सदैव वाच्य कारण और व्यंग्य उसका कार्य होता है।

४. अप्रस्तुत प्रशंसा में व्यंग्य प्रधान है और वाच्य गौण; पर पर्यायोक्ति में वाच्य ही प्रधान होता है और व्यंग्य गौण।

दूसरे शब्दों में अप्रस्तुत प्रशंसा का व्यंग्य वाच्य को अपने अधीन किये रहता है, जब कि पर्यायोक्ति में वाच्य ही व्यंग्य को अपने अधीन रखता है।

५. पर्यायोक्ति में वाच्य-वाचक भाव व्यंजना का भंग्यन्तर मात्र है; पर अप्रस्तुत प्रशंसा में वाच्य व्यंग्य से निश्चित रूप से भिन्न होता है, वह भंग्यन्तर नहीं होता।

६. कार्यनिबंधना अप्रस्तुत प्रशंसा में कार्य से कारण की और कारण से कार्य

की प्रतीति करायी जाती है, पर पर्यायोक्ति में कार्य का कथन भंग्यन्तरपूर्वक होता है, जिससे कारण का संकेत दिया जाता है।

प्रतीप और व्यतिरेक

१. दोनों में उपमान की तुलना में उपमेय का महत्त्व स्थापित किया जाता है।

२. प्रतीप में उपमान और उपमेय की तुलना पर कवि की दृष्टि केन्द्रित होती है; पर व्यतिरेक में उपमेय की विशेषता दिखलाने पर कवि का जोर होता है।

३. प्रतीप में उपमेय को उपमान के रूप में कल्पित कर उपमेय का उत्कर्ष वतलाया जाता है; व्यतिरेक में उपमान की अपेक्षा उपमेय में किसी विशेष गुण का आधिक्य वतलाया जाता है।

४. प्रतीप में उपमान का अपकर्ष वाच्य होता है, पर व्यतिरेक में उपमान का अपकर्ष कभी भी वाच्य नहीं होता।

५. प्रतीप में उपमेय की सार्थकता सूचित करने के लिए उपमान की व्यर्थता वतलायी जाती है; पर व्यतिरेक में उपमेय के यथावत् स्वरूप के वर्णन से उपमान का अपकर्ष तथा उपमेय का उत्कर्ष ध्वनित होता है।

अप्रस्तुत प्रशंसा और समासोक्ति

१. अप्रस्तुत प्रशंसा में अप्रस्तुत का कथन होता है और उससे प्रस्तुत की प्रतीति करायी जाती है; पर समासोक्ति में प्रस्तुत के कथन से अप्रस्तुत की प्रतीति करायी जाती है।

इस दृष्टि से ये दोनों एक-दूसरे के विपरीत हैं।

२. अप्रस्तुत प्रशंसा में अप्रस्तुत अर्थ वाच्य होता है, पर प्रस्तुत अर्थ व्यंग्य; समासोक्ति में प्रस्तुत अर्थ वाच्य होता है और अप्रस्तुत व्यंग्य।

३. अप्रस्तुत प्रशंसा में आरोप सम्बन्ध पर आश्रित होता है, पर समासोक्ति में यह आरोप व्यवहार की समानता पर आश्रित होता है।

४. सारूप्यनिवन्धना अप्रस्तुत प्रशंसा में रूप की समानता होती है, पर समासोक्ति में रूप की समानता कभी नहीं होती, सदैव व्यवहार की समानता होती है।

५. अप्रस्तुत प्रशंसा में कवि का मूल अभिप्राय व्यंग्यार्थ पर निर्भर करता है, पर समासोक्ति में प्रधान अभिप्राय वाच्य ही रहता है; व्यंग्यार्थ गौण रहता है।

परिकर और परिकरांकुर

१. दोनों अलंकारों में उक्ति-वैचित्र्य होता है। दोनों का चमत्कार श्लेष और गुणीभूतव्यंग्य से परिपुष्ट होता है।

२. पर दोनों में अन्तर यह है कि परिकर में जहाँ साभिप्राय विशेषण का प्रयोग होता है, वहाँ परिकरांकुर में साभिप्राय विशेष्य का प्रयोग होता है।

३. परिकर में एक या एक से अधिक साभिप्राय विशेषण हो सकते हैं; परिकरांकुर में प्राय: एक ही साभिप्राय विशेष्य का कथन होता है।

४. परिकर में वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ दोनों होते हैं; परिकरांकुर में भी वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ होते हैं। लेकिन अन्तर यह है कि परिकर वाच्यार्थ की ऐसी अवस्था है, जिसमें वह व्यंग्यार्थ को आकृष्ट करता हुआ प्रतीत होता है; दूसरी ओर परिकरांकुर वाच्यार्थ की उससे भिन्न अवस्था है, जिसमें व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ का अभिन्न अंग होता है।

दूसरे शब्दों में यों कहें कि परिकर में व्यंग्य सदैव वाच्य का उत्कर्षक बनकर आता है; पर परिकरांकुर में व्यंग्य सदैव वाच्य के चमत्कार की सिद्धि का अंग बनकर आता है।

५. परिकर और परिकरांकुर—दोनों में वाच्यार्थ प्रधान और व्यंग्यार्थ गौण रहता है; दोनों में वाच्य की अलंकृति के साधन के रूप में व्यंग्य का विधान किया जाता है।

काव्यलिंग और अर्थान्तरन्यास

१. दोनों के मूल में कारक-हेतु विद्यमान है।

आचार्यों ने कारक-हेतु के दो भेद किये हैं—निष्पादक हेतु और समर्थक हेतु; निष्पादक हेतु के द्वारा सिद्ध किया जाता है और समर्थक हेतु के द्वारा समर्थन किया जाता है।

२. काव्यलिंग में मूलत: दो वाक्य नहीं होते; एक ही वाक्य के दो अंश होते हैं। पर अर्थान्तरन्यास में दो वाक्य होते हैं—

काव्यलिंग के दोनों वाक्यांश सापेक्ष और परस्पर सम्बद्ध होते हैं; जबकि अर्थान्तरन्यास के दोनों वाक्य स्वाधीन और निरपेक्ष होते हैं।

३. काव्यलिंग के मूल में आलंकारिक दृष्टि से कार्य-कारण भाव सम्बन्ध होता है; पर अर्थान्तरन्यास के मूल में सामान्य-विशेष भाव सम्बन्ध होता है। दूसरे शब्दों में, काव्यलिंग में कार्य और कारण रहते हैं, परन्तु अर्थान्तरन्यास में सामान्य वाक्य और विशेष वाक्य।

४. काव्यलिंग में सिद्ध किया जाता है और अर्थान्तरन्यास में समर्थन किय जाता है।

५. काव्यलिंग में पूर्वार्द्ध वाक्य उत्तरार्द्ध के विना अर्थहीन प्रतीत होता है जब कि अर्थान्तरन्यास के साथ ऐसी वात है ही नहीं।

६. सवसे महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि काव्यलिंग का चमत्कार निष्पादक हे के कारण है और अर्थान्तरन्यास का चमत्कार समर्थक हेतु के कारण।

दृष्टान्त और अर्थान्तरन्यास

१. दोनों में उपमेय-उपमान भाव व्यंग्य होता है। इसीलिए इन्हें गम औपम्याश्रित वर्ग के अन्तर्गत रखा गया है। दूसरी समानता यह है कि दोनों में अने वाक्य अनिवार्य हैं। तीसरी समानता यह है कि दोनों के वाक्य एक-दूसरे निरपेक्ष और स्वाधीन होते हैं।

२. पर अन्तर यह है कि दृष्टान्त में जहाँ विम्व-प्रतिविम्व भाव होता है वहाँ अर्थान्तरन्यास में समर्थ्य-समर्थक भाव।

३. दृष्टान्त के दोनों वाक्य या तो विशेष ही होते हैं या सामान्य ही; प अर्थान्तरन्यास में एक वाक्य विशेष, दूसरा सामान्य। अर्थान्तरन्यास की यह सीमा कि इसमें दोनों वाक्य न तो विशेष होते हैं और न सामान्य।

४. दृष्टान्त में उपमेय वाक्यार्थ का दृष्टान्त उपमान वाक्यार्थ में रखा जात है, पर अर्थान्तरन्यास में सामान्य वाक्यार्थ का निश्चय विशेष वाक्यार्थ में या विशे वाक्यार्थ का निश्चय सामान्य वाक्य में।

५. दृष्टान्त के वाक्यों में साधर्म्य सम्वन्ध होता है, जब कि अर्थान्तरन्यास वे वाक्यों में सामान्य-विशेष सम्वन्ध।

६. दृष्टान्त में केवल साधर्म्य की व्यंजना अपेक्षित है, जब कि अर्थान्तरन्यास में साधर्म्य या वैधर्म्य की।

७. दृष्टान्त के वाक्यों में प्रतिविम्वन होता है, परन्तु अर्थान्तरन्यास के वाक्य में समर्थन।

८. दृष्टान्त में उपमेय, उपमान और साधारण धर्म का सम्वद्ध होना संभाव नात्मक है, जब कि अर्थान्तरन्यास में निश्चयात्मक।

दृष्टान्त और निदर्शना

१. दृष्टान्त में दो स्वतंत्र और परस्पर निरपेक्ष वाक्य होते हैं। निदर्शना एक ही वाक्य के दो अंश होते हैं—प्रधान और अवान्तर; फलतः निदर्शना अवान्तर वाक्य प्रधान वाक्य का परतंत्र और सापेक्ष होता है।

२. दृष्टान्त के उपमेय-वाक्य और उपमान-वाक्य में सादृश्य की प्रतीति स्पष्ट होती है, जब कि निदर्शना में सादृश्य का आक्षेप करना पड़ता है।

३. इन दोनों में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव आवश्यक है, क्योंकि इसी से इन दोनों के कवित्व और चमत्कार की रमणीयता प्रस्फुटित होती है।

इस दृष्टि से दृष्टान्त में जहाँ अर्थप्रतीति के बाद बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव की कल्पना अपने-आप होती है, वहाँ निदर्शना में पहले बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव की कल्पना कर लेनी पड़ती है, तब अर्थप्रतीति होती है।

बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव के ग्रहण की दृष्टि से ये दोनों एक-दूसरे के प्रतिलोम हैं।

४. दृष्टान्त में उपमेय-वाक्य और उपमान-वाक्य का सादृश्य-सम्बन्ध पहले से ही युक्तिसंगत होता है, परन्तु निदर्शना में बिना बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव की कल्पना किये उपमेय-वाक्य और उपमान-वाक्य का सम्बन्ध युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता।

५. दृष्टान्त में साधारण धर्मों का भी बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव होता है, पर निदर्शना में केवल उपमेय-उपमान का।

प्रतिवस्तूपमा तथा दृष्टान्त

ये दोनों अलंकार गम्यौपम्याश्रित वर्ग के अन्तर्गत हैं। मतलब यह कि दोनों के मूल में उपमान-उपमेय भाव वाच्य नहीं, व्यंग्य होता है।

१. दोनों का पहला अन्तर तो यह है कि प्रतिवस्तूपमा में **वस्तु-प्रतिवस्तु भाव** होता है और दृष्टान्त में **बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव** होता है।

२. प्रतिवस्तूपमा में समान धर्म एक ही रहता है, पर उपमान-उपमेय के लिए दो भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा कहा जाता है। इसके विपरीत दृष्टान्त में उपमान-उपमेय के दो समान धर्म होते हैं और दो शब्दों द्वारा कहे जाते हैं।

३. इन दोनों की सबसे बड़ी समता यह है कि प्रतिवस्तूपमा में भी दो वाक्य होते हैं और दृष्टान्त में भी; प्रतिवस्तूपमा के दोनों वाक्य एक-दूसरे से स्वतंत्र और निरपेक्ष होते हैं, फिर भी उनमें उपमेय-उपमान भाव होता है; दृष्टान्त के भी दोनों वाक्य एक-दूसरे से निरपेक्ष होते हैं, फिर भी उनमें उपमेय-उपमान भाव होता है।

पर दोनों का अन्तर इस वजह से है— प्रतिवस्तूपमा में उपमेय और उपमान—इन दोनों का ही प्रतिबिम्बन होता है; पर दृष्टान्त में उपमेय, उपमान, विशेषण और साधारण धर्म— इन सबका प्रतिबिम्बन होता है।

दूसरे शब्दों में यों कहें कि **प्रतिवस्तूपमा में केवल उपमेय-उपमान-रूप धर्मियों का ही सम्बन्ध होना प्रकट किया जाता है, जबकि दृष्टान्त में उपमेय-उपमान रूप धर्मियों का विशेषण और धर्मसहित सम्बन्ध होना प्रतिबिम्बित किया जाता है।**

चूँकि प्रतिवस्तूपमा में उपमान और उपमेय— ये दो ही परस्पर सम्बद्ध दिखाये जाते हैं, इसलिए इसमें वस्तु-प्रतिवस्तु भाव माना जाता है। पर दृष्टान्त में उपमेय, उपमान, विशेषण और साधारण धर्म— इन सबका परस्पर सम्बद्ध होना दिखलाया जाता है, इसलिए इसमें बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव माना जाता है।

विषम और विरोधाभास

१. विरोधाभास और विषम दोनों अलंकार विरोधमूल हैं, फिर भी दोनों में अन्तर है।

विषम में जो विरोध होता है; वह सत्य होता है, पर विरोधाभास में विरोध का आभास मात्र होता है।

२. विषम का चमत्कार विरोध को आकारिक रूप में प्रस्तुत करने के कौशल पर आश्रित होता है, पर विरोधाभास का चमत्कार विरोध को वास्तविक रूप देने पर निर्भर करता है।

३. विषम सदैव अयोग्य सम्बन्ध वाली वस्तुओं के सम्बन्ध-वर्णन में होता है, लेकिन विरोधाभास करीब-करीब परस्पर विरोधी वस्तुओं के सम्बन्ध-वर्णन में।

४. विरोधाभास के मूल में स्थित विरोध क्षणिक होता है, अस्थायी होता है क्योंकि अर्थप्रतीति के बाद विरोध का ज्ञान विनष्ट हो जाता है; पर विषम के मूल में स्थित विरोध स्थायी होता है।

५. तर्कशास्त्र की शब्दावली में विषम की प्रकृति निगमनात्मक है, जबकि विरोधाभास की प्रकृति आगमनात्मक।

विरोधाभास और असंगति

१. विरोधाभास और असंगति दोनों विरोधमूल अर्थालंकार हैं। पर विरोधाभास में जहाँ विरोध के आभास का चमत्कार होता है, वहाँ असंगति में विरोध की प्रतीति का चमत्कार होता है।

विरोधाभास में अर्थप्रतीति के बाद विरोध का भाव नष्ट हो जाता है और संगति मालूम पड़ने लगती है; पर असंगति में पूर्णतया संगति का अभाव रहता है।

२. विरोधाभास में जिन वस्तुओं को भिन्न-भिन्न स्थानों पर रहना चाहिए उनका एक स्थान पर रहना वर्णित किया जाता है; पर असंगति में इसके विपरीत, जिन वस्तुओं को एक स्थान पर रहना चाहिए, उनका अन्यत्र रहना वर्णित किया जाता है।

३. विरोधाभास श्लिष्ट शब्दों के द्वारा छलपूर्वक विस्मय की सृष्टि करता है; पर यह विस्मय क्षणिक है; दूसरी तरफ असंगति में भाव-प्रसंग की सृष्टि कर विस्मय जगाया जाता है और यह विस्मय स्थायी होता है।

४. भावोत्कर्ष की दृष्टि से विरोधाभास अलंकार का चमत्कार शब्दकौतुक मात्र है, जब कि असंगति का चमत्कार रमणीयता का प्रतिपादक है।

दीपक और तुल्ययोगिता

१. दोनों सादृश्यगर्भ के गम्यौपम्याश्रय वर्ग के अर्थालंकार हैं। दोनों में एक ही बार साधारण धर्म का कथन किया जाता है।

२. दीपक में प्रस्तुत और अप्रस्तुत—दोनों का रहना आवश्यक है; पर तुल्ययोगिता में प्रस्तुत-अप्रस्तुत भाव न होकर चाहे तो प्रस्तुत-प्रस्तुत का सम्बन्ध होता है या अप्रस्तुत-अप्रस्तुत का।

३. दीपक में प्रकृत-अप्रकृत अर्थों का एक धर्म से सम्बन्ध दिखाया जाता है; तुल्ययोगिता में दो प्रस्तुत अर्थ या दो अप्रस्तुत अर्थों का एक ही धर्म से सम्बन्ध होता है।

४. दीपक में दो अर्थों के मध्य उपमेयोपमान भाव अनिवार्य होता है; तुल्ययोगिता में दो अर्थों के मध्य साम्य भाव माना जाता है।

समुच्चय और समाधि

१. दोनों में कार्य-सिद्धि का वर्णन होता है। दोनों तर्कन्यायमूल अर्थालंकार हैं। दोनों में कार्य-सिद्धि एकाधिक कारणों के योग से होती है।

२. समुच्चय में कारणों का समूह होता है और कार्य-सिद्धि की अवश्यंभाविता पर बल होता है; समाधि में आकस्मिक कारण का योग होता है, फलत: कारणों के समूह का कोई प्रश्न ही नहीं होता।

३. समुच्चय में खलकपोतन्याय से एक पर एक समर्थ कारणों का समूह उपस्थित किया जाता है; समाधि में काकतालीय न्याय से प्रधान कर्त्ता के कार्य को सरल बनाने के लिए आकस्मिक कारण का योग होता है।

४. समुच्चय में सभी कारण प्रतिद्वन्द्विता करते हुए कार्य-सिद्धि करते हैं; पर समाधि में प्रतिद्वन्द्विता की स्थिति ही नहीं होती।

५. समुच्चय में सभी कारण प्रबल या प्रधान ही होते हैं; समाधि में एक प्रधान तथा अन्य आकस्मिक कारण अप्रधान होते हैं।

६. समुच्चय में कार्य-सिद्धि के सम्बन्ध में शंका नहीं होती; समाधि में हमेशा शंका रहती है।

७. समुच्चय में सिद्धि से आश्चर्य नहीं होता; समाधि में सिद्धि से आश्चर्य होता है।

८. समुच्चय में कारणों का आधिक्य दिखलाना ही कवि का उद्देश्य होता है; समाधि में कार्य-सिद्धि का आकस्मिक हेतु दिखलाना कवि का उद्देश्य होता है।

९. समुच्चय में कार्य-सिद्धि हुई या नहीं, इसकी चिन्ता कवि को नहीं होती; समाधि में कार्य-सिद्धि की ही चिन्ता होती है।

१०. समुच्चय में हेतुओं के यौगपत्य का चमत्कार है; समाधि में कार्य-सिद्धि की आकस्मिकता का चमत्कार है।

विभावना और विशेषोक्ति

१. दोनों विरोधमूलक अलंकार हैं। दोनों की कथन-भंगिमा में ऐसा चमत्कार होता है कि प्रत्यक्षत: विरोध परिलक्षित होता है। दोनों में वाच्य-वैचित्र्य ही प्रमुख होता है। दोनों में कारण-कार्य-व्यापार का ही चमत्कार होता है।

२. विभावना में जहाँ कारण के अभाव में कार्योत्पत्ति दिखायी जाती है, वहाँ विशेषोक्ति में सम्पूर्ण कारणों के होने पर भी कार्योत्पत्ति का अभाव दिखाया जाता है। इस तरह दोनों अलंकार एक-दूसरे के विपरीत हैं।

३. विभावना में आरोप के विषय का कथन नहीं होता, केवल आरोप्यमाण का कथन होता है। इसके विपरीत विशेषोक्ति में आरोप के विषय का ही कथन होता है, आरोप्यमाण का कथन नहीं होता।

४. विभावना की प्रकृति विधेयात्मक है, किन्तु विशेषोक्ति की प्रकृति निषेधात्मक है।

५. विभावना में वाच्य-वैचित्र्य महत्त्वपूर्ण है। इसी वाच्य-वैचित्र्य से कार्योत्पत्ति के भिन्न कारण को व्यंग्य या प्रच्छन्न रखा जाता है; विशेषोक्ति में कार्योत्पत्ति के प्रतिबंधक कारण को वाच्य-वैचित्र्य के माध्यम से व्यंग्य कर दिया जाता है।

सन्देह और भ्रान्तिमान्

१. सन्देह के मूल में संशय है, पर भ्रांतिमान् के मूल में भ्रांति।

२. सन्देह में सादृश्य के कारण प्रकृत पर अप्रकृत का संशय होता है। फलतः वास्तविक और अवास्तविक में निश्चय नहीं हो पाता।

पर भ्रान्तिमान् में अवास्तविक को ही वास्तविक मान लिया जाता है।

३. सन्देह में ज्ञान द्विकोटिक होता है, पर भ्रान्तिमान् में ज्ञान एककोटिक होता है। दूसरे शब्दों में, सन्देह का चमत्कार कवि-कल्पित विकल्प के कारण है, जब कि भ्रान्तिमान् का चमत्कार मिथ्या को ही सत्य मान लेने के कवि-कल्पित निर्विकल्पक ज्ञान के कारण।

४. सन्देह और भ्रान्तिमान् दोनों के मूल में स्मरण काम करता रहता है। प्रत्यक्ष वस्तु को देखकर, सादृश्य के कारण पूर्वानुभूत वस्तु का स्मरण जब द्विविध दशा में रहता है तो सन्देह और जब यह स्मरण घनतर और तीव्र होकर निश्चयात्मक हो जाता है तो भ्रान्तिमान् अलंकार की सृष्टि होती है।

५. सन्देह में प्रस्तुत में अनेक अप्रस्तुतों का संशय होता है, पर भ्रान्तिमान् में एक प्रस्तुत पर एक ही अप्रस्तुत की भ्रान्ति होती है।

संकर और संसृष्टि

१. दोनों में एकाधिक अलंकारों की एकत्र स्थिति होती है। दोनों मिश्रालंकार हैं। पर अलंकारों के मिश्रण की प्रकृति दोनों में एक समान नहीं होती।

२. संकर में एकाधिक अलंकार परस्पर सापेक्ष होते हैं; संसृष्टि में एकाधिक अलंकार परस्पर निरपेक्ष होते हैं।

३. जिन अलंकारों का संकर होता है, उनमें दूध-पानी-सा घनिष्ठ सम्बन्ध होता है; पर जिन अलंकारों की संसृष्टि होती है, उनमें तिल-चावल-सा परस्पर भेदक सम्बन्ध होता है।

४. संकर में एक अलंकार को दूसरे से पृथक् करना असम्भव है; संसृष्टि में पृथक् करना सहज है।

सहायक ग्रन्थ

हिन्दी

१. काव्यालंकार—भामह; भाष्यकार—प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा
२. काव्यादर्श—दण्डी; व्याख्याकार—आचार्य श्री रामचन्द्र मिश्र
३. काव्यप्रकाश—मम्मट; व्याख्याकार—आचार्य विश्वेश्वर; सम्पादक—डॉ० नगेन्द्र
४. साहित्यदर्पण—विश्वनाथ; व्याख्याकार—डॉ० सत्यव्रत सिंह
५. काव्य-निर्णय—भिखारी दास; सम्पादक—पं० जवाहर लाल चतुर्वेदी
६. अलंकार-मंजूषा—लाला भगवानदीन
७. काव्य-दर्पण—पंडित रामदहिन मिश्र
८. रस-मीमांसा—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
९. हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
१०. काव्य-प्रदीप—पंडित रामबहोरी शुक्ल
११. अलंकार-मुक्तावली—प्रोफेसर देवेन्द्रनाथ शर्मा
१२. अलंकार-प्रवेशिका—पंडित रघुनन्दन शास्त्री
१३. काव्य-श्री—डॉ० सुधीन्द्र
१४. काव्य कल्पद्रुम—सेठ कन्हैयालाल पोद्दार
१५. हिन्दी साहित्य कोश—सम्पादक—डॉ० धीरेन्द्र वर्मा
१६. हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास : सम्पादक डॉ० नगेन्द्र (रीतिकाल)
१७. कुरुक्षेत्र-मीमांसा—कान्ति मोहन शर्मा

बँगला

१८. अलंकार-चन्द्रिका—श्यामापद चक्रवर्त्ती
१९. काव्य-श्री—डॉ० सुधीर कुमार दास गुप्त
२०. साहित्य-विचार—मोहित लाल मजूमदार
२१. काव्यालोक—डॉ० सुधीर कुमार दास गुप्त
२२. छन्द ओ अलंकार—अतीन्द्र मजूमदार

अँगरेजी

२३. Some Concepts of Alankarshastra—Dr. Raghvan
२४. Poetry and Experience—Archibald Macklish
२५. Speculations—T. E. Hulme

हिन्दी पत्रिकाएँ

२६. साहित्य (त्रैमासिक)—संपादक : शिवपूजन सहाय तथा नलिन विलोचन शर्मा
२७. नयापथ (मासिक)—संपादक : शिव वर्मा
२८. कल्पना (मासिक)—संपादक : डॉ० आर्येन्द्र शर्मा